मदनमोहन वि

सस्नेह, साशीष

प्रिय डा. पुराणी को

ह० मोठ विद्य:

विजयदशमी १९८०

18/4



❁ ओ३म् ❁

श्रीमद्दयानन्द सरस्वती स्वामि प्रवाहित वेदामृताप्यायमाना

सत्यार्थ-सरस्वती

'धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष' रूप पुरुषार्थ चतुष्टय का व्याख्यानग्रन्थ।
शिक्षा-विद्या, वर्णाश्रमधर्म, राजनीति, ईश्वर-जीव-प्रकृति, वेद, सृष्टि-प्रलय, पुनर्जन्म, आचार-अनाचार का बोधक ग्रन्थ।
नानामतमतान्तर का विवेचक ग्रन्थ।

संकलयिता

मदनमोहन विद्यासागर



गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली-६

प्रकाशक :
श्री विजयकुमार
गोविन्दराम हासानन्द
आर्य साहित्य भवन,
४४०८, नई सड़क, दिल्ली-११०००६

प्रथम संस्करण
श्रावण पूर्णिमा, २०३५ विक्रम सम्वत्; १८ अगस्त, १९७८ ई०
राष्ट्रीय शकाब्द १९००
दयानन्दाब्द १५३
सृष्टि सम्वत् १,९६,०८,५३,०७८, प्रजापतिनाम सम्वत्सर

मूल्य २५.००

मुद्रक :
सैनी प्रिण्टर्स,
७११७, पहाड़ी धीरज, दिल्ली-६



प्रकाशकीय

मेरे पूज्य पिता स्वर्गीय श्री गोविन्दराम हासानन्द की यह उत्कट अभिलाषा थी कि युगपुरुष ऋषि दयानन्द के अमर ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश को नाना प्रकार से शुद्ध और सस्ते मूल्य में प्रकाशित किया जावे। इसके लिये नानाकष्ट उठाकर महान् परिश्रम किया। सबसे प्रथम मथुरा शताब्दि पर आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व, उन्होंने वैदिक यन्त्रालय अजमेर वालों को इसकी प्रेरणा की; क्योंकि उनके पास इसके प्रकाशन का एकाधिकार था। उनकी उपेक्षा से दुःखी हो, धनाभाव होते हुए भी, उन्होंने अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द महाराज की प्रेरणा व परामर्श से मथुरा शताब्दि पर सन् १९२५ में ६००० प्रतियाँ लागत मूल्य एक रुपये पर बेचीं। यह संस्करण तीन मास में ही समाप्त हो गया। उसके बाद सत्यार्थ प्रकाश के सस्ते संस्करण हज़ारों की संख्या में, मोटे अक्षरों में तथा गुटका साइज़ में भी छपने लगे।

साथ ही उन्होंने ऋषि दयानन्द कृत अन्य ग्रन्थ एवं ऋषि दयानन्द चरित्र एवं चित्रावली भी यथा सम्भव अल्प मूल्य में उपलब्ध कराने का श्रेय प्राप्त किया।

उनकी इच्छा थी कि युगपुरुष ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों का बोधक साहित्य भी प्रकाशित किया जावे। इसके लिये उन्होंने सन् १९५२ श्रावणी पर्व से वेद प्रकाश मासिक पत्र भी प्रारम्भ किया।

उसी परम्परा में प्रस्तुत ग्रन्थ **सत्यार्थ-सरस्वती** है। इसके संकलयिता आर्य जगत् के प्रसिद्ध विद्वान् श्री पं० मदनमोहन विद्यासागर वेदालंकार हैं। आप ऋषि दयानन्द के अनन्य भक्त और उनके ग्रन्थों के प्रामाणिक अध्येता एवं प्रवक्ता हैं। आप प्रभावशाली व्याख्याता होने के साथ-साथ उच्चकोटि के लेखक भी हैं। **आपने इस पुस्तक में, ऋषि के अमर ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश का आधार लेकर, समस्त आर्य सिद्धान्तों का संकलन कर दिया है।** इससे ऋषि दयानन्द के सिद्धान्त 'अल्प श्रम से अधिकाधिक रूप में' समझ आवेंगे।

श्री पं० विद्यासागर जी का आभार तो मैं मानता ही हूँ, सारा आर्य जगत् इसके लिये उनका ऋणी रहेगा।

—विजय कुमार



समर्पित है

यह मेरी रचना

सत्यार्थ-सरस्वती

पितामह फतहचन्द पितामही शरदी

मातामह कर्त्तारराम एवं मातामही बसन्ती

के रूप में समस्त पितरों के

सच्चे श्राद्ध-तर्पण के लिए

सदाविजय-मधुश्रीरानी

के रूप में समस्त युवावर्ग के

धर्म सुधापान के लिए

मनीषारानी-सुपोषपाणि-आशीषप्रिय

के रूप में समस्त बालवृन्द के

जीवन पावन करने के लिए

और

जीवनसंगिनी श्रुतिमाला

के निमित्त से समस्त नारीमण्डल के

भवसागर तारने के लिए





◈ ओ३म् ◈

सच्चिदानन्दायेश्वराय नमो नमः

प्रवेशिका

यह ग्रन्थ चौदह प्रवाहों=विभागों में रचा गया है; जो पूर्वाञ्चल=पूर्वार्द्ध और उत्तराञ्चल=उत्तरार्द्ध दो खण्डों में विभक्त हैं। इसमें दश प्रवाह पूर्वाञ्चल और चार उत्तराञ्चल में हैं। पूर्वाञ्चल में सनातनधर्म का स्थापन करते हुए **वेदमत का मण्डन** और उत्तराञ्चल में साम्प्रदायिक मतमतान्तरों का विवेचन करते हुए **अवैदिक मतों का खण्डन** किया है। संक्षेप में सब प्रवाहों में आये विषयों का नीचे उल्लेख करते हैं—

१. प्रथम प्रवाह में ईश्वर का निज नाम क्या है, उसके ओङ्कारादि नामों की व्याख्या, मंगलाचरण विधि और नामस्मरण का विषय लिखा है।

२. द्वितीय में सन्तानों की शिक्षा अर्थात् सद्व्यवहार और शुद्ध वर्णोच्चारण का प्रशिक्षण।

३. तृतीय में ब्रह्मचर्य, पठनपाठन-व्यवस्था, सत्यासत्य ग्रन्थों के नाम और पढ़ने-पढ़ाने की रीति।

४. चतुर्थ में विवाह और गृहाश्रम का सम्पूर्ण व्यवहार।

५. पञ्चम में वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम की विधि।

६. छठे में राजधर्म, अर्थात् राजा अर्थात् शासक के कर्त्तव्य तथा प्रजाका विषय, प्रशासन; कर, युद्ध, विदेशनीति आदि के विषय।

७. सप्तम में वेद और ईश्वर का विषय।

८. अष्टम में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का विषय।

९. नवम में विद्या, अविद्या, बन्ध और मोक्ष की व्याख्या।

१०. दसवें में आचार-अनाचार और भक्ष्याभक्ष्य विषय; गोरक्षण, मद्यमाँसनिषेध विषय।

११. एकादश में आर्यावर्त्तीय प्राचीन शैव-वैष्णवादि और नवीन नारायणमत व ब्राह्मसमाज, हंसामत, साईमत आदि मतमतान्तरों का खण्डन-मण्डन विषय ।*

१२. द्वादश में चारवाक, बौद्ध और जैनमत का खण्डन-मण्डन विषय ।

१३. त्रयोदश में यहूदी-ईसाईमत का खण्डन-मण्डन विषय ।

१४. चौदहवें में मुसलमानों के मत का खण्डन-मण्डन विषय ।*

अन्त में आर्यों के सनातन वेदविहित मत का विशेषतः **'आर्योद्देश्य-मणिमाला'** नाम से संग्रहरूप प्रतिपादन किया है, जिसको सामान्यतः सब आस्तिक जन यथावत् मानते हैं ।

जो मनुष्य पक्षपाती होता है, वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है। इसलिए वह कभी सत्य मत का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए विद्वान् आप्तों अर्थात् धर्मात्मा सत्यवादी परोपकारी सज्जनों का यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित (=प्रगट) कर दें; ताकि सब मनुष्य स्वयं अपना हिताहित समझकर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द में रहें।

मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जाननेवाला है; तथापि अपने प्रयोजन (=स्वार्थ) की सिद्धि, हठ, दुराचार और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है। परन्तु इस ग्रन्थ में ऐसी बात नहीं रक्खी है, और न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि करना इस ग्रन्थ का तात्पर्य है। किन्तु जिससे मनुष्य-जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्यासत्य को सब मनुष्य लोग जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें, इसलिए यह ग्रन्थ बनाया है । क्योंकि सत्योपदेश के विना अन्य कोई भी विषय मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नहीं होता है ।

इस ग्रन्थ में जो कहीं लिखने में भूल-चूक हो, अथवा शोधने तथा छापने में भूल-चूक रह जाय, उसको जानने-जनाने पर जैसा वह सत्य होगा,

---

*सत्यार्थ-सरस्वती के इस प्रथम सं० में उत्तराञ्चल के चार प्रवाहों का विषय द्रव्याभाव से पूरा नहीं दिया जा सका है। प्रत्येक प्रवाह का प्रारम्भ और अन्त का विषयमात्र, नमूने के तौर पर मुद्रित किया गया है । लेख पूरा तैयार है ।

वैसा ही कर दिया जाएगा; और जो कोई पक्षपात से अन्यथा शङ्का वा खण्डन-मण्डन करेगा, उसपर ध्यान न दिया जाएगा। हाँ, जो वह मनुष्यमात्र का हितैषी होकर कुछ जनावेगा, उसको सत्यासत्य समझने पर उसका मत संगृहीत अवश्य होगा।

आजकल बहुत-से विद्वान् आर्यावर्त्तीय पुरानी जैन व बौद्ध तथा अन्य देशस्थ किरानी कुरानी प्रत्येक मतों में हैं। यदि वे सब पक्षपात छोड़ सर्वतन्त्र सिद्धान्त, अर्थात् जो-जो बातें सबके अनुकूल वा सब मतों में सत्य हैं, उनका ग्रहण और जो एक-दूसरे से विरुद्ध बातें हैं, उनका त्याग कर परस्पर प्रीति विश्वास से वर्त्तें-वर्त्तावें, तो जगत् का पूर्णहित होवे। क्योंकि विद्वानों के परस्पर विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़कर समाज में अनेकविध दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है। इस हानि ने, जो कि स्वार्थी मनुष्यों को प्रिय है, सब मनुष्यों को दुःख सागर में डुबा दिया है।

इनमें से जो कोई सार्वजनिक हित लक्ष्य में धर प्रवृत्त होता है, उससे स्वार्थी लोग विरोध करने में तत्पर होकर अनेक प्रकार विघ्न करते हैं। परन्तु **'सत्यमेव जयते नानृतं, सत्येन पन्था विततो देवयानः** [मुण्डकोप० ३। १। ६]। अर्थात् 'सर्वदा सत्य का विजय और असत्य का पराजय, और सत्य ही से विद्वानों का मार्ग विस्तृत होता है।' इस दृढ़ निश्चय के आलम्बन से शुद्ध अन्तःकरण वाले ऋषि दयानन्द सदृश आप्त लोग परोपकार करने से उदासीन होकर कभी सत्यार्थ-प्रकाश करने से नहीं हटते।

यह बड़ा दृढ़ निश्चय है कि—**"यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपयम्"** यह **गीता** का वचन है [१८। ३७]। इसका अभिप्राय यह है कि जो-जो विद्या और धर्म-प्राप्ति के कर्म हैं, वे प्रथम करने में विष के तुल्य और पश्चात् अमृत के सदृश होते हैं। ऐसी बातों को चित्त में धरके ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ-प्रकाश, संस्कारविधि ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका और व्यवहारभानु आदि नाना ग्रन्थ लिखे हैं। सामान्यतः उन सबके और मुख्यतः सत्यार्थ-प्रकाश के आधार पर हमने इस ग्रन्थ को रचा है। श्रोता वा पाठकगण भी प्रथम प्रेम से देखके इस ग्रन्थ का सत्य-सत्य तात्पर्य जानकर यथेष्ट [अपने आत्मा के अनुकूल स्व प्रिय आचरण] करें।

इसमें यह अभिप्राय रक्खा गया है कि जो-जो सब मतों में सत्य-सत्य बातें हैं, सबमें अविरुद्ध होने से उनका मण्डन अर्थात् स्वीकार और जो-जो

मतमतान्तरों में मिथ्या बातें हैं, उन-उनका खण्डन अर्थात् तिरस्कार किया है। इसमें यह भी अभिप्राय रक्खा है कि सब मतमतान्तरों की गुप्त वा प्रगट बुरी बातों का प्रकाश कर विद्वान्-अविद्वान् सब साधारण मनुष्यों के सामने रक्खा है जिससे सबसे सबका विचार होकर परस्पर प्रेमी होके एक सत्य मतस्थ हो, परस्पर प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्त्तें।

यद्यपि ऋषि दयानन्द आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुए, तथापि जैसे उन्होंने इस देश के मतमतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर यथातथ्य प्रकाश किया है, वैसे ही दूसरे देशस्थजन वा मतों के साथ भी वे वर्त्ते हैं। जैसा स्वदेशवालों के साथ मनुष्योन्नति के विषय में उनका बर्ताव है, वैसा विदेशियों के साथ भी; तथा सब सज्जनों को भी वर्त्तना योग्य है। क्योंकि वे भी यदि किसी एक के पक्षपाती होते, तो जैसे आजकल के विद्वान् स्वमत की स्तुति, मण्डन और प्रचार करते, और दूसरे मत की निन्दा, हानि और निरोध-निराकरण करने में तत्पर रहते हैं, वैसे वे भी होते।

परन्तु ऐसी बातें मनुष्यपन से बाहर हैं। क्योंकि जैसे पशु बलवान् होकर निर्बलों को दुःख देते और मार भी डालते हैं; जब मनुष्य शरीर पाके वैसा ही काम करते हैं, तो वे मनुष्यस्वभावयुक्त नहीं; किन्तु पशुवत् हैं। और जो बलवान् होकर निर्बलों की, बुद्धिमान् होकर अज्ञानियों की और धनवान् होकर दीन-अनाथों की रक्षा करता है, वही मनुष्य कहाता है; और जो स्वार्थवश होकर परहानि मात्र करता रहता है, वह जानो पशुओं का भी बड़ा भाई है।

इन प्रवाहों में जो सत्यमत प्रकाशित किया है, वह वेदोक्त होने से सर्वथा मन्तव्य है; और जो नवीन पुराणतन्त्रादि तथा अन्यमत की ग्रन्थोक्त बातों का युक्तियुक्त विवेचन करके खण्डन किया है, वे त्यक्तव्य हैं।

जो कोई इस ग्रन्थ को ग्रन्थकर्त्ता के तात्पर्य्य से विरुद्धभाव से देखेगा, उसको कुछ भी सत्य अभिप्राय विदित न होगा। क्योंकि वाक्यार्थबोध में चार कारण होते हैं— आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य्य। इन चारों बातों पर ध्यान देकर जो पुरुष किसी भी ग्रन्थ को देखता है, तभी उसको उस ग्रन्थ का अभिप्राय यथायोग्य विदित होता है—

'आकांक्षा'—उसको कहते हैं, जो किसी विषय पर प्रवक्ता की और उसके द्वारा प्रयुक्त वाक्यस्थपदों की आकांक्षा—अभिप्रेयता परस्पर होती है।

अर्थात् पदों का प्रयोग किस भाव से प्रवक्ता ने किया है—उसी अभिप्राय से ग्रन्थ के विषय को ग्रहण करना चाहिये ।

दूसरे, 'वाक्य में जिन पदों का प्रयोग है, उनके साथ किन अप्रयुक्त पदों का सम्बन्ध हो,' उसको भी **आकांक्षा** कहते हैं । 'ग्रहण करो' इस क्रिया-पद के साथ 'तुम' और 'सत्यधर्म को' इन दो पदों के सम्बन्ध की आकांक्षा है और 'सबको असत्य अधर्म का' इस वाक्य में 'त्याग करना चाहिये' इस क्रियापद की आकांक्षा अवश्य है; क्योंकि इनके बिना वाक्य की पूर्त्ति कभी नहीं हो सकती ।

'योग्यता'—उसको कहते हैं कि जो पद जिसके साथ प्रयोग करने योग्य हो, या जिससे जो कार्य सिद्ध हो, उन्हीं का प्रयोग करना चाहिये । जैसे 'जल से सींचता है,' यहाँ वाक्यार्थ की योग्यता है और 'अग्नि से सींचता है' में वाक्यार्थ की योग्यता नहीं है । क्योंकि 'आग से सींचने' का कभी सम्भव नहीं हो सकता ।

'आसत्ति'—(समीपता) उसको कहते हैं कि जिस पद के साथ जिसकी योग्यता अर्थात् जिसका सम्बन्ध हो, व्यवहार में उसको तत्काल उसी के साथ बोलना या उसी के समीप लिखना । जैसे—कोई किसी से प्रातःकाल 'तू' कहकर चुपचाप रहे; पश्चात् सायंकाल में कहे कि 'ग्राम को जा' । यहाँ चार पहर के विलम्ब होने से इसका वाक्यार्थबोध किसी को भी नहीं हो सकता; क्योंकि पदों का अभिसम्बन्ध निकट नहीं है । और जैसे 'देवदत्त तू ग्राम को जा' इत्यादि वाक्य एक स्थान पर एक काल में बोला जाकर अर्थबोधक हो सकता है; क्योंकि यहाँ कर्त्ता 'देवदत्त', कर्म 'ग्राम को' और क्रिया 'जा' का उच्चारण एक समय में आसत्त=समीपस्थ है ।

'तात्पर्य्य'—उसको कहते हैं कि वक्ता लेखक ने जिस अभिप्राय के जनाने के लिए शब्दोच्चारण किया हो वा लेख रचा हो, उसी के अनुकूल उस वचन या लेख को समझना; युक्त करना । जैसे किसी ने किसी से कहा 'मुझको कुछ दीजिये ।' यहाँ 'ग्रहण करने के योग्य पदार्थों का मिलना' उस याचक वक्ता पुरुष का प्रयोजन है । जैसे भूखा है, तो अन्न । परन्तु; पूर्व-वाक्य में कोई ऐसा समझे कि 'यह मुझसे विषादि दुःखदायक पदार्थों को चाहता है', ऐसा समझना उस याचक के तात्पर्य्यार्थ से विरुद्ध है ।

इसलिए सबको वाक्यार्थबोध के कारण अवश्य जानने चाहिये ।*

*यह विषय 'वेदांग प्रकाश' से लिया है । स० प्र० में संक्षेप से लिखा है ।

बहुत-से हठी दुराग्रही मनुष्य होते हैं कि जो वक्ता के वचन व लेख के अभिप्राय से विरुद्ध ही कल्पना किया करते हैं; विशेषकर मत-वाले लोग। क्योंकि मत के आग्रह से उनकी बुद्धि अन्धकार में फंस के नष्ट हो जाती है। इसलिए जैसे ऋषि दयानन्द ने पुराण, जैनियों के ग्रन्थ, बायबिल और कुरान को प्रथम ही बुरी दृष्टि से न देखकर, उनमें से गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग, तथा इसी प्रकार आर्यसमाज की स्थापना कर मनुष्य-जाति की उन्नति के लिए प्रयत्न किया है, वैसा सबको करना योग्य है।

यहाँ इन मतों के थोड़े-थोड़े ही दोष प्रकाशित किये हैं; जिनको देखकर मनुष्य लोग सत्यासत्य मत का निर्णय कर सकें, और सत्य का ग्रहण तथा असत्य का त्याग करने-कराने में समर्थ होवें। क्योंकि मनुष्य-जाति में, भिन्न-भिन्न देश वा मत के मनुष्यों को परस्पर बहकाकर, विरुद्ध बुद्धि कराके, एक-दूसरे को शत्रु बना, लड़ा मारना विद्वानों के स्वभाव से बहिः है।

यद्यपि इस ग्रन्थ को देखकर अविद्वान् स्वार्थी लोग अन्यथा ही विचारेंगे, तथापि परोपकारी धार्मिक बुद्धिमान् लोग यथायोग्य इसका अभिप्राय समझेंगे। इसलिए मैं अपने परिश्रम को सफल समझ अपना अभिप्राय सब सज्जनों के सामने धरता हूँ। इसको देख-दिखलाके युगपुरुष जगद्गुरु स्वामी दयानन्द सरस्वती के, 'आर्यसमाज को स्थापित कर संसार का उपकार करना', इस उद्देश्य को यथावत् समझ, सफल करें। और इसी प्रकार पक्षपात न करके सत्यार्थ का प्रकाश करके मनुष्य-जाति की उन्नति के लिए प्रयत्न करना सब महाशयों का मुख्य कर्त्तव्य कर्म है।

सर्वात्मा सर्वान्तर्यामी सच्चिदानन्द परमात्मा अपनी कृपा से इस आशय को विस्तृत और चिरस्थायी करे!

॥ अलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्विद्वद्वरशिरोमणिषु ॥

॥ इति प्रवेशिका ॥

कृतज्ञता वन्दन

इस ग्रन्थ रचना के मूल प्रेरणास्रोत, मेरे आदरणीय पितृचरण स्व० नन्दलाल आर्य हैं। मेरे अग्रज श्री सत्यप्रकाश एम. ए. ने, जो ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों के स्वाध्याय ही में अपना सारा समय बिताते हैं, इसके लिए कई उत्तम सुझाव दिये हैं। **पितृभ्यो नमः भ्रातृभ्यो नमः ॥**

श्री सत्यप्रकाश सुखेजा (सोनीपत, हरयाणा) ने न केवल इस रूप में 'ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को' संकलित करने की प्रेरणा ही दी, अपितु सामान्य गृहस्थ होते हुए भी, इसके प्रकाशन के लिये पाँच सौ रु० की राशि देकर क्रियात्मक सहयोग किया। प्रभु उन्हें सब प्रकार का सुख दे!

लेखक अपने मित्र स्व० श्री गोविन्दराम हासानन्द के सुयोग्य पुत्र प्रिय विजयकुमार [मालिक गोविन्दराम हासानन्द नई सड़क दिल्ली] का भी हृदय से आभारी है, जो उन्होंने इस ग्रन्थ के वितरण एवं प्रसारण का उत्तरदायित्व प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया है।

यह पुस्तक इस भव्य रूप में प्रकाश में न आती, यदि ऋषि दयानन्द के परमभक्त आर्यसमाज के दीवाने मान्य भ्राता रामरक्खा जी तथा उनकी सतीमणि सौ० बहिन सरस्वती देवी इसके मुद्रण का भार न उठाते। लेखक की (अथर्व० २।२९।२) उनके लिए निम्न शुभ-कामना है—

ओम् आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वष्टरधिनिधेह्यस्मै।
रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥

और,

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्।
अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्यात्सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे ॥

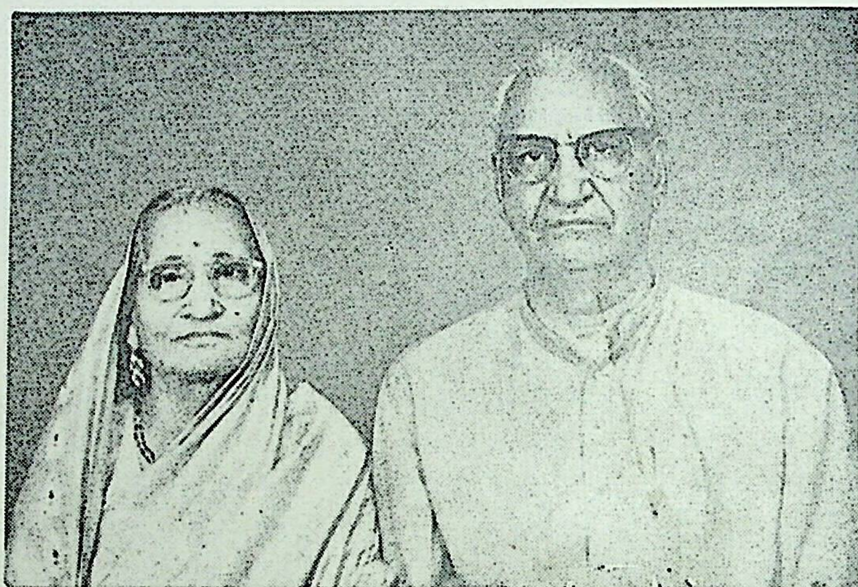
इस कर्म के अनुष्ठान में, मैंने यहाँ जो कुछ ऋषि दयानन्द के लेख से अधिक अथवा न्यून किया है, उसको इष्ट-संवर्धक दोष-निवारक सर्वज्ञ परमात्मा जानता है। वह मेरे इस सुन्दर-इष्टकर्म को सफल बनाये !

यदशुद्धमसम्बद्धम् अज्ञानाल्लिखितं मया।
विद्वद्भिः क्षम्यतां सर्वं नीरक्षीरविवेकिभिः॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेद्यतः।
विद्वान्सः शोधयन्तु वै पावना यज्ञभावनाः॥

—मदनमोहन विद्यासागर

'प्रेममन्दिर'
महर्षि दयानन्द मार्ग (ना. गु.)
हैदराबाद (आं. प्र.)
श्रावण पूर्णिमा, २०३५
१८ अगस्त, १९७८



अ० सौ० सरस्वती देवी
जन्म अप्रैल १९०३

श्रीरामरक्खा ढाण्डा बी० ए०
जन्म २४ सितम्बर १८९८

आर्यश्रेष्ठी श्री रामरक्खाजी ढाण्डा बी० ए०

(संक्षिप्त-परिचय)

आपका जन्म २४ सितम्बर १८९८ ई० में लुधियाना पंजाब के एक प्रतिष्ठित आर्य परिवार में हुआ। आपके पूज्य पितामह श्री लाला गंगाराम को आनन्दकन्द महर्षि दयानन्द के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। आपकी शिक्षा-दीक्षा दयानन्द एंग्लो-वैदिक [डी० ए० वी०] कॉलेज, लाहौर [उस समय भारत और अब पाकिस्तान] में सम्पन्न हुई ; जहाँ आपको स्वनाम धन्य अमरशहीद पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय, महात्मा हंसराज, हुतात्मा एवं देवतास्वरूप भाई परमानन्द आदि के सत्संग तथा उपदेशों के श्रवण का सुयोग रहा। उस समय से ही आप आर्य-धर्म के प्रचार व समाज के संगठन में उत्साहपूर्वक लगे हुए हैं।

ई० सन् १९३३ में आप [निज़ाम रियासत के] सिकन्दराबाद नगर (वर्त्तमान आन्ध्र प्रदेश) में आये। यहाँ आपने अपने बहनोई दानवीर कर्मवीर सुप्रसिद्ध समाजसेवी दिवंगत लाला मुन्शीराम दुसाज के सहयोग से एक लोहे का कारखाना स्थापित किया। लाला मुन्शीरामजी एक उदार तथा सहृदय समाजसेवी धर्म-प्रेमी व्यक्ति थे। श्री रामरक्खा जी की प्रेरणा पर आपने नगर के मध्य में आर्य-समाज के भवन-निर्माण के लिए पच्चीस हजार की भूमि दान कर दी। उस पर विशाल आर्यमन्दिर निर्माण कराने का अधिक श्रेय श्री रामरक्खा जी को है।

आप व्यवसाय से एक प्रसिद्ध प्रतिष्ठित व्यापारी हैं। **'आनन्द मेटल वर्क्स'** नाम से प्रसिद्ध कारखाना चलता है ; परन्तु अधिक समय आपका सामाजिक कार्यों व धर्म-प्रचार में जैसे पहले व्यतीत होता था, वैसे ही अब भी व्यतीत होता है। लगभग पच्चीस वर्षों से आप व्यवसाय से हटकर वानप्रस्थी का जीवन व्यतीत कर रहे हैं और समस्त समय धर्मकार्यों में तथा धर्मग्रन्थों के अध्ययन में व्यतीत करते हैं।

आर्य-समाज सिकन्दराबाद के आप कई वर्षों तक प्रधान रहे हैं। इसीलिए वहाँ 'प्रधानजी' कहने से आपका ही बोध होता है। आर्य प्रतिनिधि सभा, मध्यदक्षिण, सुल्तान बाजार, हैदराबाद के आप वर्षों वरिष्ठ उपप्रधान

तथा कोषाध्यक्ष रहे हैं। आर्यन को-आपरेटिव बैंक हैदराबाद के आप कई वर्षों तक अध्यक्ष रहे। **हिन्दी विद्यालय** तथा **सरस्वती कन्या-विद्यालय सिकन्दराबाद**, दोनों की स्थापना में भी आपकी प्रेरणा व महत्त्वपूर्ण क्रियात्मक सहयोग रहा है।

आपकी धर्मपत्नी अखण्ड सौभाग्यवती श्रीमती सरस्वती देवी एक कुलीन आर्य परिवार की उदारहृदय धर्मप्राण दानशीला महिला हैं। आपने सर्वप्रथम हिन्दी माध्यम से युक्त **सरस्वती कन्या-विद्यालय** अपने शुभ दान से स्थापित किया, जो कि इस समय सिकन्दराबाद नगर की उच्च शिक्षण-संस्थाओं में अपना प्रमुख स्थान रखता है। आप हमेशा निर्धन बच्चों व विधवा आदि की सहायता करती रहती हैं।

इन दिनों आप हिन्दी और तेलगू-भाषा में आर्य-सिद्धान्तों पर नाना बड़े-छोटे ग्रन्थ अपने व्यय से छपवा रहे हैं और **'चलत्ग्रन्थालय'** स्थापित कर घर-घर आर्य-साहित्य पहुँचा आर्य-धर्म का प्रकाश फैला रहे हैं। यह ग्रन्थ आपकी धर्मपत्नी सौ० सरस्वती देवी की पावन सहायता से ही, साहित्याकाश में प्रकाशित हुआ है।

आपके परिवार में पाँच पुत्र और चार पुत्रियाँ हैं। परमात्मा के अनुग्रह से सब अच्छी स्थिति में और पंचमहायज्ञों व षोडश संस्कारों को जीवन में मूर्त्त करने वाले अपने माता-पिता के चरण-चिन्हों पर चल रहे हैं।

आप दोनों की एकमात्र अभिलाषा और जीवन का ध्येय है कि संसार में वेद-मत का प्रचार हो, सब आर्य बनें, सर्वत्र आर्य-समाज स्थापित हों। इस प्रकार ऋषि दयानन्द का कार्य पूरा हो।

हमारी आप दोनों के प्रति वैदिक शब्दों में शुभाशंसना है—

सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः।
कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम्॥

भवतन्नः समनसौ सचेतसावरेपसौ। मा यज्ञं हिंसिष्टं मा यज्ञपतिं।
जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः॥ यजुः ५।३॥
समग्रः समन्तो भूयासं गोभिरश्वैः प्रजया पशुभिर्गृहैर्धनेन॥

अथः ७।८।१४॥

—युधिष्ठिर मीमांसक

पूर्णपात्र-दक्षिणा-संकल्प

हमारी बहुत दिनों से एक ऐसी पुस्तक प्रकाशित कराने की इच्छा थी, जिससे सभी जन सरलता से ऋषि दयानन्द प्रतिपादित सत्य सनातन वेद-धर्म का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त कर सकें। **श्री पं० मदनमोहन विद्यासागर वेदालंकार** ने हमारी यह इच्छा जिस उत्तमता से पूरी की है, हम उनके धन्यवादी हैं। यद्यपि सबके कामों को साधने वाले परम पिता परमात्मा ही हैं, तथापि उसी की प्रेरणा से प्रेरित हो हम श्री पण्डितजी के परिश्रम को सफल करने के लिए उन्हें **'पूर्णपात्र-दक्षिणा'** में सप्तसहस्र मुद्रायें दे रहे हैं।

संस्कार विधिमें जगद्गुरु महर्षि दयानन्दने जैसे लिखा है, वैसेही वे एक **"शास्त्रोक्त विधि को पूर्णरीति से जाननेहारे, अच्छे विद्वान्, संस्कार-कर्म करने में कुशल, निर्लोभी, सद्धर्मी, कुलीन, निर्व्यसनी, सुशील, वेदप्रिय, स्वाध्यायशील, वैदिक-मतावलम्बी, वेदवित् सर्वोपकारी, गृहस्थ पुरोहित हैं।"** सत्य सनातन वेदधर्म तथा जगत् में प्रचलित पुराने व नये सब मत-मतान्तरों और पुरातन व नवीन दार्शनिक सम्प्रदायों के सम्बन्ध में उनका ज्ञान व अन्वेषण बहुत गहरा है। साथ ही युगपुरुष परमभक्त सर्वमङ्गल-कारी ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों के वे बहुत अच्छे ज्ञाता हैं। हम प्रभु से उनके दीर्घायुष्य व सर्वविध अभ्युदय की कामना करते हैं!

पुनश्च, आर्य-साहित्य व वैदिक वाङ्मय के प्रसिद्ध प्रकाशक श्री गोविन्दराम हासानन्द के वर्तमान स्वामी विजयकुमार जी के भी हम कृतज्ञ हैं, जिन्होंने हमारे इस संकल्प की पूर्त्ति में पूरा-पूरा सहयोग दिया है, तथा इसे सुन्दर रूप में प्रकाशित कर पं० मदनमोहन विद्यासागर जी के दीर्घकालीन श्रम को मूर्त्तरूप दिया है और हमें गौरवान्वित किया है।

परमात्मा उनके हृदय में धर्म की अग्नि चिरकाल तक उद्दीप्त रक्खे!

२० जीरा, रामकुटीर,
सिकन्दराबाद (आ० प्र०)

रामरक्खा बी० ए०
सौ० सरस्वती देवी

लेखक के प्रकाशित-ग्रन्थ

१. **जन-कल्याण का मूल मन्त्र** (गायत्री-मन्त्र की नवीन व्याख्या दीक्षा-पद्धति । प० सं०) **तीन रुपया पच्चीस पैसे**

२. **संस्कार-महत्त्व** (संक्षेप में षोडश संस्कारों का प्रामाणिक परिचय । द्वि० सं०) अप्राप्य **तीन रुपये**

३. **वेदों की अन्तःसाक्षी का महत्व : वेदस्वरूप-निर्णय** (वेद चार हैं ईश्वरीय ज्ञान हैं आदि विषयों पर प्रामाणिक निबन्ध । नवीन सं०) **एक रुपया**

४. **आर्य-स्तोत्र** (मानववादी आर्यों के लिए प्रतिदिन पारायण करने योग्य स्तोत्र) अप्राप्य **एक रुपया पचास पैसे**

५. **आर्य-समाज क्या चाहता है ?** अप्राप्य **बीस पैसे**

६. **आर्यन-मैनिफेस्टो या वेदधर्मसार** (आर्यसमाज का संक्षिप्त परिचय) अप्राप्य **एक रुपया पचास पैसे**

७. **ईश्वर—प्रत्यक्ष मुक्ति और उसके साधन** (प्रेस में) **चार रुपया पचास पैसे**

८. **आर्य-सिद्धान्त-प्रदीप** (ऋषि दयानन्द सम्मत आर्य-सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचक ग्रन्थ) अप्राप्य **चार रुपया**

९. **आर्य-सिद्धान्त-मुक्तावली** (इसमें ऋषि दयानन्द प्रतिपादित आर्य-सिद्धान्तों के दार्शनिक लक्षण संगृहीत हैं) अप्राप्य **तीन रुपया पच्चीस पैसे**

१०. **ज्ञान का आदि स्रोत : ओ३म्** (प्रेस में) **एक रुपया**

११. **पञ्चमहायज्ञ-प्रदीप** **चार रुपया पचास पैसे**

१२. **संस्कार-समुच्चय** **पैंतीस रुपया**

१३. **सत्यार्थ-सरस्वती** **पच्चीस रुपया**

मदनमोहन विद्यासागर

'प्रेममन्दिर'

महर्षि दयानन्द मार्ग, नारायणगुड़ा,

हैदराबाद—(आं० प्र०) भारत

५०००२९

॥ ओ३म् ॥

अथ सत्यार्थ-सरस्वती

प्रथम प्रवाह

इसमें सबसे पूर्व परमात्मा की स्तुति प्रार्थना उपासना करके, ईश्वर के निज नाम 'ओ३म्' और अन्य सब नामों का व्याख्यान करते हैं।

ओ३म् शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्य्यमा।
शन्नऽ इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः॥

नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि।
तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु अवतु मामवतु वक्तारम्॥
ओ३म् शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः॥१॥

[तैत्ति० आर० प्रपा० ७। अनु० १]

इस मन्त्र में जितने मित्रादिक नाम हैं, वे परमेश्वर के नाम हैं। उनका अर्थ अब आगे किया गया है।[1] (ओ३म्) यह जो 'ओंकार' है, सो परमेश्वर का बहुत उत्तम नाम है [पृ. १]। 'शम्' नाम है सुख का और कल्याण का भी। 'नः' इस पद से हम सब लोगों का ग्रहण होता है [पृ. ८] (मित्रः)...परमेश्वर तो सब जगत् का मित्र ही है...जो परमेश्वर सभों में प्रधान और सभों में मुख्य है; वह मित्र, शत्रु और उदासीन किसी का भी नहीं है, सबका सुहृत्, अविरोधी है, (वरुणः) ...जो स्वीकार कर्त्ता है शिष्ट मुमुक्षु और धर्मात्माओं को...[अथवा] शिष्टादिक जिसका [पृ. ७] स्वीकार करते हैं...अथवा जो सबको [वरण कर=] प्राप्त हो रहा है और जो सब श्रेष्ठ लोगों को प्राप्त होने के योग्य है..., जो सभों से श्रेष्ठ

---

१. ओ शन्नो० मन्त्र का अर्थ, स. प्र. प्र. संस्क, (पृ. १-९) तथा प्रामाणिक स. प्र. के संस्क. (पृ. १-२४) से लेकर एकत्र कर मन्त्र के पश्चात् ही लिख दिया है।

अर्थात् सर्वोत्तम है, ... **(अर्य्यमा)** जो सभों के कर्मों की यथावत् व्यवस्था को जाने और पाप-पुण्य करने वालों को यथावत् पाप और पुण्यों [के अशुभ और शुभफलों] की प्राप्ति का सत्य-सत्य नियम करने वाला अर्थात् न्यायाधीश है, **(इन्द्रः)** जिस का परमैश्वर्य है, उससे अधिक किसी का ऐश्वर्य न हो..., **(बृहस्पतिः)** जो बडों से भी वड़ा और सव आकाशादिक और ब्रह्मादिकों का स्वामी है **(विष्णु)** जो सब जगत् में व्यापक है , **(उरु क्रमः)** अनन्त पराक्रम जिसका है..., [वह परमेश्वर हम सव के लिए शान्ति और सुखकल्याण करने वाला होवे] ॥ **(ब्रह्मणे)** जो सव के ऊपर विराजमान और सवसे वड़ा है, उस [पृ. ८] [परमात्मा के लिए **(नमः)** हम नमस्कार करते हैं ।] **(वायो)** हे परमेश्वर ! तू जो चराचर जगत् का प्रलय करने अथवा धारण करनेहारा और सब वलवानों से वलवान् [पृ. ५] अनन्तवलयुक्त है **(ते)** उस तेरे लिए **(नमः)** हम नमस्कार करते हैं । हे परमेश्वर ! ओंकारादिक [वायुपर्यन्त] जितने भी नाम हैं, वे सव आप ही के हैं । **(त्वम् एव प्रत्यक्षं असि)** आप ही अन्तर्यामी रूप से प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं; **(त्वाम् एव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि)** आप ही को मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा । क्योंकि आप सव जगह में व्याप्त होके सव को नित्य ही प्राप्त हैं । **(ऋतं वदिष्यामि)** जो आप की वेदस्थ यथार्थ आज्ञा है, उसी को मैं सबके लिए उपदेश करूंगा और आचरण भी करूंगा । **(सत्यं वदिष्यामि)** सत्य बोलूंगा, सत्य मानूंगा, और सत्य ही करूंगा । **(तन्मामवतु)** सो 'तद्' पद वाच्य आप मेरी रक्षा कीजिए । **(तद्वक्तारमवतु)** सो आप मुझ आप्त सत्यवक्ता की रक्षा कीजिए, कि जिससे आप की आज्ञा में मेरी बुद्धि स्थिर होकर विरुद्ध कभी न हो । क्योंकि जो आपकी आज्ञा है, वही 'धर्म' और जो उससे विरुद्ध वही 'अधर्म' है ।

(अवतु मामवतु वक्तारम्) यह दूसरी वार पाठ अधिकार्थ के लिए है कि आप की आज्ञा मानने वाले मेरी अवश्य रक्षा करो और ऐसा जो मैं आपकी आज्ञा को कहने वाला और करने वाला हूं, मेरी आप रक्षा करो, ताकि उस आज्ञा से मेरी बुद्धि विरुद्ध न हो । अर्थात् धर्म से सुनिश्चित और अधर्म से घृणा सदा करूं, ऐसी कृपा मुझ पर कीजिए, मैं आपका वड़ा उपकार मानूंगा ।

(ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः) हे शान्ति प्रदातः परमात्मन् ! हमारे त्रिविध ताप नष्ट कीजिए । एक **'आध्यात्मिक'** जो आत्मा शरीर में अविद्या, राग-द्वेष, मूर्खता और ज्वर पीड़ादि होते हैं । दूसरा **'अधिभौतिक'** जो शत्रु,

व्याघ्र और सर्पादि से प्राप्त होता है। तीसरा '**आधिदैविक**' अर्थात् जो अतिवृष्टि, अतिशीत, अति उष्णता, मन और इन्द्रियों की अशांति से होता है। इन तीन प्रकार के क्लेशों से आप हम लोगों को दूर करके कल्याणकारक कर्मों में सदा प्रवृत्त रखिये। क्योंकि आप ही कल्याणस्वरूप सब संसार के कल्याणकर्त्ता, और धार्मिक मुमुक्षुओं को कल्याण के दाता हैं। इसलिए आप स्वयं अपनी करुणा से सब जीवों के हृदय में प्रकाशित हूजिये, कि जिससे सब जीव धर्मका आचरण करें और अधर्मको छोड़कर परमानन्द को प्राप्त हों, और दुःखों से पृथक् रहैं। ऐसी कृपा करो कि 'ओ३म्' पद वाच्य आप की ही सदा हम स्तुति, प्रार्थना, उपासना किया करें।

अर्थ—(ओ३म्) यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है। क्योंकि इसमें अ उ और म् तीन अक्षर मिलकर एक '**ओम्**' समुदाय हुआ है। इस एक नाम से परमेश्वर के बहुत नाम आते हैं। जैसे—अकार से **विराट्, अग्नि** और **विश्वादि**; उकार से **हिरण्यगर्भ, वायु** और **तैजसादि**; मकार से **ईश्वर, आदित्य** और **प्राज्ञादि** इस प्रकार यह '**ओ३म्**' शब्द परमेश्वर के अनेक नामों का वाचक और ग्राहक है। उसका ऐसा ही वेदादिसत्यशास्त्रों में स्पष्ट व्याख्यान किया है कि प्रकरणानुकूल विराट् हिरण्यगर्भ और ईश्वर आदि ये सब नाम परमेश्वर ही के हैं।

प्रश्न—परमेश्वर से भिन्न अर्थों के वाचक ये विराट् आदि नाम क्यों नहीं? ब्रह्माण्ड, पृथिवी आदि भूत, इन्द्रादि देवता और वैद्यकशास्त्र में शुण्ठ्यादि[1] ओषधियों के भी ये नाम हैं वा नहीं?

उत्तर—परमेश्वर से भिन्न अर्थों के वाचक भी ये नाम हैं; परन्तु परमात्मा के नाम भी हैं।

प्रश्न—प्रसिद्ध और उत्तम होने से केवल देवों का ग्रहण इन नामों से करते हो वा नहीं?

उत्तर—क्या परमेश्वर अप्रसिद्ध और उससे कोई उत्तम भी है? पुनः ये नाम परमेश्वर के भी क्यों नहीं मानते? जब परमेश्वर अप्रसिद्ध नहीं और उसके तुल्य भी कोई नहीं, तो उससे उत्तम कोई क्योंकर हो सकेगा? इससे आपका यह कहना सत्य नहीं। क्योंकि आपके इस

१. ऊपर पढ़े गये नामों में 'विश्व' शब्द का स्त्रीलिङ्ग 'विश्वा' रूप आयुर्वेदिक निघण्टुओं में 'शुण्ठी' का पर्याय माना गया है।

कहने में दोष भी है। जैसे—किसी ने किसी के लिए भोजन का पदार्थ रखके कहा कि—'आप भोजन कीजिए', और वह उस प्राप्त को छोड़के अप्राप्त भोजन के लिए जहां-तहां भ्रमण करे; तो उसको बुद्धिमान् न जानना चाहिये। क्योंकि वह उपस्थित अर्थात् समीप प्राप्त हुए पदार्थ को छोड़के, अनुपस्थित अर्थात् दूरस्थ अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति के लिए श्रम करता है। इसलिए जैसा वह पुरुष बुद्धिमान् नहीं, वैसा ही आपका कथन हुआ। क्योंकि आप उन विराट् आदि नामों के जो प्रसिद्ध प्रमाण-सिद्ध परमेश्वर और ब्रह्माण्डादि उपस्थित अर्थ हैं, उन अर्थों का परित्याग करके इन विराट् आदि नामों से असम्भव और अनुपस्थित देवादि के ग्रहण में श्रम करते हैं।

जो आप ऐसा कहें कि जहां जिसका प्रकरण है, वहां उसी का ग्रहण करना योग्य है, तो यह बात ठीक है। जैसे किसी ने किसी से कहा कि—तू 'सैन्धव' को लेआ। तब उसको समय अर्थात् प्रकरण का विचार करना अवश्य है। क्योंकि सैन्धव नाम दो पदार्थों का है-एक घोड़े और दूसरे लवण का। जो स्वस्वामी का गमन-समय हो तो घोड़े और भोजन का काल हो, तो लवण को ले आना उचित है। और जो गमन-समय में लवण और भोजन-समय में घोड़े को ले आवे, तो वह निर्बुद्धि पुरुष कहलावेगा। इससे क्या सिद्ध हुआ कि जहां जिसका ग्रहण करना उचित हो, वहां उसी अर्थ का ग्रहण करना चाहिए। ऐसा ही हम और आप सब लोगों को मानना और करना भी चाहिए।

ओं खम्ब्रह्म ॥१॥ यजु: अ० ४०। मं० १७। देखिये वेदों में ऐसे-ऐसे प्रकरणों में 'ओम्' आदि परमेश्वर के नाम हैं।

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत ॥२॥ छा०उप० १।१॥
ओमित्येतदक्षरमिदꣳसर्वं तस्योपव्याख्यानम् ॥३॥ माण्डू० उप०१॥
सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥४॥
कठोप० वल्ली २, मं० १५॥

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥५॥
एतमग्निं वदन्त्येके मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥६॥
मनु० अ० १२। श्लो. १२२, १२३॥

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रस्स शिवस्सोऽक्षरस्स परमः स्वराट् ।
स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमाः ॥७॥ कैवल्य उपनिषत् ॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥८॥
ऋ० मं० १। सू० १६४ । मं० ४६ ॥

भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री ।
पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृꣳह पृथिवीं मा हिꣳसीः ॥९॥
यजु: अ० १३ मं० १८ ॥

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे ।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥१०॥
अथर्व० का० ११ । सू० ४। मं० १॥

अर्थ—यहां इन प्रमाणों के लिखने में तात्पर्य यह है कि ऐसे-ऐसे प्रमाणों में ओङ्कारादि नामों से परमात्मा का ग्रहण होता है, तथा परमेश्वर का कोई भी नाम अनर्थक नहीं, जैसे लोक में दरिद्री आदि जनों के धनपति आदि नाम होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि ये नाम कहीं गौणिक, कहीं कार्मिक और कहीं स्वाभाविक अर्थों के वाचक हैं। 'ओ३म्' आदि नाम सार्थक हैं। आगे सबका अर्थ लिखते हैं :—

(ओं खं०) 'अवतीत्योम्, आकाशमिव व्यापकत्वात् खम्, सर्वेभ्यो बृहत्वाद् ब्रह्म'। रक्षा करने वाला होने से **'ओ३म्'**, आकाशवत् व्यापक होने से **'खम्'** और सबसे बड़ा होने से **'ब्रह्म'** परमेश्वर का नाम है ॥१॥

(ओमित्ये०) 'ओ३म्' जिसका नाम है, और जो कभी नष्ट नहीं होता, उसी की उपासना करनी योग्य है, अन्य की नहीं ॥२॥

(ओमित्येत०) सब वेदादि शास्त्रों में परमेश्वर का प्रधान और निज नाम **'ओ३म्'** को कहा है, अन्य सब गौणिक[1] नाम हैं ॥३॥

(सर्वे वेदा०) क्योंकि ऋगादि सब वेद, सब धर्मानुष्ठानरूप तपश्चरण जिसका कथन और मान्य करते, और जिसकी प्राप्ति की इच्छा

१. अर्थात् विशेष गुण को जतलाने वाले। जैसे रामायण के नायक दशरथ के ज्येष्ठपुत्र का निज नाम 'राम' है। परन्तु सब धर्मों की मर्यादा रखनेवाला होने से उसका गौणिक नाम 'मर्यादा पुरुषोत्तम' है।

करके ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, उस पद को बताता हूं, उसका नाम **'ओ३म्'** है ।।४।।

(प्रशासिता०) जो सबको शिक्षा देनेहारा, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, स्वप्रकाशस्वरूप, समाधिस्थ बुद्धि से जानने योग्य है, उसको परमपुरुष जानना चाहिए ।।५।। **(एतमग्निं०)** स्वप्रकाश होने से **'अग्नि'**, विज्ञानस्वरूप होने से **'मनु'**, सबका पालन करने से **'प्रजापति'**, और परमैश्वर्यवान् होने से **'इन्द्र'**, सबका जीवन मूल होने से **'प्राण'**, और निरन्तर[1] व्यापक होने से परमेश्वर का नाम **'ब्रह्म'** है ।।६।।

(स ब्रह्मा स विष्णुः०) सब जगत् के बनाने[2] से **'ब्रह्मा'**, सर्वत्र व्यापक होने से **'विष्णु'**, दुष्टों को दण्ड देके रुलाने से **'रुद्र'**, मंगलमय और सबका कल्याणकर्त्ता होने से **'शिव'** कहाता है । **'यः सर्वमश्नुते न क्षरति न विनश्यति तदक्षरम्'** सर्वत्र व्याप्त और अविनाशी होने से **'अक्षर'**, **'यः स्वयं राजते स स्वराट्'** स्वयं प्रकाशस्वरूप होने से **'स्वराट्'** और **'योऽग्निरिव कालः कलयिता प्रलयकर्त्ता स कालाग्निरीश्वरः'** प्रलय में जो अग्नि के समान सबका काल और काल का भी काल है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'कालाग्नि'** है ।।७।।

(इन्द्रं मित्र०) जो एक अद्वितीय सत्य ब्रह्म वस्तु है, उसी के ये इन्द्रादि सब नाम हैं । **'द्युषु शुद्धेषु पदार्थेषु भवो दिव्यः'** जो प्रकृत्यादि शुद्ध पदार्थों में व्याप्त होने से **'दिव्य'**; **शोभनानि पर्णानि पालनानि पूर्णानि कर्माणि वा यस्य स सुपर्णः**; जिसके उत्तम पालन और पूर्ण कर्म हैं, वह **'सुपर्ण'**; **'यो गुर्वात्मा स गरुत्मान्'**, जिसका आत्मा अर्थात् स्वरूप महान् है, वह **'गरुत्मान्'** और **'यो मातरिश्वा वायुरिव बलवान् स मातरिश्वा'** जो वायु के समान अनन्त बलवान् है, वह मातरिश्वा । इसलिए **'दिव्य'**, **'सुपर्ण'**, **'गरुत्मान्'** और **'मातरिश्वा'** ये सब नाम परमात्मा के हैं ।।८।।

(भूरसि भूमिरसि०) **'भवन्ति भूतानि यस्यां सा भूमिः'** जिसमें सब भूत प्राणी उत्पन्न स्थित और विनष्ट होते हैं, इसलिए ईश्वर का नाम **'भूमि'** है । पृथिवी आदि शेष नामों का अर्थ आगे लिखेंगे ।।९।।[1]

---

१. निर् अन्तर=विना व्यवधान के अन्दर बाहर सर्वत्र व्यापक, अर्थात सबसे बड़ा इस अर्थवाला 'ब्रह्म' शब्द 'बृहि वृद्धौ' (धातु०पा० १।४८८) धातु से बनता है ।
२. इस अर्थवाला 'ब्रह्मा' शब्द 'बृहू उद्यमने' (धातु०पा० ६।५९) धातु से निष्पन्न होता है ।

(प्राणाय०) जैसे प्राण के वश में सब शरीर और इन्द्रियां होती हैं, वैसे परमेश्वर के वश में सब जगत् रहता है इसलिये 'प्राण' परमेश्वर का नाम है ॥१०॥

इत्यादि प्रमाणों के ठीक-ठीक अर्थों के जानने से इन नामों से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है। वेदादि शास्त्रों में 'ओ३म्' और अग्न्यादि नामों के मुख्य अर्थ से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है।

परन्तु 'ओ३म्' यह तो केवल परमात्मा ही का नाम है। और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण और विशेषण नियम-कारक हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जहां-जहां स्तुति प्रार्थना उपासना आदि प्रकरण, और सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्त्ता आदि विशेषण लिखे हैं, वहीं-वहीं इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है। और जहां-जहां ऐसे प्रकरण हैं कि—

ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ॥

पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥१॥ यजुः अ० ३१।५॥

श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥२॥ यजुः ३१।१२॥

तेन देवा अयजन्त ॥३॥ यजुः ३१।९॥

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः[2]। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः॥ यह तैत्तिरीयोप० ब्रह्मानन्दवल्ली का वचन है।

ऐसे प्रमाणों में विराट्, पुरुष, देव, आकाश, वायु, अग्नि, जल, भूमि आदि नाम लौकिक पदार्थों के होते हैं। क्योंकि जहां-जहां उत्पत्ति,

१. भूमि पद की तरह 'भूः' पद भी परमेश्वर वाची है। 'यो भवतीति' जो आप से आप है, वह परमेश्वर 'भूः' है।

२. तै० उ० और तै० ब्रा० में प्रायः 'ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नात् पुरुषः' पाठ मिलता है। ऋषिदयानन्द द्वारा निर्दिष्ट यह पाठ तै० आर ८।२ के पाठान्तर में उपलब्ध होता है। द्र० आनन्दाश्रम पूना संस्करण। बम्बई की छपी 'मणिप्रभायुक्त एकादशोपनिषद्' में भी यह पाठ मिलता है।

स्थिति, प्रलय और अल्पज्ञ, जड़, दृश्य आदि विशेषण भी लिखे हों, वहां-वहां परमेश्वर का ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि वह उत्पत्ति आदि व्यवहारों से पृथक् है, और उपरोक्त मन्त्रों में उत्पत्ति आदि व्यवहारों का वर्णन है, इसलिये यहां विराट् आदि नामों से परमात्मा का ग्रहण न होके संसारी पदार्थों का ग्रहण होता है।

किन्तु जहां-जहां सर्वज्ञादि विशेषण हों, वहीं-वहीं पुरुष वा आत्मा नाम से परमात्मा का ग्रहण होता है और जहां-जहां इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख और अल्पज्ञादि विशेषण हों, वहां-वहां पुरुष वा आत्मा नाम से जीव का ग्रहण होता है। ऐसा सर्वत्र समझना चाहिए। क्योंकि परमेश्वर का जन्म-मरण कभी नहीं होता।

इससे ऐसे प्रकरणों में विराट् आदि नाम और जन्मादि विशेषणों से जगत् के जड़ पदार्थों और जीवादि पदार्थों का ग्रहण करना उचित है; परमेश्वर का नहीं।

अब जिस प्रकार विराट् आदि नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है, वह प्रकार नीचे लिखे प्रमाणे जानना चाहिये।

अथ ओङ्कारार्थः—'ओम्' शब्दका अर्थ ऊपर कहा है। अब **'अ'**, 'उ', 'म्' इन तीन अक्षरों से ग्रहण करनेयोग्य नामों के अर्थ लिखते हैं। **'यो विविधं नाम चराऽचरं जगद्राजयति प्रकाशयति स विराट्'** विविध अर्थात् बहु प्रकार के जगत् को जो प्रकाशित करता है; इससे **'विराट्'** नाम से परमेश्वर का ग्रहण होता है।

'योऽञ्चति अच्यतेऽगत्यङ्गत्येति वा सोऽयमग्निः' जो ज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ, जानने प्राप्त होने और पूजा करने योग्य है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'अग्नि'** है।

'विशन्ति प्रविष्टानि सर्वाण्याकाशादीनि भूतानि यस्मिन्, यो वाऽऽकाशादिषु सर्वेषु भूतेषु प्रविष्टः स विश्व ईश्वरः' जिसमें आकाशादि सब भूत प्रवेश कर रहे हैं, अथवा जो इनमें व्याप्त होके प्रविष्ट हो रहा है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम **'विश्व'** है। इत्यादि नामों का ग्रहण अकारमात्र से होता है।

'यो हिरण्यानां सूर्यादीनां तेजसां गर्भ उत्पत्तिनिमित्तमधिकरणं स हिरण्यगर्भः' जिसमें सूर्यादि तेजवाले लोक उत्पन्न होके जिसके आधार से

रहते हैं, अथवा जो सूर्यादि तेजस्वरूप पदार्थों का गर्भ अर्थात् उत्पत्ति और निवास-स्थान है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'हिरण्यगर्भ'** है।[1]

'यो वाति चराऽचरं जगद्धरति बलिनां बलिष्ठः स वायुः' जो चराचर जगत् का धारण जीवन और प्रलय करता, और सब बलवानों से बलवान् है, इससे उस ईश्वर का नाम **'वायु'** है।

'यस्तितिक्षते, तेजयति वा तेजः, तेज एव तैजसः,' जो आप स्वयं-प्रकाश और सूर्य्यादि तेजस्वी लोकों का प्रकाश करने वाला है, इससे उस ईश्वर का नाम **'तैजस्'** है। इत्यादि नामार्थ उकारमात्र से ग्रहण होते हैं।

'य ईष्टे सर्वैश्वर्यवान् वर्त्तते स ईश्वरः' जिसका सत्य विचारशील ज्ञान और अनन्त ऐश्वर्य है; इससे उस परमात्मा का नाम **'ईश्वर'** है।

'न विद्यते विनाशो यस्य सोऽयमदितिः, अदितिरेव आदित्यः,' जिसका विनाश कभी न हो, उसी ईश्वर की **'आदित्य'** संज्ञा है।

'यः प्रकृष्टतया चराऽचरस्य जगतो व्यवहारं जानाति स प्रज्ञः, प्रज्ञ एव प्राज्ञः' जो निर्भ्रान्त ज्ञानयुक्त सब चराचर जगत् के व्यवहार को यथावत् जानता है, इससे ईश्वर का नाम **'प्राज्ञ'** है। इत्यादि नामार्थ मकारमात्र से गृहीत होते हैं।

जैसे एक-एक मात्रा से तीन-तीन अर्थ यहां व्याख्यात किये हैं, वैसे ही अन्य नामार्थ भी ओंकार से जाने जाते हैं।

जो **'शन्नो मित्रः शं वरुणः'** इस मन्त्र में मित्रादि नाम हैं, वे भी परमेश्वर के हैं। क्योंकि स्तुति प्रार्थना उपासना श्रेष्ठ ही की की जाती है। 'श्रेष्ठ' उसको कहते हैं—जो गुण कर्म स्वभाव और सत्य-सत्य व्यवहारों में सबसे अधिक हो। उन सब श्रेष्ठों में भी जो अत्यन्त श्रेष्ठ है, उसको परमेश्वर कहते हैं। जिस के तुल्य कोई न हुआ, न है और न होगा। जब तुल्य नहीं, तो उससे अधिक क्योंकर हो सकता है? जैसे परमेश्वर के सत्य न्याय दया सर्वसामर्थ्य और सर्वज्ञत्वादि अनन्त गुण हैं, वैसे अन्य किसी

---

१. इसमें यजुर्वेद के १३ अ. ४ मन्त्र का प्रमाण है—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

इत्यादि स्थलों में 'हिरण्यगर्भ' से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है।

जड़ पदार्थ वा जीव के नहीं हैं। जो पदार्थ सत्य है, उसके गुण कर्म स्वभाव भी सत्य होते हैं।

इसलिये मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर ही की स्तुति प्रार्थना और उपासना करें, उससे भिन्न की कभी न करें। क्योंकि लोक में प्रसिद्ध ब्रह्मा विष्णु महादेव नामक पूर्वज महाशय विद्वान् पुरुषों ने, दैत्य-दानवादि निकृष्ट कोटि के मनुष्यों और अन्य साधारण मनुष्यों ने भी परमेश्वर ही में विश्वास करके, जैसे उसी की स्तुति प्रार्थना और उपासना सदा की है, उससे भिन्न किसी की नहीं की; वैसे हम सबको करना योग्य है। इसका विशेष विचार आगे मुक्ति और उपासना-विषय में किया जाएगा।

प्रश्न—मित्रादि नामों से सखा और इन्द्रादि देवों के प्रसिद्ध व्यवहार देखने से उन्हीं का ग्रहण करना चाहिए।

उत्तर—यहां उनका ग्रहण करना योग्य नहीं। क्योंकि जो मनुष्य किसी का मित्र है, वही अन्य का शत्रु और किसी से उदासीन भी देखने में आता है। इससे मुख्यार्थ रूप में मित्र आदि से सखा आदि का ग्रहण नहीं हो सकता। किन्तु जैसा परमेश्वर सब जगत् का निश्चित मित्र, न किसी का शत्रु और न किसी से उदासीन है, इससे भिन्न कोई भी जीव इस प्रकार का कभी नहीं हो सकता। इसलिये मुख्यार्थ में परमात्मा ही का ग्रहण यहां मन्त्र में होता है। हां गौण अर्थ में मित्रादि शब्द से सुहृदादि मनुष्यों का ग्रहण भी प्रकरणानुकूल होता है। आगे मित्रादि का अर्थ लिखते है।

'मेद्यति स्निह्यते वा स मित्रः' जो सबसे स्नेह करने और सबको प्रीति करने योग्य है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'मित्र'** है।

'यः सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून् धर्मात्मनो वृणोति, अथवा यः शिष्टैर्मुमुक्षुभिर्धर्मात्मभिर्व्रियते वर्य्यते वा स वरुणः परमेश्वरः' जो आत्म-योगी विद्वान् मुक्ति की इच्छा करने वाले मुक्त और धर्मात्माओं का स्वीकार कर्त्ता, अथवा जो शिष्ट मुमुक्षु मुक्त और धर्मात्माओं से ग्रहण किया जाता है, वह ईश्वर **'वरुण'** संज्ञक है। अथवा **'वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः'** जिसलिये परमेश्वर सबसे श्रेष्ठ है, इसीलिये उसका नाम **'वरुण'** है।

'योऽर्य्यान् स्वामिनो न्यायाधीशान् मिमीते मान्यान् करोति सोऽर्य्यमा' जो सत्यन्याय के करनेहारे मनुष्यों का मान्य, और पाप तथा पुण्य करने-

वालों को पाप और पुण्य के फलों का यथावत् सत्य-सत्य नियमकर्त्ता है, इसी से उस परमेश्वर का नाम **'अर्यमा'** है।

'य इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः परमेश्वरः' जो अखिल ऐश्वर्ययुक्त है, इस से उस परमात्मा का नाम **'इन्द्र'** है।

'यो बृहतामाकाशादीनां पतिः स्वामी पालयिता स बृहस्पतिः' जो बड़ों से भी बड़ा और बड़े आकाशादि ब्रह्माण्डों का स्वामी है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'बृहस्पति'** है।

'वेवेष्टि व्याप्नोति चराऽचरं जगत् स विष्णुः' चर और अचररूप जगत् में व्यापक होने से परमात्मा का नाम **'विष्णु'** है।

'उरुर्महान् क्रमः पराक्रमो यस्य स उरुक्रमः' अनन्तपराक्रमयुक्त होने से परमात्मा का नाम **'उरुक्रम'** है।

'यः सरति सः सूर्यः' जो प्राणी अर्थात् चेतन और जंगम अर्थात् जो चलते-फिरते हैं, और अप्राणी अर्थात् स्थावर जड़ अर्थात् पृथिवी आदि हैं,[1] उन सबके आत्मा होने, और स्वप्रकाशरूप, तथा सबके प्रकाश करने से परमेश्वर का नाम **'सूर्य'** है।

'योऽतति व्याप्नोति स आत्मा' जो सब जीवादि जगत् में निरन्तर व्यापक हो रहा है, इससे ईश्वर का नाम **'आत्मा'** है।

'परमश्चासावात्मा च, य आत्मभ्यो जीवेभ्यः सूक्ष्मेभ्यः परोऽति-सूक्ष्मः स परमात्मा' जो सब जीव आदि से उत्कृष्ट और जीव प्रकृति तथा आकाश से भी अतिसूक्ष्म, और सब जीवों का अन्तर्यामी आत्मा है, इससे ईश्वर का नाम **'परमात्मा'** है।

'य ईष्टे स ईश्वरः' सामर्थ्यवाले का नाम 'ईश्वर' है। **'य ईश्वरेषु समर्थेषु परमः श्रेष्ठः स परमेश्वरः'** जो ईश्वरों अर्थात् समर्थों में समर्थ, जिसके तुल्य कोई भी न हो उसका नाम **'परमेश्वर'** है।

'यश्चराचरं जगत् सुनोति सूते वोत्पादयति स सविता परमेश्वरः' जो सब जगत्की उत्पत्ति करताहै, इसलिये परमेश्वरका नाम **'सविता'** है।

'देव' नाम से भी परमेश्वर का ग्रहण होता है। 'दिवु' धातु के **क्रीड़ाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्ति** और गति आदि अर्थ होते हैं। इस धातु से 'देव' शब्द सिद्ध होता है। (क्रीड़ा) जो

---

१. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ यजुः ७।४२ ॥

स्वयं शुद्ध निर्लेप रहता हुआ जगत् को क्रीड़ा कराने वाला है, (विजिगीषा) धार्मिकों को जिताने की इच्छायुक्त है, (व्यवहार) सब चेष्टा के साधनोपसाधनों का दाता है, (द्युति) स्वयं प्रकाशस्वरूप सबका प्रकाशक है, (स्तुति) प्रशंसा के योग्य है, (मोद) आप आनन्दस्वरूप और दूसरों को आनन्द देनेहारा है, (मद) मदोन्मत्तों का ताड़नेहारा, (स्वप्न) सबके शयनार्थ रात्रि और प्रलय का करनेहारा, (कान्ति) कामना के योग्य और (गति) ज्ञानस्वरूप है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम 'देव' है।

अथवा **'यो दीव्यति क्रीडति स देवः'** जो अपने स्वरूप में आनन्द से आप ही सृष्टि रचना रूप क्रीड़ा करता अथवा किसी के सहाय के बिना क्रीड़ावत् सहज स्वभाव से सब जगत् को बनाता, वा प्रकृति की तथा सृष्टि में सब भूतों की सब क्रीड़ाओं का आधार है; **'यो विजिगीषते स देवः'** जो सबका जीतनेहारा स्वयं अजेय, अर्थात् जिसको कोई भी न जीत सके, **'यो व्यवहारयति स देवः'** जो न्याय और अन्यायरूप व्यवहारों का जानने हारा और उपदेष्टा है, **'यश्चराऽचरं जगत् द्योतयति स देवः'** जो सब का प्रकाशक, **'यः स्तूयते स देवः'** जो सब मनुष्यों की प्रशंसा के योग्य और निन्दा के योग्य न हो, **'यो मोदयति स देवः'** जो स्वयं आनन्दस्वरूप और दूसरों को आनन्द कराता, जिसको दुःख का लेश भी न हो, **'यो माद्यति स देवः'** जो सदा हर्षित शोकरहित और दूसरों को हर्षित करने और दुःखों से पृथक् रखने वाला है, **'यः स्वापयति स देवः'** जो प्रलय-समय आने पर अव्यक्त मूलप्रकृति में सब जीवों को सुलाता है, **'यः कामयते काम्यते वा स देवः'** जिसके सब तप ईक्षण रूप काम सत्य हैं और जिसकी प्राप्ति की कामना सब शिष्ट करते हैं, तथा **'यो गच्छति गम्यते वा स देवः'** जो सब में व्याप्त हो, सब कुछ जानता है तथा सबसे गम्य और जानने के योग्य है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'देव'** है।

'यः सर्वं कुम्बति स्वव्याप्त्याच्छादयति स कुबेरो जगदीश्वरः' जो अपनी व्याप्ति से सबका आच्छादन करे, इससे उस परमेश्वर का नाम **'कुबेर'** है।

'यह पर्थति सर्वं जगद्विस्तृणाति स पृथिवी' जो सब विस्तृत जगत् का विस्तार करने वाला है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम **'पृथिवी'** है।

'जलति घातयति दुष्टान्, संघातयति अव्यक्तपरमाण्वादीन् तद् ब्रह्म जलम्' जो दुष्टों का ताड़न और अव्यक्त तथा परमाणुओं का अन्योन्य संयोग वा वियोग करता है, वह परमात्मा **'जल'** संज्ञक कहाता है।

'यः सर्वतः सर्वं जगत् आकाशयति=प्रकाशयति स आकाशः' जो सब ओर से जगत् का प्रकाशक है, इसलिये उस परमात्मा का नाम **'आकाश'** है।

'यः अत्ति भक्षयति चराचरं जगत् तदन्नम्। अनितिजीवयतीति वा अन्नं ब्रह्म' जो सबको भीतर रखने, सबको ग्रहण करने योग्य, चराचर जगत् का ग्रहण करने वाला है, इससे उस ईश्वर के **'अन्न'**[१] **'अन्नाद'** और **'अत्ता'** नाम हैं। जैसे गूलर के फल में कृमि उत्पन्न होके उसी में रहते और नष्ट हो जाते हैं, वैसे परमेश्वर के बीच में सब जगत् की अवस्था है।[१]

'वसन्ति भूतानि यस्मिन्, अथवा यः सर्वेषु वसति स वसुरीश्वरः' जिसमें सब आकाशादि भूत वसते हैं और जो सब में वास कर रहा है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम **'वसु'** है।

'यो रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः' जो दुष्ट कर्म करनेहारों को रुलाता है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'रुद्र'** है।

यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत् कर्मणा करोति, यत् कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते ॥

जीव जिस पदार्थ का मन से ध्यान करता है, उसको वाणी से बोलता है; जिसको वाणी से बोलता है, उसको कर्म से करता है; जिसको कर्म से करता है, उसको प्राप्त होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो जीव जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल पाता है। जब दुष्ट कर्म करने वाले जीव ईश्वर की न्यायरूपी व्यवस्था से दुःखरूप फल पाते, तब रोते हैं। और मानों इसी प्रकार ईश्वर उनको रुलाता है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'रुद्र'** है।

'नृणाति नयति धर्मंचरति, नरयति वेति नरः। नराणां समूहो नारं, तदयनं यस्य स, नराज्जाता नारा आपः तत्त्वानि वा, अयनं यस्य स नारायणः ॥ नारं जलं जीवगणं वा अयतेजानाति आपयति प्रवर्त्तयति वा स नारायणः'[२]

---

१. अद भक्षणे इस धातु से 'अन्न' शब्द सिद्ध होता है।
अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते ॥ तैत्ति० उप०। ब्रह्मा० ॥
अहमन्नमहमन्नम्०। अहमन्नादोऽहमन्नादः० ॥ तैत्ति० उप० भृगु० ॥
अत्ता चराऽचरग्रहणात् ॥ यह व्यासमुनिकृत शारीरक सूत्र है।

१. द्र० विद्यासागर शास्त्रिकृत 'अष्टोत्तरशतनाम मलिका'। पृ० १८८
॥ रा. ला. कपूर ट्रस्ट ॥

जल और जीवों का नाम 'नारा' है, वे अयन अर्थात् निवास-स्थान हैं जिसका, इसलिए सब जीवों में व्यापक परमात्मा का नाम **'नारायण'** है।[१]

'यश्चन्दति चन्दयति वा स चन्द्रः' जो आनन्दस्वरूप, और सबको आनन्द देनेवाला है, इसलिये ईश्वर का नाम **'चन्द्र'** है।

यो मङ्गति मङ्गयति वा स मङ्गलः' जो आप मङ्गलस्वरूप और सब जीवों के मङ्गल का कारण है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **मङ्गल** है।

'यो बुध्यते बोधयति वा स बुधः' जो स्वयं बोधस्वरूप और सब जीवों के बोध का कारण है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम **'बुध'** है।

'बृहस्पति' शब्द का अर्थ पूर्व पृ० ११ पर कह दिया है।

'यः शुच्यति शोचयति वा स शुक्रः' जो अत्यन्त पवित्र और जिसके सङ्ग से जीव भी पवित्र हो जाता है, इसलिए ईश्वर का नाम 'शुक्र' है।

'यः शनैश्चरति स शनैश्चरः' जो सब में सहज से प्राप्त धैर्यवान् है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'शनैश्चर'** है।

'यो रहति परित्यजति दुष्टान् राहयति त्याजयति वा स राहुरीश्वरः' जो एकान्तस्वरूप, जिसके स्वरूप में दूसरा पदार्थ संयुक्त नहीं, जो दुष्टों को छोड़ने और अन्य को छुड़ानेहारा है, इससे परमेश्वर का नाम **'राहु'** है।

'यः केतयति चिकित्सति वा स केतुरीश्वरः' जो सब जगत् का निवासस्थान, सब रोगों से रहित, और मुमुक्षुओं को मुक्ति-समय में सब रोगों से छुड़ाता है, इसलिये उस परमात्मा का नाम **'केतु'** है।

यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु इस धातु से 'यज्ञ' शब्द सिद्ध होता है। **'यज्ञो वै विष्णुः'** यह शत॰ ब्राह्मणग्रन्थ [१३।१।८।८] का वचन है। **'यो यजति विद्वद्भिरिज्यते वा स यज्ञः'** जो सब जगत् के पदार्थों को संयुक्त करता, और सब विद्वानों का पूज्य है, और ब्रह्मा से लेके सब ऋषि-मुनियों का पूज्य था, है और होगा; इससे उस परमात्मा का नाम **'यज्ञ'** है। यज्ञ विष्णु को भी कहते हैं; क्योंकि वह सर्वत्र व्यापक है।

---

२. **आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।**
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥ मनु० १।१०॥

'यो जुहोति स होता' जो जीवों को देने योग्य पदार्थों का दाता और उससे ग्रहण करने योग्य पदार्थों का ग्राहक अर्थात् ले लेने वाला है, इससे उस ईश्वर का नाम **'होता'** है।

'यः स्वस्मिन् चराचरं जगद् बध्नाति, बन्धुवद्धर्मात्मनां सुखाय सहायो वा वर्त्तते स बन्धुः' जिसने अपने में सब लोकलोकान्तरों को नियमों से बद्ध कर रखा है, और सहोदर के समान सहायक है। इसी कारण से सब भूत अपनी-अपनी परिधि वा नियम का उल्लंघन नहीं कर सकते। जैसे भ्राता भाइयों का सहायकारी होता है, वैसे परमेश्वर भी पृथिव्यादि लोकों के धारण रक्षण और सुख देने से **'बन्धु'** संज्ञक है।

'यः पाति सर्वान् स पिता' जो सबका रक्षक, जैसे पिता अपने सन्तानों पर सदा कृपालु होकर उनकी उन्नति चाहता है, वैसे ही परमेश्वर सब जीवों की उन्नति चाहता है, इससे उसका नाम **'पिता'** है।

'यः पितॄणां पिता स पितामहः' जो पिताओं का भी पिता है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'पितामह'** है।

'यः पितामहानां पिता स प्रपितामहः' जो पिताओं के पितरों का भी पिता है; इससे परमेश्वर का नाम **'प्रपितामह'** है।

'यो मिमीते मानयति सर्वाञ्जीवान् स माता' जैसे पूर्णकृपायुक्त जननी अर्थात् माता अपने सन्तानों का सुख और उन्नति चाहती है, वैसे परमेश्वर भी सब जीवों की बढ़ती चाहता है, इससे परमेश्वर का नाम **'माता'** है।

'य आचारं ग्राहयति सर्वा विद्या बोधयति स आचार्य ईश्वरः' जो सत्य आचार का ग्रहण करानेहारा और सब विद्याओं की प्राप्ति का हेतु होके जीव को सर्गादि में सब विद्या प्राप्त कराता है, इससे परमेश्वर का नाम **'आचार्य'** है।

'यो धर्म्यान् शब्दान् गृणात्युपदिशति स 'गुरुः'।
स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ योग० १।२६॥

जो सत्यधर्मप्रतिपादक सकलविद्यायुक्त वेदों का उपदेश करता, सृष्टि की आदि में अग्नि वायु आदित्य अङ्गिरा और ब्रह्मादि गुरुओं का भी गुरु, और जिसका नाश कभी नहीं होता, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'गुरु'** है।

'योऽजति सृष्टिं प्रति सर्वान् प्रकृत्यादीन् पदार्थान् प्रक्षिपति, जनयति वा कदाचिन्न जायते सोऽजः' जो सब प्रकृति के अवयव आकाशादि भूत परमाणुओं को यथायोग्य मिलाता, शरीर के साथ जीवों का सम्बन्ध करके जन्म देता, और स्वयं कभी जन्म नहीं लेता, इससे उस ईश्वर का नाम **'अज'** है।

'योऽखिलं जगन्निर्माणेन बर्हति बृंहति बर्द्धयति स ब्रह्मा' जो सम्पूर्ण जगत् को रचके बढ़ाता है, इसलिये परमेश्वर का नाम **'ब्रह्मा'** है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यह तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मा० वल्ली का वचन है। इसमें परमेश्वर को **सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म** कहा है।[1]

जो पदार्थ हों, उनको 'सत्' कहते है। उनमें साधु होने से परमेश्वर का नाम **'सत्य'** है। जो चराचर जगत् का जाननेवाला है, इससे परमेश्वर का नाम **'ज्ञान'** है। जिसका अन्त अवधि मर्यादा, अर्थात् इतना लम्बा-चौड़ा छोटा-बड़ा है, ऐसा परिमाण नहीं है, इसलिये परमेश्वर का नाम **अनन्त** है।

'यस्मात् पूर्वं नास्ति परं चास्ति स आदिरित्युच्यते।' यह पतञ्जलि महाभाष्य १।१।२० का वचन है। **'न विद्यते आदिः कारणं यस्य सोऽनादिरीश्वरः'** जिसके कुछ पूर्व न हो और परे हो, उसको **'आदि'** कहते हैं। जिसका आदि कारण कोई भी नहीं है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'अनादि'** है।

'आनन्दन्ति सर्वे मुक्ता यस्मिन्, यद्वा यः सर्वान् जीवानानन्दयति स आनन्दः' जो आनन्दस्वरूप, जिसमें सब मुक्त जीव आनन्द को प्राप्त होते, और जो सब धर्मात्मा जीवों को आनन्दयुक्त करता है, इससे ईश्वर का नाम **'आनन्द'** है।

'यदस्ति त्रिषु कालेषु न बाध्यते तत्सद् ब्रह्म' जो सदा वर्तमान, भूत भविष्यत् वर्त्तमान कालों में जिसका बाध न हो, उस परमेश्वर को **'सत्'** कहते हैं।

'यश्चेतति चेतयति संज्ञापयति सर्वान् सज्जनान् योगिनस्तच्चित् परं ब्रह्म' जो चेतनास्वरूप, सब जीवों को चिताने और सत्यासत्य का

---

१. **'सन्तीति सन्तः, तेषु सत्सु साधु तत्सत्यम्'; 'यज्जानाति चराऽचरं जगत्तज्ज्ञानम्'; 'न विद्यतेऽन्तोऽवधिर्मर्यादा यस्य तदनन्तम्' 'सर्वेभ्यो बृहत्वाद् ब्रह्म'।**

जाननेहारा है, इसलिये उस परमात्मा का नाम **'चित्'** है। इन तीनों शब्दों के विश्लेषण होने से परमेश्वर को **'सच्चिदानन्दस्वरूप'** कहते हैं।

'यो नित्यध्रुवोऽचलोऽविनाशी स नित्यः' जो निश्चल अविनाशी है, सो **'नित्यः'** शब्द वाच्य ईश्वर है।

'यः शुन्धति सर्वान् शोधयति वा स शुद्ध ईश्वरः' जो स्वयं पवित्र, सब अशुद्धियों से पृथक्, और सबको शुद्ध करने वाला है, इससे उस ईश्वर ईश्वर का नाम **'शुद्ध'** है।

'यो बुद्धवान् सदैव ज्ञाताऽस्ति स बुद्धो जगदीश्वरः' जो सदा सबको जाननेहारा है, इससे ईश्वर का नाम **'बुद्ध'** है।

'यो मुञ्चति मोचयति वा मुमुक्षून् स मुक्तो जगदीश्वरः' जो सर्वदा अशुद्धियों से अलग, और सब मुमुक्षुओं को क्लेश से छुड़ा देता है, इसलिए परमात्मा का नाम **'मुक्त'** है। **'अत एव नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो जगदीश्वरः'** इसी कारण से परमेश्वर नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला है।

'निर्गत आकारात् स निराकारः' जिसका आकार कोई भी नहीं, और न कभी शरीर धारण करता है, इसलिये परमेश्वर का नाम **'निराकार'** है।

'अञ्जनं व्यक्तिर्म्लक्षणं कुकाम, इन्द्रियैः प्राप्तिश्चेत्यस्माद् यो निर्गतः पृथग्भूतः स निरञ्जनः' जो व्यक्ति अर्थात् आकृति, मलेच्छाचार, दुष्टकामना और चक्षुरादि इन्द्रियों के विषयों के पथ से पृथक् है, इससे उस ईश्वर का नाम **'निरञ्जन'** है।

'गण' शब्द आगे 'ईश' वा 'पति' शब्द रखने से 'गणेश' और 'गणपति' शब्द सिद्ध होते हैं। **'ये प्रकृत्यादयो जड़ा जीवाश्च गण्यन्ते संख्यायन्ते तेषां गणानामीशः स्वामी पतिः पालको वा'** जो गणों अर्थात् प्रकृत्यादि जड़ और सब जीव व प्रख्यात पदार्थों का स्वामी वा पालन करनेहारा है, इससे उस ईश्वर का नाम **'गणेश'** वा **'गणपति'** है।

'यो विश्वमीष्टे स विश्वेश्वरः' जो संसार का ईश अर्थात् अधिष्ठाता है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'विश्वेश्वर'** है।

यः कूटेऽनेकविध व्यवहारे स्वस्वरूपेणैव तिष्ठति स कूटस्थः परमेश्वरः' जो सब व्यवहारों में व्याप्त, और सब व्यवहारों का आधारहोके भी किसी व्यवहार में अपने स्वरूप को नहीं बदलता, इससे परमेश्वर नाम **'कूटस्थ'** है।

जितने **'देव'** शब्द के अर्थ पूर्व लिखे हैं, उतने ही **'देवी'** शब्द के अर्थ होते हैं। इससे ईश्वर का नाम **'देवी'** है।

'यः सर्वं जगत् कर्तुं शक्नोति स शक्तिः' जो सब जगत् के बनाने में समर्थ है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'शक्ति'** है।

'यः श्रीयते सेव्यते सर्वेण जगता विद्वद्भिर्योगिभिश्च स श्रीरीश्वरः' जिसका सेवन सब जगत् विद्वान् और योगीजन करते हैं; इससे उस परमात्मा का नाम **'श्री'** है।

'यो लक्षयति पश्यत्यङ्क्ते चिन्हयति चराऽचरं जगत् अथवा वेदैराप्तैर्योगिभिश्च यो लक्ष्यते स लक्ष्मीः सर्वप्रियेश्वरः' जो सब चराचर जगत् को देखता, चिह्नित अर्थात् दृश्य बनाता, जैसे शरीर के नेत्र नासिका और वृक्ष के पत्र-पुष्प फल-मूल, पृथिवी जल के कृष्ण रक्त श्वेत मृत्तिका, पाषाण, चन्द्रसूर्यादि चिह्न बनाता तथा सबको देखता, सब शोभाओं की शोभा और जो वेदादिशास्त्र वा धार्मिक-विद्वान् योगियों का लक्ष्य अर्थात् देखने योग्य है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'लक्ष्मी'** है।

'सरो [नाम] विविधं ज्ञानं, [तद्] विद्यते यस्यां चितौ सा सरस्वती' सर अर्थात् विविधज्ञान। जिसको विविध ज्ञान, अर्थात् शब्द अर्थ सम्बन्ध प्रयोग का ज्ञान यथावत् होवे, इससे उस परमेश्वर का नाम **'सरस्वती'** है।

'सर्वाः शक्तयो विद्यन्ते यस्मिन् स सर्वशक्तिमानीश्वरः जो अपने कार्य करने में किसी अन्य की सहायता की इच्छा नहीं करता, अपने ही सामर्थ्य से अपने सब काम पूरा करता है, इसलिये उस परमात्मा का नाम **'सर्वशक्तिमान्** है।

'न्यायं कर्त्तुं शीलमस्य स न्यायकारीश्वरः' जिसका न्याय अर्थात् पक्षपातरहित धर्म ही का स्वभाव है, इससे उस ईश्वर का नाम **'न्यायकारी'** है।[1]

'दयते ददाति जानाति गच्छति रक्षति हिनस्ति यया सा दया, बह्वी दया विद्यते यस्य स दयालुः परमेश्वरः' जो अभय का दाता, सत्यासत्य

---

१. **'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः'** यह वचन न्यायसूत्रों पर वात्स्यायन-मुनिकृत भाष्य का है। **'पक्षपातराहित्याचरणं न्यायः'** जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों की परीक्षा से सत्य-सत्य सिद्ध हो, तथा पक्षपातरहित धर्मरूप आचरण है, वह **'न्याय'** कहाता है।

और सर्वविद्याओं का जानने, सब सज्जनों की रक्षा करने और दुष्टों को यथायोग्य दण्ड देने वाला है, इससे परमात्मा का नाम **'दयालु'** है।

'द्वयोर्भावो द्वाभ्यामितं सा द्विता[1] द्वीतं वा, सैव तदेव वा द्वैतम्, न विद्यते द्वैतं द्वितीयेश्वरभावो यस्मिंस्तदद्वैतम् अर्थात् सजातीय-विजातीयस्वगतभेदशून्यं ब्रह्म'

दो का होना वा दोनों से युक्त होना वह द्विता वा द्वीत, अथवा द्वैत कहाता है। इस द्वैत से जो रहित है, वह अद्वैत होता है। सजातीय भेद जैसे मनुष्य का सजातीय दूसरा मनुष्य होता है, विजातीय भेद जैसे मनुष्य से भिन्न जाति वाला वृक्ष पाषाणादि और स्वगत भेद अर्थात् एक ही शरीर में जैसे आंख नाक कान आदि अवयवों का भेद है, वैसा भेद अर्थात् द्वैत भाव परमेश्वर में नहीं है। क्योंकि वह वैसे दूसरे स्वजातीय ईश्वर वा विजातीय ईश्वर वा अपने आत्मा में तत्वान्तर वस्तुओं से रहित एक परमेश्वर है, इससे परमात्मा का नाम **'अद्वैत'** है।

'गुण्यन्ते ये ते गुणा वा यैर्गुणयन्ति ते गुणाः, यो गुणेभ्यो निर्गतः स निर्गुण ईश्वरः' जितने सत्व रज तम और शब्द रूप रस स्पर्श गन्ध रूप जड़ प्रकृति के गुण हैं तथा अविद्या, अल्पज्ञता राग-द्वेष और अविद्यादि क्लेश जीव के गुण हैं, उनसे जो पृथक् अर्थात् रहित है, इससे परमात्मा का नाम **'निर्गुण'** है।

'यो गुणैः सह वर्त्तते स सगुणः' जो सर्वज्ञता, सर्वसुख, पवित्रता, अनन्तबलादि गुणों से युक्त है, इसलिये परमेश्वर का नाम **'सगुण'** है।

जैसे पृथिवी गन्धादि गुणों से युक्त होने से **'सगुण'** और इच्छादि गुणों से रहित होने से 'निर्गुण' है, वैसे जगत् और जीव के गुणों से पृथक् होने से परमेश्वर 'निर्गुण' और सर्वज्ञादि गुणों से सहित होने से 'सगुण' है। अर्थात् इस ब्रह्माण्ड में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो सगुणता और निर्गुणता से पृथक् हो। जैसे चेतन के गुणों से पृथक् होने से जड़ पदार्थ

---

१. द्विता शब्द का मुख्यार्थ है 'भेद'। ग्रन्थकार ने भी उत्तरवाक्य में यही अर्थ स्वीकार किया है। इस दार्शनिक दृष्टि से ब्रह्म जीव प्रकृति तीन को अनादि मानने वाला दर्शन भी द्वैतवादी कहा जा सकता है। परन्तु आर्यसमाज में व्यवहृत 'त्रैतवाद' शब्द इसलिये दार्शनिक है, क्योंकि यह त्रित्व अर्थात् त्रैत तीन पदार्थों को अनादि नित्य सत् मानता है।

निर्गुण, और अपने गुणों से सहित होने से जड़ पदार्थ सगुण भी होते है, वैसे ही जड़ प्रकृति के गुणों से पृथक् होने से जीव 'निर्गुण' और इच्छा ज्ञान आदि अपने गुणों से सहित होने से 'सगुण' होते हैं। ऐसे ही परमेश्वर में भी सगुणता और निर्गुणता को समझना चाहिए।

'अन्तर्यन्तुं नियन्तुं शीलं यस्य सोऽयमन्तर्यामी' जो सब प्राणी और अप्राणिरूप जगत् के भीतर व्यापक होके सबका नियम करता है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम **'अन्तर्यामी'** है।

'यो धर्मे राजते स धर्मराजः' जो धर्म ही में प्रकाशमान, और अधर्म से रहित, धर्म ही का प्रकाश करता है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम **'धर्मराज'** है।[1]

'यः सर्वान् प्राणिनो नियच्छति स यमः' जो सब प्राणियों के कर्मफल देने की व्यवस्था करता, और सब अन्यायों से पृथक रहता है, इसलिये परमात्मा का नाम **'यम'** है।

'भगः सकलैश्वर्यं सेवनं वा विद्यते यस्य स भगवान्' जो समग्र ऐश्वय से युक्त, वा भजने के योग्य है, इसीलिये उस ईश्वर का नाम **'भगवान्'** है।

'यो मन्यते स मनुः' जो मनु अर्थात् विज्ञानशील और मानने योग्य है, इसलिये उस ईश्वर का नाम **'मनु'** है।

'यः स्वव्याप्त्या चराऽचरं जगत् पृणाति पूरयति वा स पुरुषः' जो सब जगत् में पूर्ण हो रहा है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम **'पुरुष'** है।

'यो विश्वं बिभर्ति धरति पुष्णाति वा स विश्वम्भरो जगदीश्वरः' जो जगत् का धारण और पोषण करता है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम **'विश्वम्भर'** है।

'कलयति संख्याति सर्वान् पदार्थान् स कालः' जो जगत् के सब पदाथ और जीवों की संख्या करता है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम **'काल'** है।

यः **शिष्यते स शेषः'** जो उत्पत्ति और प्रलय से शेष अर्थात् बच रहा है इसलिये उस परमात्मा का नाम **'शेष'** है।

'यः सर्वान् धर्मात्मन आप्नोति वा सर्वैर्धर्मात्मभिराप्यते छलादिर-

---

१. यो सर्वेषां धर्माणां राजा अर्थात् जो जीव और प्रकृति के सब स्वभाविक नैमित्तिक धर्मों-गुणों का अधिष्ठाता है (ग्र० क०)

हितः स आप्तः' जो सत्योपदेशक सकल-विद्यायुक्त सब धर्मात्माओं को प्राप्त होता और सब धर्मात्माओं से प्राप्त होने योग्य, छल-कपटादि से रहित है, इसलिये उस परमात्मा का नाम '**आप्त**' है।

'**यः शङ्कल्याणं सुखं करोति स शङ्करः**' जो कल्याण अर्थात् सुख का करनेहारा है, इससे उस ईश्वर का नाम '**शङ्कर**' है।

'महत्' शब्दपूर्वक 'देव' शब्द से 'महादेव' शब्द सिद्ध होता है। '**यो महतां देवं स महादेवः**' जो महान् अर्थात् देवों का देव है अर्थात् विद्वानों का का भी विद्वान् और सूर्यादि प्रकाशमान पदार्थों का प्रकाशक है, इसलिये उस परमात्मा का नाम '**महादेव**' है।

'**यः पृणाति प्रीयते वा स प्रियः**' जो सब धर्मात्माओं मुमुक्षुओं और शिष्टों को प्रसन्न करता, और सबको कामना के योग्य है, इसलिये उस ईश्वर का नाम '**प्रिय**' है।

'**यः स्वयम्भवति स स्वयम्भूरीश्वरः**' जो आप से आप ही है, किसी से कभी उत्पन्न नहीं हुआ है, इससे उस परमात्मा का नाम '**स्वयम्भू**' है।

'**यः कौति शब्दयति सर्वा विद्याः स कविरीश्वरः**' जो वेदद्वारा सब विद्याओं का उपदेष्टा और वेत्ता है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम '**कवि**' है।

'**यः शिवयति स शिव ईश्वरः**' जो कल्याणस्वरूप और कल्याण का करने हारा है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम '**शिव**' है।

ये सौ[1] नाम परमेश्वर के ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में लिखे हैं; परन्तु इनसे भिन्न परमात्मा के असंख्य नाम हैं। क्योंकि जैसे परमेश्वर के अनन्त गुण-कर्म-स्वभाव हैं, वैसे उसके अनन्त नाम भी होते हैं। उनमें से प्रत्येक गुण-कर्म और स्वभाव का एक-एक नाम है। इससे वहां लिखे नाम समुद्र के सामने बिन्दुवत् हैं। क्योंकि वेदादिशास्त्रों में परमात्मा के

---

[1]पुनरुक्त नामों के व्याख्यानों का परित्याग करनेपर सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में १०४ नामों का व्याख्यान मिलता है। यदि परस्पर सम्बद्ध तथा पृथक् रूप से व्याख्यात नामों का एकीकरण किया जाये, यथा—'सत् चित् आनन्द=सच्चिदानन्द' तो यह संख्या १०० से कम हो जाती है।

असंख्य गुण-कर्म-स्वभाव व्याख्यात किये हैं। उन वेदादि शास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने से उनका यथावत् वोध हो सकता है। और चराचर जगत् में अन्य पदार्थों का ज्ञान भी उन्हीं को पूरा-पूरा हो सकता है, जो वेदादिशास्त्रों को विवेक से पढ़ते-पढ़ाते हैं।

आगे कुछ अन्य नाम ऋषि दयानन्द के अन्य ग्रन्थों से लिखते हैं।

ये सब परमेश्वर के नाम हैं (पं० म० य० वि०। ल० सं० ३२५)।

प्राण—'यः प्राणयति जीवयति सर्वान् प्राणिनः स प्राणः परमेश्वरः' अर्थात् जो सब जगत् का प्राणदाता अर्थात् जीने का हेतु है, इससे परमेश्वर का नाम '**प्राण**' है (सं० वि० ३१३-३१५)

२. यश्चेतरान्भूतान् पृथक्पृथगेव संनिधत्ते' अर्थात् जो सब जीवों तथा प्रकृति के परमाणुओं को अपने कार्य में पृथक्-पृथक् स्थापित करता है (प्रश्नो. प्र० २) ॥

अपान—'योऽपानयति दूरीकरोति प्राणिनां सर्वदुःखमिति स अपानो दयालुरीश्वरोऽस्ति' अर्थात् जो सब प्राणियों को दुःखों से अलग करके सर्वदा सुख में रखता है इसलिए परमेश्वर का नाम '**अपान**' है। (स० वि० ३१३-३१५)।

२. 'यश्च प्रलयकाले जीवान् परमाणूँश्च अपनयति पृथक्-पृथक् करोति' अर्थात् प्रलय के समय सब जीवों व प्रकृति के परमाणुओं को वियुक्त करके रखता है। इसलिए परमेश्वर का नाम '**अपान**' है।

व्यान—'यो व्यानयति चेष्टयति प्राणादिसकलं जगत् स व्यानः, सर्वाधिष्ठानं वृहद् ब्रह्म परमेश्वरः' अर्थात् जो सब प्राणादि सकल जगत् को नियम में चलाता है और नियम में रखता है, इससे परमेश्वर का नाम '**व्यान**' है (सं० वि० ३१३, ३१५)।

समान[1]—'यः समानयति समं नयतीति स 'समानः समदर्शी परमेश्वरः' अर्थात् जो सब जीवों को समान रूप से सृष्टि के सुख भुगाता है, कर्मों के अनुसार उनका ठीक-ठीक फल देता है, इससे परमेश्वरका नाम '**समान**' है।

उदान—'य उदानयति; उदान ऊर्ध्वो भवति; पुण्येन पुण्यं लोकं

---

[1]समान उदान आदि का निर्वचन मुख्यतः प्रश्नोपनिषद् के आधार पर किया है।

नयति, पापेन पापं, उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्, स उदान मोक्षप्रदाता परमेश्वरः' अर्थात् जो सबसे ऊपर विराजमान सब जीवों को पुण्य कर्मों से पुण्यलोक, पाप कर्मों से तिर्यङ् योनि और पाप पुण्य समान होने से मनुष्य जन्म देता है और इस प्रकार जन्ममरण के चक्र से छुड़ा अर्थात् अभ्युदय प्राप्त करा मोक्ष की उच्चदशा प्राप्त कराता है; इससे उस परमेश्वर का **'उदान'** नाम है।

भग— भजनीय सेवनीय स्वरूप और सकल ऐश्वर्ययुक्त होने से (सं० वि० २२३, १७३, १७३) परमात्मा का नाम **'भग'** है।

सोम—अन्तर्यामी प्रेरक (स० वि० २२३)

'सर्वानन्दप्रदो यः सर्वजगदुत्पादकः ईश्वरः' जो सब पदार्थों को उत्पन्न और पुष्ट करने से सब सुख देनेहारा है, उसको **'सोम'** कहते हैं (प० म० य० वि० । ल० ग्र० सं० ३३६, ३३७ तथा ऋ०वे० भा० भू०)।

राजा—सबका प्रकाशक (सं० वि० २२३)

सम्राट्—सब राजाओं के महाराज (आ० वि २/१७ । ल० ग्र० सं० १०६)।

शम्भव—'यः सुखस्वरूपः परमेश्वरः' अर्थात् सुखस्वरूप होने से परमेश्वर का नाम **'शम्भव'** है (सं० म० य० वि० । ल० ग्र० सं० ३१६) अथवा मोक्ष सुखस्वरूप और मोक्ष सुख का दाता होने से (आ० वि० २। २६ । ल० ग्र० सं० ११२) 'शम्भव' पद से परमात्मा का ग्रहण होता है।

शम्भूः—'शं भावयतीति शांति करोति' जो सब प्राणियों को सुख-शान्ति प्राप्त करता है ; इससे परमेश्वर का नाम **'शम्भु'** है।

रस—१. 'नित्यानन्दं अमृतं मोक्षस्वरूपं ब्रह्म' अर्थात् नित्यानन्द मोक्षस्वरूप होने से **रस** परमेश्वर का नाम है (पं. म. य. वि. । ल. ग्र. स. ३२५)।

२. 'सोमलतादिरसविज्ञानानन्द प्रदाता' रस अर्थात् सोमलतादि ओषधि, जलविद्या और विद्यानन्दादि का देनेहारा (ऋ. वे. भा. भू । पं. म. य. विषय)।

क—१. सुखस्वरूप सुखदायक (सं. वि. ८--९)।

२. **'चिकेतीति कः'** जो सब कुछ जानता है। क्षत्रसृष्टि और क्षेत्रज्ञ =भोक्ता जीव, दोनों का ज्ञान रखने वाला (वायु. पु., पू० ख. ४०)

३. **'प्रजापतिर्वै कः'**—(तैत्ति० ब्रा० २ । २ । ५५) । सब प्रजा का पालन करने वाला (स. वि. १८१) स्वामी (तु. लौगाक्षी गृ. सू० २५ । ८) और

४. **'कं ब्रह्म खं ब्रह्म'** (छान्दो. ४-१०-५) । ब्रह्म अर्थात् जो गुण, कर्म और स्वरूप में सबसे बड़ा अर्थात् अधिक है, (तु. दया. यजु. भाष्य ४० । १७) इसलिये **'क'** नाम परमात्मा का है।

ख—आकाश के तुल्य व्यापक होने से 'ख' ईश्वर का नाम है (दया. यजु. भाष्य ४० । १७) ।। कं ब्रह्म खं ब्रह्म (छा. ४०-१०-५) 'ख' ब्रह्म अर्थात् परमात्मा का नाम है।

धाता - 'दधाति सकलं जगत् पोषयति वा स धातेश्वरः' सब जगत् का धारण और पोषण करनेहारा होने से (स. वि. १६२, ३०२) **'धाता'** परमेश्वर का नाम है।

विधाता—'विदधाति विधानं करोति' (सं. वि. ३०१ के अनुसार) जो सब जगत् का विधान करता है अर्थात् रचना करता है, इससे ईश्वर का नाम **विधाता** है। अथवा जो सब कामों का पूर्ण करनेहारा (सं. वि. १०) । सब मोक्ष सुखादि कामों का विधायक=सिद्धिकर्ता (आ. वि. २ । ४२ ल. ग्र. सं. १२४), होने से **'विधाता'** परमात्मा का नाम है।

स्विष्टकृत्—'यः सुष्ठु शोभनमिष्टं सुखं करोति स ईश्वरः' (पं. म. य. वि. । ल. ग्र. सं. ३३७ तथा ऋ. वे. भा. भू.) । अर्थात् जो इष्ट सुख करानेहारा परमेश्वर है, वही **'स्विष्टकृत्'** कहाता है।

श्री—'श्रीयते सेव्यते सर्वैर्जनैस्सः श्री ईश्वरस्सर्वसुख शोभा वहत्वात् गृह्यते । अर्थात् जो सबके सेवा करने योग्य परमात्मा है (पं. म. य. वि. । ल. ग्र. सं. ३३९ । ऋ. वे. भा. भू.) और सब जिसका आश्रय करते हैं, इससे **'श्री'** परमात्मा का नाम है।

भद्रकाली—'भद्रं कल्याणकारकं गुणकर्मस्वभावं पदार्थांश्च' (द्र. ऋ. १. । १६ भी.सं. वि. ७). तत्कालयितुं गमयितुं प्रापयितुं शीलमस्याः सा भद्रकाली ईश्वरः' जो कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव और कल्याणकारक पदार्थों को जीव के कर्मानुसार देने का स्वभाव व सामर्थ्य वाला है, इससे परमेश्वर का नाम **'भद्रकाली'** है।

रात्रिः—'सर्वस्यादाता धारक आनन्दप्रदश्चेश्वरः' (ल. ग्र. सं. ३४५) सब जगत् का धारक और आनन्दप्रद होने से परमेश्वर का नाम 'रात्रि' है।

अहः—'अहः स्वप्रकाशस्वरूपः' (ल. ग्र. सं. ३४५) स्वप्रकाशस्वरूप होने से परमेश्वर का नाम 'अहः' है।

भूः—भूरिति वै प्राणः (तैत्ति. उप. ७। ६) 'प्राणयति जीवयति सर्वान् प्राणिनः स प्राणः प्राणादपि प्रियस्वरूपो वा' (स. वि. ३१३) अर्थात् जो सब जगत् के जीने का हेतु और प्राण से भी प्रिय है; इससे परमेश्वर का नाम 'भूः' है (सं. वि ३१३; ३१५)। प्राणदाता (सं. वि. १६३)।

भुवः—भुवरित्यपानः (तैत्ति. उप. ७।६) 'यो मुमुक्षूणां मुक्तानां स्वसेवकानां धर्मात्मनां सर्वं दुःखमपानयति दूरी करोति स अपानः'। अर्थात् जो मुक्ति की इच्छा करने वालों, मुक्तों और अपने सेवक धर्मात्माओं को सब दुःखों से अलग करके सर्वदा सुख में रखता है, इसलिये परमेश्वर का नाम 'भुवः' है (सं. वि. ३१३।३१५) सब दुःखों का दूर करनेहारा (सं. वि. १६३)।

स्वः—स्वरिति व्यानः (तैत्ति. उप. ७।६) 'यदभिव्याप्य व्यानयति चेष्टयति प्राणादि सकलं जगत् स व्यानः सर्वाधिष्ठानं बृहद् ब्रह्मेति' अर्थात् जो सब जगत् में व्यापक होके सबको नियम में रखता और सबके ठहरने का स्थान तथा सुखस्वरूप है, इससे परमेश्वर का नाम 'स्वः' है। (सं. वि. ३१३; ३१५)। सब सुखों का दाता (सं. वि. १६३)॥

महः—'सर्वेभ्यो महान् सर्वैः पूज्यश्च' अर्थात् सबसे बड़ा और सबका पूज्य होने से परमेश्वर को 'महः' कहते हैं (सं. वि. २९९)।

जनः—'सर्वेषां जनकत्वात् जनः परमेश्वरः' अर्थात् सब जगत् का जनक उत्पादक होने से परमेश्वर का 'जन' नाम है (सं. वि. २९९)।

तपः—'दुष्टानां सन्ताप कारकत्वात् स्वयं ज्ञानस्वरूपत्वाच्च तपः ईश्वरः' अर्थात् दुष्टों को सन्तापकारी और ज्ञानस्वरूप होने से ईश्वर को 'तप' कहते हैं (सं. वि. २९९)।

सत्यम्—यदविनाशि, यस्य कदाचिद् विनाशो न भवेत्, तत् सत्यम्' अर्थात् अविनाशी होने से परमेश्वर का नाम 'सत्य' है (सं. वि. २९९)।

प्रश्न—यह समझ में आ गया कि वेदादि शास्त्रों में परमेश्वर के असंख्य नाम हैं, परन्तु परमेश्वर का स्मरण किस नाम से करना योग्य है ?[१]

उत्तर—वेद की आज्ञा है कि **ओ३म् क्रतो स्मर** ॥ (**क्रतो**) हे कर्म करने कराने वाले जीव! तू (**ओ३म्**) इस नाम वाच्य ईश्वर को (**स्मर**) स्मरण कर ।[२] यह सुलक्षणों से युक्त पुत्र के तुल्य प्राणों से प्यारा ईश्वर का निज नाम है[२] । अर्थात् जैसे पिता और पुत्र का प्रिय सम्बन्ध है, वैसे ही परमेश्वर के साथ ओङ्कार का सम्बन्ध है ।[२]

ओऽम्प्रतिष्ठ । यह यजुः का वचन है । हे ओंकार-पद वाच्य जगदीश्वर ! आप इस संसार वा विद्वानों के हृदय में कृपा कर प्रतिष्ठित हूजिये और वेद विद्या को स्थापन कीजिए ।[३]

प्रश्न—नाम स्मरण का फल क्या है ?

उत्तर—नाम स्मरण मात्र से कुछ भी फल नहीं होता । जैसे कि मिशरी-मिशरी कहने से मुँह मीठा और नीम-नीम कहने से कड़ुवा नहीं होता; किन्तु जीभ से चाखने ही से मीठा वा कड़वापन जाना जाता है (स. प्र. ११ समु.) ।

प्रश्न—क्या नाम लेना सर्वथा मिथ्या है ?

उत्तर—नाम लेने की तुम्हारी नीति पुराणोक्त होने से उत्तम नहीं । जिस प्रकार तुम नामस्मरण करते हो, वह रीति वेदविरुद्ध होने से झूठी है (स. प्र. ११ समु. । ४६०) ।

प्रश्न—भला अब आप हमको वेदोक्त नामस्मरण की रीति बतलाइये ।

उत्तर—नामस्मरण इस प्रकार करना चाहिये—जैसे 'न्यायकारी' ईश्वर का एक नाम है । इस नाम से जो इसका अर्थ है कि जैसे पक्षपातरहित होकर परमात्मा सबका यथावत् न्याय करता है, वैसे उसको ग्रहण

---

१. प्रसङ्ग दर्शाने के लिए प्रश्नोत्तर रूप हमने बनाया है । भाषा का परिवर्तन भी किया है ।

२. द्र. ऋषिदया. यजु. भाष्य ४० । १५ ॥ तथा भावार्थ ॥

३. द्र. ऋषिदया. यजुः भाष्य । अ. २ । १३ मन्त्र का भावार्थ ॥

कर न्याययुक्त व्यवहार सर्वदा करना. अन्याय कभी न करना। इस प्रकार एक नाम के जप से भी मनुष्य का कल्याण हो सकता है।

प्रश्न – जो जो... नाम का माहात्म्य अर्थात् ... हरि इन अक्षरों का नामोच्चारण सब पापों को हर लेता है; वैसे ही राम, कृष्ण, शिव, भगवती आदि नामों का माहात्म्य है...इत्यादि वातें सच्ची हैं वा नहीं।

उत्तर—नहीं।... इनके मिथ्या होने में क्या शङ्का है? क्योंकि ...राम कृष्ण नारायण शिव और भगवती नाम स्मरण से पाप कभी नहीं छूटता। जो छूटे तो दुःखी कोई न रहे और पाप करने से कोई भी न डरे (स. प्र.११ समु. ४६०)।

प्रश्न—तो ... नाम स्मरण सत्य है वा नहीं ?

उत्तर–है **'नामस्मरण'** इसको कहते हैं कि—

यस्य नाम महद्यशः ॥ यजु० ॥

परमेश्वर का नाम बड़े यश अर्थात् धर्मयुक्त कामों का करना है।

जैसे-ब्रह्म परमेश्वर ईश्वर न्यायकारी दयालु सर्वशक्तिमान् आदि नाम परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव से हैं।

जैसेः— **'ब्रह्म'** सबसे बड़ा; **'परमेश्वर'**—ईश्वरों का ईश्वर; **'ईश्वर'** सामर्थ्ययुक्त; **'न्यायकारी'**–कभी अन्याय नहीं करता; **'दयालु'**–सबपर कृपा दृष्टि रखता; **'सर्वशक्तिमान्'**—अपने सामर्थ्य ही से सव जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय करता, सहाय किसी का नहीं लेता; **'ब्रह्मा'**–विविध जगत् के पदार्थों का बनानेहारा; **'विष्णु'**–सबमें व्यापक होकर रक्षा करता; **'महादेव'**–सब देवों का देव; **'रुद्र'**–प्रलय करनेहारा **आदि नामों** के अर्थों को अपने में धारण करे।

अर्थात् बड़े कामों से बड़ा हो, समर्थों में समर्थ हो, सामर्थ्यों को वढ़ाता जाय। अधर्म कभी न करे, सब पर दया रक्खे। सब प्रकार के साधनों को समर्थ करे। शिल्पविद्या से नाना प्रकार के पदार्थों को बनावे। सब संसार में अपने आत्मा के तुल्य सुख दुःख समझे। सबकी रक्षा करे, विद्वानों में विद्वान् होवे। दुष्ट कर्म करने वालों को प्रयत्न से दण्ड और सज्जनों की रक्षा करे।

इस प्रकार परमेश्वर के नामों का अर्थ जानकर परमेश्वर के गुण

कर्म स्वभाव [के अनुकूल अपने गुण कर्म स्वभाव] को करते जाना ही परमेश्वर का **'नामस्मरण'** है ।

प्रश्न—जैसे अन्य ग्रन्थकार लोग आदि मध्य और अन्त में मङ्गलाचरण करते हैं, वैसे आपने कुछ भी न लिखा, न किया ।

उत्तर—ऐसा हमको करना योग्य नहीं । क्योंकि जो आदि मध्य और अन्त में मङ्गल करेगा, तो उसके ग्रन्थ में आदि मध्य और अन्त के बीच में जो कुछ लेख होगा, वह अमङ्गल ही रहेगा । इसलिए—

मङ्गलाचरण शिष्टाचारात् फलदर्शनाच्छ्रुतितश्चेति, इस सांख्य शास्त्र (५।१) के वचनानुसार जो न्याय, पक्षपातरहित, सत्य वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा है, उसी का यथावत् सर्वत्र और सदा आचरण करना **'मङ्गलाचरण'** कहाता है । ग्रन्थ के आरम्भ से लेके समाप्तिपर्यन्त सत्याचार का व्याख्यान करना ही **'मङ्गलाचरण'** है, न कि कहीं मङ्गल और अमङ्गल लिखना । देखिये महाशय महर्षियों के लेख को—

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि ।।

यह तैत्ति. उप. शिक्षा. का वचन है ।

हे सन्तानो वा शिष्यो ! जो हमारे **'अनवद्य'** अनिन्दनीय अर्थात् धमयुक्त कर्म हैं, वे ही तुमको सेवन करने योग्य हैं; अधर्मयुक्त कर्म नहीं । इसलिये जो आधुनिक ग्रन्थों में **'श्रीगणेशाय नमः', 'सीतारामाभ्यां नमः', 'राधाकृष्णाभ्यां नमः', 'श्रीगुरुचरणारविन्दाभ्यां नमः', 'हनुमते नमः', 'दुर्गायै नमः', 'बटुकाय नमः', भैरवाय नमः', 'शिवाय नमः', 'सरस्वत्यै नमः', 'नारायणाय नमः',** इत्यादि लेख देखने में आते हैं, इनको बुद्धिमान् लोग वेद और शास्त्रों से विरुद्ध होने से मिथ्या ही समझते हैं । क्योंकि वेद और ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों में कहीं ऐसा मङ्गलाचरण देखने में नहीं आता ।

और आर्षग्रन्थों में मङ्गलाचरण के लिये **'ओ३म्'** तथा **'अथ'** शब्द तो देखने में आता है । देखो—

'अथ शब्दानुशासनम् । अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते ।।'
यह पतञ्जलि मुनि कृत व्याकरण महाभाष्य,
'अथातो धर्मजिज्ञासा' । अथेत्यानन्तर्ये, वेदाध्ययनानन्तरम् ।।
यह पूर्वमीमांसा,

'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः'। अथेति धर्मकथनानन्तर धर्मलक्षणं विशेषेण व्याख्यास्यामः। यह वैशेषिक दर्शन,

'अथ योगानुशासनम्'। अथेत्ययमधिकारार्थः॥ यह योगशास्त्र,

'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः'।

यह सांख्यशास्त्र और

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'॥ यह वेदान्तसूत्र का वचन है। इसी प्रकार

'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत'॥ यह छान्दोग्य उपनिषद् और

'ओमित्येतदक्षरमिद ङ्ग सर्वं तस्योपव्याख्यानम्'॥ यह माण्डूक्य उपनिषद् के आरम्भ का वचन है।

ऐसे ही अन्य ऋषि मुनियों के ग्रन्थों में 'ओ३म्' और 'अथ' शब्द लिखे हैं। वैसे ही अग्नि, इट्, अग्नि, ये त्रिषप्ताः परियन्ति ये शब्द चारों वेदों के आदि में लिखे हैं। श्रीगणेशाय नमः, श्रीसरस्वत्यै नमः इत्यादि शब्द कहीं नहीं। और आजकल जो वैदिक लोग वेद के आरम्भ में 'हरिः ओ३म्' लिखते और पढ़ते हैं, यह पौराणिक और तान्त्रिक लोगों की मिथ्या कल्पना से सीखे हैं। वेदादि शास्त्रों में 'हरि' शब्द ग्रन्थ के आदि में कहीं नहीं। इसलिये 'ओ३म्' वा 'अथ' शब्द ही ग्रन्थ के आदि में लिखना-लिखाना चाहिए।

यह किञ्चिन्मात्र ईश्वर के निजनाम, नाना नाम और नामस्मरण के विषय में लिखा है। इसके आगे शिक्षा के विषय में लिखा जायेगा।

इति प्रथमः प्रवाहः।

द्वितीयः प्रवाहः

आगे वर्णोच्चारण की शिक्षा और जिससे सन्तान उत्तम धार्मिक विद्वान् होते हैं, उस विषय को लिखते हैं।

'मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद'।।

यह शत. ब्रा. [१४।६।१०।२+कठ.उप.६।१४।२] का वचन है।

वस्तुतः जब तीन उत्तम शिक्षक, अर्थात् एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य होवे, तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है। वह कुल धन्य! वह सन्तान बड़ा भाग्यवान्! जिसके माता और पिता धार्मिक विद्वान् हों। जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुंचता है, उतना किसी से नहीं। जैसे माता सन्तानों पर प्रेम और उनका हित करना चाहती है, वैसे अन्य कोई नहीं करता। इसलिये **'मातृमान्'** अर्थात् **'प्रशस्ता धार्मिकी माता विद्यते यस्य स मातृमान्।'** धन्य वह माता कि जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो, तब तक सन्तान को सुशीलता का उपदेश करती है।

माता और पिता को अति उचित है कि गर्भाधान के पूर्व मध्य और पश्चात् मादकद्रव्य मद्य दुर्गन्ध रूक्ष बुद्धिनाशक पदार्थों का सेवन सर्वथा छोड़ और जो शरीर मन में शान्ति आरोग्य बल बुद्धि पराक्रम को बढ़ाने वाले पदार्थ हों, वैसे घृत-दुग्ध-मिष्ट-अन्नपान आदि श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन करें, कि जिससे रजस् वीर्य भी दोषों से रहित होकर अत्युत्तम-गुण-युक्त हो।

जब दोनों के शरीर में आरोग्य, परस्पर प्रसन्नता, किसी प्रकार का शोक न हो; तब जैसा वैद्यक ग्रन्थ चरक और सुश्रुत में भोजन-छादन का विधान और मनुस्मृति में स्त्री पुरुष की प्रसन्नता की रीति लिखी है, उसी प्रकार व्यवहार करें और वर्तें। गर्भाधान के पश्चात् स्त्री को बहुत सावधानी से भोजन-छादन करना चाहिए। तत्पश्चात् एक वर्ष-पर्यन्त स्त्री, पुरुष का संग न करे। बुद्धि-बल-रूप-आरोग्य-पराक्रम-शान्ति आदि

गुणकारक द्रव्यों ही का सेवन स्त्री करती रहे, कि जब तक सन्तान का जन्म न हो।

जब जन्म हो, तब अच्छे सुगन्धियुक्त जल से वालक को स्नान, नाड़ी-छेदन करके. सुगन्धियुक्त घृतादि का होम और स्त्री के भी स्नान-भोजन का यथायोग्य प्रवन्ध करे। जिससे वालक और स्त्री का शरीर क्रमशः आरोग्य और पुष्ट होता जाय। ऐसा पदार्थ उसकी माता खाये कि जिससे दूध में भी उत्तम गुण प्राप्त हों।

जन्म के पश्चात् वालक और उसकी माता को दूसरे स्थान में जहां का वायु शुद्ध हो वहां रक्खें। सुगन्धयुक्त तथा दर्शनीय पदार्थ भी रक्खें। और उस देश में भ्रमण कराना उचित है कि जहां का वायु शुद्ध हो। और जहां धायी गाय वकरी आदि का दूध न मिल सके, वहां जैसा उचित समझें वैसा करें।

इस प्रकार जो स्त्री वा पुरुष करेगा, उनके उत्तम सन्तान दीर्घायु वल पराक्रम की वृद्धि होती ही रहेगी, कि जिससे सव सन्तान उत्तम वल पराक्रमयुक्त दीर्घायु धार्मिक होंगे। स्त्री योनिसंकोच तथा योनिशोधन और पुरुष वीर्य का स्तम्भन करे। पुनः सन्तान जितने होंगे, वे भी सव उत्तम होंगे।

वालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करे। जिससे सन्तान सभ्य हों, और किसी अंग से कुचेष्टा न करने पावें। जव वोलने लगे, तव उसकी माता वालक की जिह्वा जिस प्रकार कोमल होकर स्पष्ट उच्चारण कर सके, वैसा उपाय करे, कि जो जिस वर्ण का स्थान प्रयत्न, अर्थात् जैसे 'प' इसका ओष्ठ स्थान और स्पृष्ट प्रयत्न दोनों ओष्ठों को मिलाकर वोलना, ह्रस्व दीर्घ प्लुत अक्षरों को ठीक-ठीक वोल सकना। मधुर, गम्भीर, सुन्दर स्वर अक्षर मात्रा, पद वाक्य, संहिता, अवसान, भिन्न-भिन्न श्रवण होवे।

जव वह कुछ-कुछ वोलने और समझने लगे, तव सुन्दर वाणी और वड़े-छोटे, मान्य पिता-माता, राजा, विद्वान् आदि से भाषण, उनसे वर्तमान और उनके पास बैठने आदि की भी शिक्षा करें, जिससे कहीं भी उनसे अयोग्य व्यवहार न हो और उनकी सर्वत्र प्रतिष्ठा हुआ करे। जैसे सन्तान जितेन्द्रिय विद्याप्रिय और सत्संग में रुचि करें, वैसा प्रयत्न माता-पिता सदा करते रहें।

उनको ऐसा सिखावें कि जिससे वे व्यथ क्रीड़ा, रोदन, हास्य, ईलड़ा, हर्ष, शोक, किसी पदार्थमें लोलुपता, ईर्ष्या-द्वेषादि न करें। ध्यान करें कि वे उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श न करें। सदा सत्यभाषण, शौर्य, धैर्य, प्रसन्नवदन आदि गुणों की प्राप्ति जिस प्रकार हो उस प्रकार करावें।

जब पांच-पांच वर्ष के लड़का-लड़की हों, तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करावें, अन्यदेशीय भाषाओं के अक्षरों का भी। उसके पश्चात् जिनसे अच्छी शिक्षा, विद्या, धर्म, परमेश्वर, माता-पिता, आचार्य, विद्वान् अतिथि, राजा-प्रजा, कुटुम्ब, बन्धु, भगिनी, भृत्य आदि से कैसे-कैसे वर्तना इन बातों के मन्त्र, श्लोक, सूत्र, गद्य-पद्य भी अर्थ सहित कण्ठस्थ करावें, जिनसे सन्तान किसी धूर्त के बहकाने में कभी न आवें।

और जो-जो विद्याधर्मविरुद्ध भ्रान्तिजाल में गिराने वाले व्यवहार हैं, उनका भी उपदेश कर दें कि जिससे भूत-प्रेत आदि मिथ्या बातों का विश्वास न हो

जब किसी मृत व्यक्ति के शरीर का दाह हो चुकता है, तब उसका नाम 'भूत' होता है, अर्थात् वह अमुकनामा पुरुष था। जितने पदार्थ उत्पन्न होकर वर्तमान में आके न रहें, भूतकालस्थ होने से उनका नाम 'भूत' हो जाता है। ऐसा ब्रह्मा से लेके आज पर्यन्त के जगत् के विद्वानों का सिद्धान्त है। परन्तु जिस पुरुष की शंका, कुसंग, कुसंस्कार होता है, उसको भय और शंकारूप भूत, प्रेत, शाकिनी, डाकिनी आदि अनेक भ्रम-जाल दुःखदायक होते हैं।

देखो ! जब कोई प्राणी मरता है, तब उसका जीव पाप-पुण्य के वश होकर परमेश्वर की व्यवस्था से सुख-दुःख के फल भोगने के अर्थ जन्मान्तर धारण करता है। क्या इस अविनाशी परमेश्वर की व्यवस्था का कोई भी नाश कर सकता है ? अज्ञानी लोग वैद्यकशास्त्र वा पदार्थ विद्या के पढ़ने सुनने और विचार से रहित होकर, सन्निपात ज्वरादि, शारीरक और उन्मादकादि मानस रोगों का नाम भूत-प्रेतादि धरते हैं। उनका औषध-सेवन और पथ्यादि उचित व्यवहार न करके उन धूर्त्त पाखण्डी, महामूर्ख, अनाचारी, स्वार्थी, भंगी, चमार, शूद्र, म्लेच्छादि पर भी विश्वासी होकर अनेक प्रकार के ढोंग, छल कपट और उच्छिष्ट भोजन, डोरा धागा, आदि मिथ्या मन्त्र-तन्त्र बांधते-बन्धवाते फिरते हैं। अपने धन का नाश, सन्तान आदि की दुर्दशा और रोगों को बढ़ाकर दुःख देते फिरते हैं।

जब आंख के अन्धे और गांठ के पूरे उन दुर्बुद्धि पापी स्वार्थियों के पास जाकर पूछते हैं कि—'महाराज ! इस लड़का, लड़की, स्त्री और पुरुष को न जाने क्या हो गया है ?' तब वे बोलते है कि—'इसके शरीर में बड़ा भूत, प्रेत, भैरव, शीतला आदि देवी आ गई हैं। जब तक तुम इसका उपाय न करोगे, तब तक ये न छूटेंगे और प्राण भी ले लेंगे। जो तुम मलीदा वा इतनी भेंट दो, तो हम मन्त्र जप-पुरश्चरण से झाड़के इनको निकाल दें।' तब वे अन्धे और उनके सम्बन्धी बोलते हैं कि —'महाराज ! चाहे हमारा सर्वस्व जाओ, परन्तु इनको अच्छा कर दीजिये।' तब तो उनकी बन पड़ती है। वे धूर्त्त कहते है—'अच्छा लाओ इतनी सामग्री इतनी दक्षिणा, देवता को भेंट और ग्रहदान कराओ।'

झांझ, मृदंग, ढोल थाली लेके उसके सामने बजाते-गाते और उनमें से एक पाखण्डी उन्मत्त होके नाच-कूद के कहता है 'मैं इसका प्राण ही ले लूँगा। तब वे अन्धे उस भंगी, चमार धेड़ मांग आदि नीच के पगों में पड़के कहते हैं—'आप चाहे सो लीजिए, इसको बचाइये।' तब वह धूर्त्त बोलता है—'मैं हनुमान् हूं, लाओ पक्की मिठाई, तेल, सिंदूर, सवा मन का रोट और लाल लंगोट।' मैं देवी वा भैरव हूं, लाओ पांच बोतल मद्य, बीस मुर्गी, पांच बकरे, मिठाई और वस्त्र।' जब वे कहते हैं कि—'जो चाहो सो लीजिए' तब तो वह पागल बहुत नाचने-कूदने लगता है। परन्तु जो कोई बुद्धिमान् उनकी भेंट पांच जूता, दण्डा वा चपेटा लातें मारे, तो उसके हनुमान् देवी और भैरव झट प्रसन्न होकर भाग जाते हैं। क्योंकि वह उनका केवल धनादि हरण करने का प्रयोजनार्थ ढोंग है।

और जब किसी ग्रहग्रस्त, ग्रहरूप, ज्योतिर्विदाभास के पास जाके वे कहते हैं— हे महाराज! इसको क्या है?' तब वे कहते है कि— इस पर सूर्य्यादि क्रूर ग्रह चढ़े हैं। जो तुम इनकी शांति पाठ पूजा दान कराओ तो इसको सुख हो जाय। नहीं तो बहुत पीड़ित होकर मर जाय। तो भी आश्चर्य नहीं।

उत्तर—कहिये ज्योतिर्वित् ! जैसी यह पृथिवी जड़ है, वैसे ही सूर्य्यादि लोक हैं। वे ताप और प्रकाशादि से भिन्न कुछ भी नहीं कर सकते। क्या ये चेतन हैं, जो क्रोधित होके, दुःख और शान्त होके सुख दे सकें?

प्रश्न—क्या जो यह संसार में राजा-प्रजा सुखी-दुःखी हो रहे हैं, यह ग्रहों का फल नहीं है ?

उत्तर—नहीं, ये सब जीवों के अपने किये पाप-पुण्यों के फल हैं।

प्रश्न—तो क्या ज्योतिष्-शास्त्र झूठा है ?

उत्तर—नहीं, जो उसके अङ्क, बीज, रेखागणित विद्या हैं, वह सब सच्ची है और जो फल की लीला है, वह सब झूठी है।

प्रश्न—क्या जो यह जन्मपत्र है, सो निष्फल है ?

उत्तर—हां, वह जन्मपत्र नहीं, किन्तु उसका नाम 'शोकपत्र' रखना चाहिए। क्योंकि जब सन्तान का जन्म होता है, तब सबको आनन्द होता है। परन्तु वह आनन्द तब तक होता है कि जब तक जन्मपत्र बनके ग्रहों का फल न सुनें। जब पुरोहित जन्मपत्र बनाने को कहता है, तब उसके माता-पिता पुरोहित से कहते हैं—'महाराज ! आप बहुत अच्छा जन्मपत्र बनाइये।' जो धनाढ्य हो, तो बहुत सी लाल-पीली रेखाओं से चित्र-विचित्र और निर्धन हो, तो साधारण रीति से जन्मपत्र बनाके सुनाने को आता है। तब उसके मां-बाप ज्योतिषी जी के सामने बैठ के कहते हैं—'इसका जन्मपत्र अच्छा तो है ?' ज्योतिषी कहता है—'जो है सो सुना देता हूं। इसके जन्मग्रह बहुत अच्छे और मित्रग्रह भी बहुत अच्छे हैं, जिनका फल धनाढ्य और प्रतिष्ठावान्। जिस सभा में जा बैठेगा, तो सबके ऊपर इसका तेज पड़ेगा, शरीर से आरोग्य और राज्यमानी होगा।' इत्यादि बातें सुनके पिता आदि बोलते हैं—'वाह वाह ज्योतिषीजी ! आप बहुत अच्छे हो।

ज्योतिषीजी समझते हैं कि इन बातों से कार्य सिद्ध नहीं होता। तब ज्योतिषी बोलता है कि—'ये ग्रह तो बहुत अच्छे हैं, परन्तु ये ग्रह क्रूर हैं। अर्थात् फलाने-फलाने ग्रह के योग से वर्ष में इसका मृत्युयोग है।' इसको सुनके माता-पितादि पुत्र के जन्म के आनन्द को छोड़ के शोकसागर में डूबकर ज्योतिषीजी से कहते हैं कि—'महाराज जी ! अब हम क्या करें ?'

तब ज्योतिषी कहते हैं—'दोष निवारण के निमित्त क्रूर ग्रहों की शान्ति के लिए उपाय करो।' गृहस्थ पूछता है—'क्या उपाय करें ?' ज्योतिषीजी प्रस्ताव करने लगते हैं कि 'ऐसा-ऐसा दान करो। ग्रह के मन्त्र का जाप कराओ, और नित्य ब्राह्मण को भोजन कराओगे तो अनुमान अर्थात् आशा है कि नवग्रहों के विघ्न हट जायेंगे।' अनुमान शब्द इसलिए है कि जो मर जायगा, तो कहेंगे हम क्या करें, परमेश्वर के ऊपर कोई नहीं है। हमने

तो बहुत-सा यत्न किया अरौ तुमने कराया, उसके कर्म ऐसे ही थे। और जो बच जाय, तो कहते हैं कि 'देखो, हमारे मन्त्र देवता और ब्राह्मणों की कैसी शक्ति है? तुम्हारे लड़के को बचा दिया।'

यहाँ यह बात होनी चाहिये कि जो इनके जपपाठ से कुछ न हो, तो दूने-तिगुणे रुपये इन धूर्तों से ले लेने चाहिएं। और बच जायें, तो भी ले लेने चाहियें। क्योंकि जैसे ज्योतिषियों ने कहा कि—'इसके कर्म और परमेश्वर के नियम तोड़ने का सामर्थ्य किसीका नहीं;' वैसे गृहस्थ भी कहे कि—'यह अपने कर्म और परमेश्वर के नियम से बचा है, तुम्हारे करने से नहीं।'

और जो तीसरे गुरु आदि भी गृहस्थ स्त्रीपुरुष से पुण्यदान कराके आप ही ले लेते हैं, तो उनको भी वही उत्तर देना, जो ज्योतिषियों को दिया था।

अब रह गई शीतला और मन्त्र तन्त्र यन्त्र आदि। ये भी ऐसे ही ढोंग रचाते हैं। कोई कहता कि—'जो हम मन्त्र पढ़ के डोरा वा यन्त्र बना देवें, तो हमारे देवता और पीर उस मन्त्र यन्त्र के प्रताप से उसको कोई विघ्न नहीं होने देते।' उनको वही उत्तर देना चाहिए कि—'क्या तुम मृत्यु, परमेश्वर के नियम और कर्मफल से भी बचा सकोगे? तुम्हारे इस प्रकार करने से भी कितने ही लड़के मर जाते हैं, और तुम्हारे घर में भी मर जाते हैं। और क्या तुम मरण से बच सकोगे'? तब वे कुछ भी नहीं कह सकते, और वे धूर्त्त जान लेते हैं कि यहाँ हमारी दाल नहीं गलेगी।

इन सब मिथ्या व्यवहारों के करने वाले ज्योतिर्विदाभासों को छोड़कर धार्मिक, सब देश के उपकारकर्त्ता निष्कपटता से सबको विद्या पढ़ाने वाले, उत्तम विद्वान् लोगों का प्रत्युपकार करना सबको योग्य है। और जितनी लीला रसायन, मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि करना कहते हैं; उनको भी महापामर समझना चाहिये। इत्यादि मिथ्या बातों का उपदेश बाल्यावस्था ही में सन्तानों के हृदय में डाल दें कि जिससे स्वसन्तान किसी के भ्रमजाल में पड़के कभी दुःख न पावें।

और वीर्य की रक्षा में आनन्द, और नाश करने में दुःख-प्राप्ति भी जना देनी चाहिये। जैसे—'देखो, जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है, तब उसको आरोग्य, बुद्धि, बल पराक्रम बढ़के बहुत सुख की प्राप्ति होती है। जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता, वह नपुंसक, महाकुलक्षणी; और जिसको प्रमेह रोग होता है, वह दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि, उत्साह-साहस

धैर्य बल पराक्रमादि गुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है। जो तुम लोग सुशिक्षा और विद्या के ग्रहण, वीर्य की रक्षा करने में इस समय चूकोगे, तो पुनः इस जन्म में तुमको यह अमूल्य समय प्राप्त नहीं हो सकेगा।

(प्र०) शिक्षा किसको कहते हैं ?[१]

(उ०) जिससे मनुष्य विद्या आदि शुभ गुणों की प्राप्ति और अविद्यादि दोषों को छोड़ के सदा आनन्दित हो सकें, वह 'शिक्षा' कहाती है।

(प्र०) विद्या और अविद्या किसको कहते हैं ?

(उ०) जिससे पदार्थ का स्वरूप यथावत् जानकर उससे उपकार लेके अपने और दूसरे के लिए सब सुखों को सिद्ध कर सकें, वह 'विद्या' और जिससे पदार्थों के स्वरूप को उलटा जानकर अपना और पराया अनुपकार कर लेवें, वह 'अविद्या' कहाती है।

(प्र०) मनुष्यों को विद्या की प्राप्ति और अविद्या के नाश के लिए क्या-क्या कर्म करना चाहिए ?

(उ०) वर्णोच्चारण की शिक्षा से लेकर वेदार्थज्ञान के लिए ब्रह्मचर्य आदि कर्म करना योग्य है।

(प्र०) अपनी सन्तानों के लिए माता, पिता और आचार्य क्या-क्या शिक्षा करे ?

(उ०) मातृमान् पितृमानाचार्य्यवान् पुरुषो वेद ॥

ऐसा ऊपर लिखा है। अहोभाग्य उस मनुष्य का है कि जिसका, शारीरक जन्म धार्मिक विद्वान् माता-पिता और विद्या का जन्म आचार्य के सम्बन्ध में हो। क्योंकि इन तीनों की शिक्षा से मनुष्य उत्तम, धार्मिक और विद्वान् होता है। ये अपने सन्तान और विद्यार्थियों को अच्छी भाषा बोलने, खाने-पीने, बैठने-उठने, उचित वस्त्रधारण करने, माता-पिता, आचार्य, अतिथि, संन्यासी आदि के मान्य करने, उनके सामने यथेष्टाचारी न होने, विरुद्ध चेष्टा न करने आदि के लिए प्रयत्न से नित्यप्रति उपदेश किया करें और जैसा-जैसा उसका सामर्थ्य बढ़ता जाय, वैसी-वैसी उत्तम बातें सिखलाते जायें।

---

१ द्रष्टव्य व्यवहार भानु।

(प्र०) क्या जैसी चाहें वैसी शिक्षा करें ?

(उ०) नहीं, जो माता, पिता और आचार्य अपने पुत्र, पुत्री और विद्यार्थियों को सुनावें कि सुन मेरे बेटे, बेटियां, और विद्यार्थी ! तेरा शीघ्र विवाह करेंगे, तू इसकी दाढ़ी मूंछ पकड़ ले, इसकी जटा पकड़ के ओढ़नी फेंक दे, धौल मार, गाली दे, इसका कपड़ा छीन ले, पगड़ी वा टोपी फेंक दे, खेल, क़ूद, हँस, रो, तुम्हारे विवाह में फुलवारी निकालेंगे इत्यादि प्रकार की कुशिक्षा करते हैं; उनको माता पिता और आचार्य न समझना चाहिये। किन्तु ये सन्तान और शिष्यों के पक्के शत्रु और दुःखदायक हैं। क्योंकि जो बुरी चेष्टा देखकर लड़कों को न घुड़कते और न दण्ड देते हैं, वे क्योंकर माता पिता और आचार्य हो सकते हैं ? क्योंकि जो अपने सामने यथातथा बकने, निर्लज्ज होने, व्यर्थ चेष्टा करने आदि बुरे कर्मों से हटाकर विद्या आदि शुभ गुणों के लिए उपदेश नहीं करते, न तन, मन, धन लगा के उत्तम विद्या व्यवहार का सेवन कराकर अपनी सन्तानों तथा विद्यार्थियों को सदा श्रेष्ठ करते जाते हैं, वे माता, पिता और आचार्य कहाकर धन्यवाद के पात्र कभी नहीं हो सकते और जो अपने अपने सन्तान और शिष्यों को ईश्वर की उपासना, धर्म, अधर्म, प्रमाण, प्रमेय, सत्य, मिथ्या, पाखण्ड, वेद, शास्त्र आदि के लक्षण और उनके स्वरूप का यथावत् बोध करा और सामर्थ्य के अनुकूल उनको वेद-शास्त्रों के वचन भी कण्ठस्थ कराकर विद्या पढ़ने, आचार्य के अनुकूल रहने की रीति जना देवें कि जिससे विद्या प्राप्ति आदि प्रयोजन निर्विघ्न सिद्ध हों; वे ही 'माता, पिता और आचार्य' कहाते हैं।

इसी प्रकार की अन्य-अन्य शिक्षा भी विशेष करके माता और पिता करें। इसलिए **'मातृमान् और पितृमान्'** शब्द का ग्रहण उक्त वचन में किया है। अर्थात् जन्म से ५वें वर्ष तक बालकों को माता, ६ठेवर्ष से ८वें वर्ष तक पिता शिक्षा करे, और ९वें वर्ष के आरम्भ में द्विज अपने सन्तानों का उपनयन करके आचार्य्य कुल में गुरुकुल या पाठशाला में, अर्थात् जहाँ पूर्ण विद्वान् और पूर्ण विदुषी स्त्री शिक्षा और विद्यादान करने वाली हों, वहां लड़के और लड़कियों को भेज दें और शूद्रादि वर्ण के गृह में उपनयन किये विना विद्याभ्यास के लिए गुरुकुल में भेज दें।[1]

उन्हीं के सन्तान विद्वान्, सभ्य और सुशिक्षित होते हैं, जो पढ़ाने

१ वहां वेदारम्भ के साथ उनका भी उपनयन करावें।

में सन्तानों का लाड़न कभी नही करते, किन्तु समय-समय पर ताड़ना करते रहते हैं। इसमें व्याकरण महाभाष्य का प्रमाण है—

"जो माता-पिता और आचार्य सन्तान और शिष्यों का ताड़न करते हैं, वे जानो अपने सन्तान और शिष्यों को अपने हाथ से अमृत पिला रहे हैं। और जो सन्तानों वा शिष्यों का लाड़न ही करते हैं, वे अपने सन्तानों और शिष्यों को विष पिलाके नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं।"

क्योंकि लाड़न से सन्तान और शिष्य दोषयुक्त और ताड़ना से गुण युक्त होते हैं और सन्तान और शिष्य लोग भी ताड़ना से प्रसन्न और लाड़न से सदा अप्रसन्न रहा करें। परन्तु माता-पिता तथा अध्यापक लोग ईर्ष्या द्वेष से ताड़न न करें, किन्तु ऊपर से भयप्रदान और भीतर से कृपादृष्टि रखें।

जैसी अन्य शिक्षा की, वैसी चोरी जारी, आलस्य, प्रमाद, मादक द्रव्य, मिथ्याभाषण, हिंसा, क्रूरता, ईर्ष्या द्वेष, मोह आदि दोषों को छोड़ने और सत्याचार के ग्रहण करने की शिक्षा करें, क्योंकि जिस पुरुष ने जिसके सामने एक बार चोरी जारी, मिथ्याभाषणादि कर्म किया, उसकी प्रतिष्ठा उसके सामने मृत्युपर्य्यन्त नहीं होती।

जैसी हानि प्रतिज्ञा को मिथ्या करने वाले की होती है, वैसी अन्य किसी की नहीं। इससे जिसके साथ जैसी प्रतिज्ञा करनी, उनके साथ वैसी ही पूरी करनी चाहिये, अर्थात् जैसे किसी ने किसी से कहा कि—'मैं तुमको वा तुम मुझसे अमुक समय में मिलूंगा वा मिलना, अथवा अमुक वस्तु अमुक समय में तुमको मैं दूंगा', इसको वैसे ही पूरी करे, नहीं तो उसकी प्रतीति अर्थात् विश्वास कोई भी नहीं करेगा। इसलिए सदा सत्यभाषण और सत्य प्रतिज्ञा युक्त सबको होना चाहिए। किसी को अभिमान न करना चाहिए। छल कपट वा कृतघ्नता से अपना ही हृदय दुःखित होता है, तो दूसरे की क्या कथा कहनी चाहिए?

'छल' और **'कपट'** उसको कहते हैं जो भीतर और बाहर और रख, दूसरे को मोह में डाल, और दूसरे की हानि पर ध्यान न देकर स्वप्रयोजन सिद्ध करना। **'कृतघ्नता'** उसको कहते हैं कि किसी के किये हुए उपकार को न मानना। क्रोधादि दोष और कटुवचन को छोड़ शान्त और मधुर वचन ही बोले, और बहुत बकवाद न करें। जितना बोलना चाहिए उससे न्यून वा अधिक न बोले। बड़ों को मान्य दे, उसके सामने उठकर जाके

उच्चासन पर बैठावे, प्रथम **'नमस्ते'** करे। उनके सामने उत्तमासन पर न बैठे। सभा में वैसे स्थान पर बैठे, जैसे अपनी योग्यता हो, और दूसरा कोई न उठावे। विरोध किसी से न करे। सम्पन्न होकर गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग रक्खे। सज्जनों का संग और दुष्टों का त्याग, अपने माता पिता और आचार्य की तन, मन और धनादि उत्तम-उत्तम पदार्थों से प्रीतिपूर्वक सेवा करे।

यान्यस्माकंँसुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥

यह तैत्तिरीय उपनिषद् का शिक्षावली ११ का वचन है।

इसका यह अभिप्राय है कि माता पिता आचार्य अपने सन्तान और शिष्यों को सदा सत्य, धर्म और विद्या का ही उपदेश करें और यह भी कहें कि देखो! जो-जो हमारे धर्मयुक्त कर्म हैं; उन-उनका ग्रहण करो। जो-जो सत्य जानें, उन-उनका प्रकाश और प्रचार करें, किसी पाखण्डी दुष्टाचारी मनुष्य पर विश्वास न करे। और जिस-जिस उत्तम कर्म के लिए माता-पिता और आचार्य्य आज्ञा देवें, उस-उसका यथेष्ट पालन करो। जैसे माता ने धर्म, विद्या, अच्छे आचरण के श्लोक, 'निघण्टु' 'निरुक्त' 'अष्टाध्यायी' अथवा अन्य सूत्रों वा वेदमन्त्र कण्ठस्थ कराये हों, उन-उनका पुनः अर्थ विद्यार्थियों को विदित करावें।

जिस प्रकार आरोग्य, विद्या और बल प्राप्त हो, उसी प्रकार भोजन छादन और व्यवहार करें-करावें, अर्थात् जितनी क्षुधा हो, उससे कुछ न्यून भोजन करें। मद्य-मांसादि के सेवन से स्वयं अलग रहें, सन्तानों को अलग रक्खें। अज्ञात गम्भीर जल में प्रवेश न करें, न सन्तानों को करने दें। क्योंकि जलजन्तु वा किसी अन्य पदार्थ से दुःख हो सकता है और जो तैरना न जाने, तो डूब ही सकता है। **'नाविज्ञाते जलाशये'** यह मनु [४।१२९] का वचन है अर्थात् अविज्ञात जलाशय में प्रविष्ट होके स्नानादि न करें।

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं, वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं, मनःपूतं समाचरेत् ॥ मनु ६।४६॥

नीचे दृष्टि कर ऊंचे-नीचे स्थान को देखकर चले, वस्त्र से छान के जल पीवे। सत्य से पवित्र करके वचन बोले, मन से विचार के आचरण करे।

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये वको यथा ॥

यह किसी कवि का वचन है ।

अर्थ—वे माता और पिता अपने सन्तानों के पूर्ण वैरी हैं, जिन्होंने उनको शिक्षा और विद्या की प्राप्ति न कराई । वे विद्वानों की सभा में वैसे तिरस्कृत और कुशोभित होते हैं, जैसे हंसों के बीच में वगुला ।

यही माता-पिता का कर्त्तव्य कर्म, परमधर्म और कीर्ति का काम है, जो अपने सन्तानों को तन, मन, धन से विद्या, धर्म, सभ्यता और उत्तम शिक्षा युक्त करना अर्थात् सुसंस्कृत, सुशिक्षित और सुविद्यावान् करना ।

यह बालशिक्षा में थोड़ा-सा लिखा है । इतने ही से बुद्धिमान् लोग वहुत समझ लेंगे । इसके आगे ब्रह्मचर्याश्रम और गुरु शिष्य की शिक्षा लिखी जायेगी । उसी के भीतर पढ़ने पढ़ाने की शिक्षा अर्थात् पठन-पाठन की विधि लिखी जायेगी ।

इति द्वितीयः प्रवाहः ।

तृतीयः प्रवाहः

अथाऽध्ययनाध्यापनविधिं व्याख्यास्यामः

अब तीसरे प्रवाह में पढ़ने-पढ़ाने का प्रकार लिखते हैं। सन्तानों को उत्तम शिक्षा, विद्या, गुण, कर्म्म और स्वभावरूप आभूषणों का धारण कराना माता पिता, आचार्य्य और सम्बन्धियों का मुख्य कर्म है। सोने चांदी, माणिक, मोती मूंगा आदि रत्नों से युक्त आभूषणों का धारण करने से मनुष्य का आत्मा सुभूषित कभी नहीं हो सकता[1]। क्योंकि आभूषणों के धारण करने से केवल देहाभिमान, विषयासक्ति और चौर आदि का भय तथा मृत्यु का होना अर्थात् हत्या भी सम्भव है। प्रायः संसार में देखने में आता है कि आभूषणों के योग से वालकादिकों का मृत्यु दुष्टों के हाथ से होता है।

विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षाः, सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः।
संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये, धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः॥

अर्थ—जिन पुरुषों का मन विद्या के विलास में तत्पर रहता, सुन्दर शीलस्वभावयुक्त, सत्यभाषणादिनियमपालनयुक्त, और जो अभिमान अपवित्रता से रहित, अन्य की मलीनता के नाशक, सत्योपदेश विद्या-दान से संसारी जनों के दुःखों के दूर करने से सुभूषित, वेदविहित-कर्मों से पराये उपकार करने में लगे रहते हैं, वे नर और नारी धन्य हैं।

इसलिए सन्तान जब आठ वर्ष के हों, तभी लड़कों को लड़कों की, और लड़कियों को लड़कियों की शाला अर्थात् पाठशाला या गुरुकुल में

---

१. केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वलाः,
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्धजाः।
वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते,
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्॥
नीतिशतक १५, निर्णय सागर संस्करण॥

भेज देवें। जो अंध्यापक पुरुष वा स्त्री अधार्मिक दुष्टाचारी हों, उनसे शिक्षा और विद्या न दिलावें। किन्तु जो पूर्ण विद्यायुक्त धार्मिक हों, वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं। द्विज अपने घर में लड़कों का और कन्याओं का भीयज्ञोपवीत संस्कार यथायोग्य करके यथोक्त आचार्य्यकुल अर्थात् अपनी-अपनी पाठशाला में भेज दें।

विद्या पढ़ने का स्थान एकान्त देश में होना चाहिये। और वे लड़के और लड़कियों की पाठशाला दो कोस एक दूसरे से दूर होनी चाहियें। जो वहां अध्यापिका और अध्यापक पुरुष वा भृत्य अनुचर हों, वे कन्याओं की पाठशाला में सव स्त्री और पुरुषों की पाठशाला में सब पुरुष रहें।

स्त्रियों की पाठशाला में पांच वर्ष का लड़का और पुरुषों की पाठशाला में पांच वर्ष की लड़की भी न जाने पावे। अर्थात् जव तक वे ब्रह्मचारी अर्थात् विद्यार्थी वा ब्रह्मचारिणी अर्थात् विद्यार्थिनी रहैं, तवतक स्त्री वा पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकान्तसेवन, भाषण, विषयकथा, परस्परक्रीड़ा, विषय का ध्यान और संग, इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहैं। और अध्यापक लोग उनको इन बातों से बचावें, जिससे उत्तम विद्या, शिक्षा, शील स्वभाव, शरीर और आत्मा के बल से युक्त होके आनन्द को नित्य बढ़ा सकें।

पाठशालाओं से एक योजन अर्थात् चार कोस दूर ग्राम वा नगर रहे। सवको तुल्य वस्त्र खान-पान आसन दिये जायें, चाहे वह राजकुमार वा राजकुमारी हो, चाहे दरिद्र के सन्तान हों। सबको तपस्वी होना चाहिए। इस ब्रह्मचर्य काल अर्थात् विद्या-अध्ययन की अवधि में उनके माता-पिता अपने सन्तानों से वा सन्तान अपने माता-पिताओं से न मिल सकें, और न किसी प्रकार का पत्र-व्यवहार भी एक-दूसरे से कर सकें। जिससे वे संसारी चिन्ता से सर्वथा रहित होकर केवल विद्या बढ़ाने की चिन्ता रक्खें। जब कभी भ्रमण करने को जायें, तव उनके साथ अध्यापक रहें, जिससे किसी प्रकार की कुचेष्टा न कर सकें, और न आलस्य-प्रमाद करें।

इसमें जातिनियम[1] और राजनियम होना चाहिए, कि पांचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई माता पिता अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवे; जो न भेजे, वह दण्डनीय हो।

---

१. कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥ मनु० १७।१५२॥

प्रथम लड़कों का यज्ञोपवीत घर में हो, और दूसरा पाठशाला में आचार्य्यकुल में हो। पिता-माता वा अध्यापक अपने लड़का-लड़कियों को सर्वप्रथम अर्थसहित **गायत्री मन्त्र** का उपदेश कर दें। वह मन्त्र यह है—

ओं भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्। यजुः ३६।३॥

इस मन्त्र में जो प्रथम 'ओ३म्' है, उसका अर्थ प्रथम प्रवाह में कर दिया है, वहीं से जान लेना चाहिए। अब तीन महाव्याहृतियों के अर्थ संक्षेप से लिखते हैं—'**भूरिति वै प्राणः, यः भवति प्राणयति चराऽचरं जगत् स भूः स्वयम्भूरीश्वरः,**' जो सब चराचर जगत् के जीवन का आधार, प्राण से भी प्रिय और स्वयम्भू अर्थात् अकारण कारण है, उस प्राण का वाचक होके 'भूः, परमेश्वर का नाम है। '**भुवरित्यपानः, यः सर्वं दुःखमपानयति सोऽपानः**' जो सब दुःखों से रहित, जिसके सङ्ग से जीव सब दुःखों से छूट जाते हैं, इसलिए उस परमेश्वर का नाम '**भुवः** है। '**स्वरिति व्यानः, यो विविधं जगद् व्यानयति व्याप्नोति स व्यानः,**' जो नानाविध जगत् में व्यापक होके सबका धारण करता है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम '**स्वः**' है। ये तीनों वचन तैत्ति. आर. ७।५ के हैं।

(सवितुः) **यः सुनोत्युत्पादयति सर्वं जगत् स सविता तस्य,** जो सब जगत् का उत्पादक और सब ऐश्वर्य का दाता है, (देवस्य) **यो दीव्यति दीव्यते वा स देवः,** जो सर्व सुखों का देनेहारा, और जिसकी प्राप्ति की कामना सब करते हैं, उस परमात्मा का जो (वरेण्यम्) **वर्त्तुमर्हम्** स्वीकार करने योग्य अतिश्रेष्ठ (भर्गः) **शुद्धस्वरूपम्** शुद्धस्वरूप और पवित्र करने वाला चेतन ब्रह्म स्वरूप है, (तत्) उसी परमात्मा के स्वरूप को हम लोग (धीमहि) **धरेमहि** धारण करें तथा **ध्यायेम** ध्यान करें। किस प्रयोजन के लिए? कि (यः) **सविता देवः जगदीश्वरः** जो सविता देव परमात्मा (नः) **अस्माकम्** हमारी (धियः) **बुद्धीः** बुद्धियों को (प्रचोदयात्) **प्रेरयेत्** प्रेरणा करे: अर्थात् बुरे कामों से छुड़ाकर अच्छे कामों में प्रवृत्त करे।

हे मनुष्यो! जो सब समर्थों में समर्थ, सच्चिदानन्दस्वरूप, अनादि अनन्त, नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध, नित्य मुक्त स्वभाववाला, कृपासागर, ठीक-ठीक न्याय का करनेहारा, जन्ममरणादिक्लेशरहित, आकाररहित, सबके घट-घट का जानने वाला, सबका धर्त्ता पिता उत्पादक, अन्नादि से विश्व का पोषण

करनेहारा, सकल ऐश्वर्ययुक्त, जगत् का निर्माता, शुद्धस्वरूप, और जो प्राप्ति की कामना करने योग्य है, उस परमात्मा का जो शुद्ध चेतनस्वरूप है, उसी को हम धारण करें। इस प्रयोजन के लिए कि वह परमेश्वर हमारे आत्मा और बुद्धियों का अन्तर्यामिस्वरूप हमको दुष्टाचार, अधर्म युक्त मार्ग से हटाके श्रेष्ठाचार सत्यमार्ग में चलावे। उसको छोड़कर दूसरे किसी वस्तु का ध्यान हम लोग नहीं करें। क्योंकि न कोई उसके तुल्य और और न अधिक है। वही हमारा पिता, राजा, न्यायाधीश सब सुखों का देनेहारा है।

इस प्रकार आचार्य या गुरु गायत्री मन्त्र जो कि गुरु मन्त्र है का उपदेश करके सन्ध्योपासन की जो स्नान, आचमन, प्राणायाम आदि क्रिया हैं, सिखलावें।

प्रथम **स्नान क्रिया** है। यह इसलिए है कि जिससे शरीर के बाह्य अवयवों की शुद्धि और आरोग्य आदि होते हैं। सबको प्रतिदिन स्नान अवश्य करना चाहिये इसमें प्रमाण—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति, मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥ मनु. ५।१०९।

अर्थ—जल से शरीर के बाहर के अवयव, सत्याचरण से मन, विद्या और तप अर्थात् सब प्रकार के कष्ट भी सहके धर्म ही के अनुष्ठान करने से जीवात्मा, ज्ञान अर्थात् पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के विवेक से बुद्धि दृढ़निश्चय पवित्र होता है। इससे प्रातः जागरण के पश्चात् और भोजन के पूर्व स्नान अवश्य करना चाहिये।

दूसरा कर्म **प्राणायाम** है। इसमें प्रमाण—

प्राणायामादशुद्धिक्षयेज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः॥ योगशास्त्र २।२८।

जब मनुष्य प्रणायाम करता है, तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जबतक मुक्ति न हो तबतक उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥ मनुस्मृति ३।७२।

अर्थ—जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं का मल नष्ट होकर शुद्ध होते हैं, वैसे प्राणायाम करके मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर

निर्मल हो जाते हैं। इसलिये वाल्यकाल से ही वालकों को प्राणायाम की क्रिया सिखानी चाहिये।

प्राणायाम का विधिः—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ योगसूत्र १।३४।

जैसे अत्यन्त वेग से वमन होकर अन्न-जल वाहर निकल जाता है, वैसे प्राण को वल से बाहर फेंक के वाहर ही यथाशक्ति रोक देवे। जब बाहर निकालना चाहे, तब मूलेन्द्रिय को ऊपर खींच रखे, तव तक प्राण बाहर रहता है। इसी प्रकार प्राण वाहर अधिक ठहर सकता है। जब घवराहट हो, तव धीरे-धीरे भीतर वायु को लेके फिर भी वैसे ही करता जाय, जितना सामर्थ्य और इच्छा हो। **और मन में 'ओ३म्' इसका जप करता जाय।** इस प्रकार करने से आत्मा और मन की पवित्रता और स्थिरता होती है।

एक **'बाह्यविषय'** अर्थात् वाहर ही अधिक रोकना। दूसरा **'आभ्यन्तर'** अर्थात् भीतर जितना प्राण रोका जाय उतना रोके। तीसरा **'स्थम्भवृत्ति'** अर्थात् एक ही बार जहाँ का तहां प्राण को यथाशक्ति रोक देना। चौथा **'बाह्याभ्यन्तराक्षेपी'** अर्थात् जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे, तब उससे विरुद्ध उसको न निकलने देने के लिए वाहर से भीतर ले, और जब बाहर से भीतर आने लगे तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोकता जाय। ऐसा एक-दूसरे के विरुद्ध क्रिया करें; तो दोनों की गति रुककर प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियें भी स्वाधीन होते हैं। वल-पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप हो जाती है, कि जो वहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इससे मनुष्य-शरीर में वीर्य वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर वल, पराक्रम, जितेन्द्रियता, सव शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझ कर उपस्थित कर लेगा। स्त्री भी इसी प्रकार प्राणायाम योगाभ्यास करे।

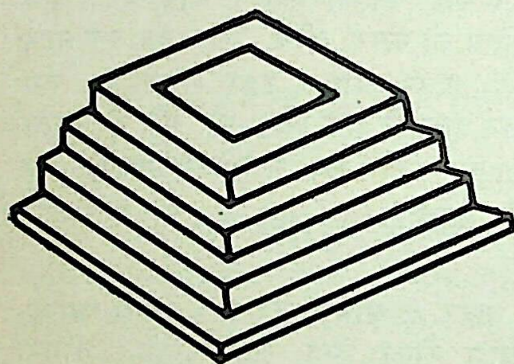
पश्चात् बालक को भोजन छादन, बैठने उठने, वोलने चालने, वड़े छोटे से यथायोग्य व्यवहार करने का उपदेश करें।

सन्ध्योपासन, जिसको ब्रह्मयज्ञ भी कहते हैं की विधि सिखावें। यह सन्ध्योपासन एकान्त देश में एकाग्रचित्त से यथाविधि करे।

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः॥ मनुस्मृति २।१०४॥

अर्थ––जंगल में अर्थात् एकान्त देश में जा, सावधान होके जल के समीप स्थित होके नित्यकर्म को करता हुआ सावित्री अर्थात् गायत्री मंत्र का उच्चारण, अर्थज्ञान और उसके अनुसार अपने चाल-चलन को करे, परन्तु यह जप मन से करना उत्तम है।[1]

दूसरा देवयज्ञ––जो अग्निहोत्र और विद्वानों का सङ्ग सेवादिक से होता है। सन्ध्या और अग्निहोत्र सायं-प्रातः दो ही काल में करे। दो ही रात दिन की सन्धिवेला हैं, अन्य नहीं। न्यून-से-न्यून एक घण्टा ध्यान अवश्य करे। जैसे समाधिस्थ होकर योगी लोग परमात्मा का ध्यान करते हैं, वैसे ही सन्ध्योपासन भी किया करे। तथा सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त के पूर्व अग्निहोत्र करने का भी समय है। उसके लिए एक किसी धातु वा मिट्टी को चौकोर उतना ही गहिरा और नीचे ३ वा ४ अंगुल परिमाण से हवनकुंड बनावे। उसमें चन्दन, पलाश व आम्रादि के श्रेष्ठ काष्ठों के टुकड़े उसी वेदी के परिमाण से बड़े-छोटे करके उसमें रक्खे। उसके मध्य में अग्नि रखके पुनः उस पर समिधा अर्थात् पूर्वोक्त ईंधन रख, यथाविधि अग्निहोत्र के प्रत्येक मन्त्र को पढ़कर एक-एक आहुति देवे। और जो अधिक आहुति देना हो तो––



विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद् भद्रन्तन्न आ सुव॥ यजु० ३०।३॥

इस मन्त्र और पूर्वोक्त गायत्री मन्त्र से अन्त में स्वाहा कह आहुति देवे।

'स्वाहा' शब्द का अर्थ यह है कि जैसा ज्ञान आत्मा में हो वैसा ही जीभ से बोले, विपरीत नहीं। जैसे परमेश्वर ने सब प्राणियों के सुख के अर्थ इस जब जगत् के पदार्थ रचे हैं, वैसे मनुष्यों को भी परोपकार करना चाहिए।

---

१. यदि ऐसा स्थान न मिले, तो घर में ही पृथक् एकान्त स्थानमें सन्ध्या करे।

ये दो यज्ञ अर्थात् **ब्रह्मयज्ञ**—जो पढ़ना-पढ़ाना, सन्ध्योपासन, ईश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना करना। दूसरा **देवयज्ञ**—जो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यंन्त यज्ञ और विद्वानों की सेवा सङ्ग करना। परन्तु ब्रह्मचर्य में केवल ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र का ही करना होता है।

ब्राह्मणस्त्रयाणां वर्णानामुपनयनं कर्त्तुमर्हति। राजन्यो द्वयस्य। वैश्यो वैश्यस्यैवेति। शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मंत्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेदित्येके॥ यह सुश्रुत के सूत्रस्थान के दूसरे अध्याय का वचन है।

ब्राह्मण वर्णस्थ स्त्रीपुरुष तीनों वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को यथायोग्य यज्ञोपवीत संस्कार कराके और जो कुलीन शुभलक्षणयुक्त शूद्र हो तो उसको भी सब शास्त्र पढ़ावे। शूद्र पढ़े, परन्तु उसका उपनयन न करे और वह मंत्र संहिता छोड़के सब शास्त्र पढ़े, यह मत अनेक आचार्यों का है। यह ठीक नहीं। वेदादि शास्त्र व विद्या पढ़ने का अधिकार मनुष्य मात्र की सन्तान को है।

पश्चात् पांचवें वा आठवें वर्ष से लड़के लड़कों की पाठशाला में और लड़की लड़कियों की पाठशाला में जावें। और नियमपूर्वक अध्ययन का आरम्भ करें तथा जब तक विद्या पूरी ग्रहण न कर लेवें, तब तक ब्रह्मचर्य रक्खें।

ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का होता है—कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम। उनमें से **कनिष्ठ**—जो पुरुष अन्नरसमय देह और पुरि अर्थात् देह में शयन करने वाला जीवात्मा यज्ञ अर्थात् अतीव शुभ गुणों से संगत और सत्कर्त्तव्य है। इसको आवश्यक है कि २४ वर्ष पर्यन्त जितेन्द्रिय अर्थात् ब्रह्मचारी रहकर वेदादिविद्या कौर सुशिक्षा का ग्रहण करे। और विवाह करके भी लम्पटता न करे, तो उसके शरीर में प्राण बलवान् होकर सब शुभगुणों के वास कराने वाले होते हैं।

जो आचार्य और माता-पिता अपने सन्तानों को प्रथम वय में विद्या और गुणग्रहण के लिए तपस्वी कर और उसी का उपदेश करें, और वे सन्तान आप-ही-आप अखण्डित ब्रह्मचर्य सेवन से तीसरे उत्तम ब्रह्मचर्य का सेवन करके पूर्ण अर्थात् चारसौ वर्ष पर्यन्त आयु को बढ़ावें, वैसे तुम भी बढ़ाओ। क्योंकि जो मनुष्य इस ब्रह्मचर्य को प्राप्त होकर लोप नहीं करते, वे सब प्रकार के रोगों से रहित होकर धर्म अर्थ काम और मोक्ष को प्राप्त होते हैं॥

चतस्रोऽवस्था शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं संपूर्णता किञ्चित्परिहाणिश्चेति। आषोडशाद् वृद्धिः। आपञ्चविंशतेर्यौवनम्। आचत्वारिंशतः संपूर्णता, ततः किञ्चत्परिहाणिश्चेति॥

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक्॥

यह सुश्रुत्र के सूत्रस्थान का वचन है।

इस शरीर की चार अवस्था हैं। एक **वृद्धि**--जो १६ वें वर्ष से लेके २५वें वर्ष पर्यन्त सब धातुओं की वढ़ती होती है। दूसरी **यौवन**--जो २५ वें वर्ष के अन्त और २६ वें वर्ष के आदि में युवावस्था का आरम्भ होता है। तीसरी **सम्पूर्णता**--जो २५ वें वर्ष से लेके चालीसवें वर्ष पर्यन्त सब धातुओं की पुष्टि होती है। चौथी **किञ्चित्परिहाणि**--जब सब साङ्गोपाङ्ग शरीरस्थ सकल धातु पुष्ट होके पूर्णता को प्राप्त होते हैं। तदनन्तर जो धातु बढ़ता है, वह शरीर में नहीं रहता, किन्तु स्वप्न प्रस्वेदादि द्वारा शरीर से वाहर निकल जाता है।

प्रश्न--क्या यह ब्रह्मचर्य व्रताभ्यास पूर्वक विद्याध्ययन का नियम स्त्री वा पुरुष दोनों का तुल्य ही है?

उत्तर--नहीं, जो २५ वर्ष पर्यन्त पुरुष ब्रह्मचर्य करे तो १६ सोलह वर्षपर्यन्त कन्या; जो पुरुष ३० तीस वर्षपर्यन्त पुरुष ब्रह्मचारी रहे तो स्त्री १७ वर्ष जो पुरुष ३६ वर्ष तक ब्रह्मचर्य रहे, तो स्त्री १८ वर्ष; जो पुरुष ४० वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य करे तो स्त्री २० वर्ष; जो पुरुष ४४ वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य करे तो स्त्री २२ वर्ष; जो पुरुष ४८ वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य करे तो स्त्री २४ चौबीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य सेवन रक्खे। अर्थात् ४८वें वर्ष से आगे पुरुष और २४वें वर्ष से आगे स्त्री को ब्रह्मचर्य न रखना चाहिए।

परन्तु यह नियम विवाह करने वाले पुरुष और स्त्रियों का है। और जो विवाह करना ही न चाहें, वे मरणपर्यन्त ब्रह्मचारी रह सकते हों, तो भले ही रहें। परन्तु यह काम पूर्ण विद्या वाले जितेन्द्रिय और निर्दोष योगी स्त्री और पुरुष का है। यह बड़ा कठिन काम है कि जो काम के वेग को थांभ के इन्द्रियों को अपने वश में रखना।

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने

च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ यह तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षावल्ली का वचन है।

ये पढ़ने-पढ़ानेवालों के नियम हैं—(ऋतं०) यथार्थ आचरण से पढ़ें और पढ़ावें। (सत्यं०) सत्याचार से सत्यविद्याओं को पढ़ें वा पढ़ावें (तपः०) तपस्वी अर्थात् धर्मानुष्ठान करते हुए वेदादिशास्त्रों को पढ़ें और पढ़ावें। (दमः०) बाह्य इन्द्रियों को बुरे आचरणों से रोक के पढ़ें और पढ़ाते जायें। (शमः०) अर्थात् मन की वृत्ति को सब प्रकार के दोषों से हटाके पढ़ते-पढ़ाते जायें। (अग्नयः०) आहवनीयादि अग्नि और विद्युत् आदि को जानके पढ़ते-पढ़ाते जायें। और (अग्निहोत्रं०) अग्निहोत्र करते हुए पठन और पाठन करें-करावें। (अतिथयः०) अतिथियों अर्थात् सत्य विद्या और धर्म प्रचार में सर्वत्र सदा विचरने वाले संन्यासियों की सेवा करते हुए पढ़ें और पढ़ावें। (मानुषं०) मनुष्य-सम्बन्धी व्यवहारों को यथायोग्य करते हुए पढ़ते-पढ़ाते रहें। (प्रजा०) अर्थात् सन्तान और राज्य का पालन करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जायें। (प्रजन०) वीर्य की रक्षा और वृद्धि करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जायें। (प्रजातिः०) अर्थात् अपने सन्तान और शिष्य का पालन करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जायें।

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥मनु० १४।२०४॥

यम पांच प्रकार के होते हैं—

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ योगसूत्र ।२।३०॥

अर्थात् (अहिंसा) वैरत्याग, (सत्य) सत्य मानना, सत्य बोलना और सत्य ही करना, (अस्तेय) अर्थात् मन वचन कर्म से चोरीत्याग, (ब्रह्मचर्य) अर्थात् उपस्थेन्द्रिय का संयम, (अपरिग्रह) अत्यन्त लोलुपता स्वत्वाभिमानरहित होना। इन पांच यमों का सेवन सदा करें। परन्तु केवल नियमों का सेवन, अर्थात्—

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥
योगसूत्र२।३२॥

(शौच) अर्थात् स्नानादि से पवित्रता, (सन्तोष) सम्यक् प्रसन्न होकर निरुद्यम रहना सन्तोष नहीं; किन्तु पुरुषार्थ जितना हो सके, उतना

करना, हानि-लाभ में हर्ष वा शोक न करना, (तपः) अर्थात् कष्टसेवन से भी धर्मयुक्त कर्मों का अनुष्ठान, (स्वाध्याय) पढ़ना-पढ़ाना, (ईश्वर-प्रणिधान) ईश्वर की भक्ति-विशेष से आत्मा को अर्पित रखना, ये जो पांच **नियम** हैं, इनका अर्थात्

यमों के विना केवल इन नियमों का सेवन न करे, किन्तु इन दोनों का सेवन किया करे। जो यमों के सेवन को छोड़ केवल नियमों का सेवन करता है, वह उन्नति को नहीं प्राप्त होता; किन्तु अधोगति अर्थात् संसार में गिरा रहता है।[1]

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ मनु० २।२।

अर्थ–अत्यन्त कामातुरता और निष्कामता, किसी के लिए भी श्रेष्ठ नहीं। क्योंकि जो कामना न करे, तो वेदों का ज्ञान और वेदविहितकर्मादि उत्तम कर्म किसी से न हो सकें। इसलिए–

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ मनु० २।२८॥

अर्थ–(स्वाध्याय) सकल विद्या पढ़ने-पढ़ाने, (व्रत) ब्रह्मचर्य सत्य-भाषणादिनियम पालने, (होम) अग्निहोत्रादि होम, सत्य का ग्रहण, असत्य का त्याग और सत्य विद्याओं का दान देने, (त्रैविद्येन) वेदस्थ कर्मोपासना, ज्ञान, विद्या के ग्रहण, (इज्यया) पक्षेष्ट्यादि करने, (सुतैः) सुसन्तानोत्पत्ति, (महायज्ञैः) ब्रह्म, देव, पितृ, वैश्वदेव और अतिथियों के सेवनरूप पंच महायज्ञ, और (यज्ञैः) अग्निष्टोमादि तथा शिल्पविद्या-विज्ञानादि यज्ञों के सेवन से इस शरीर को ब्राह्मी अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधार रूप ब्राह्मण का शरीर वनाया जाता है। इतने साधनों के विना ब्राह्मण शरीर नहीं बन सकता।

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत् स्मृतम्।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥ मनु० २।१०५, १०६॥

वेद के पढ़ने-पढ़ाने, सन्ध्योपासनादि पञ्च महायज्ञों के करने और होममन्त्रों में अनध्याय-विषयक अनुरोध आग्रह नहीं है। क्योंकि नित्यकर्म में अनध्याय नहीं होता। जैसे श्वास-प्रश्वास सदा लिए जाते हैं, बन्ध नहीं

---

१. इनका क्रमशः, एक के बाद दूसरे का सेवन नहीं; परन्तु साथ-साथ ही आचरण करना चाहिये।

किये जाते, वैसे नित्यकर्म प्रतिदिन करना चाहिए, न किसी दिन छोड़ना। क्योंकि अनध्याय में भी अग्नि-होत्रादि उत्तम कर्म किया हुआ पुण्यरूप होता है। जैसे झूठ बोलने में सदा पाप और सत्य बोलने में सदा पुण्य होता है, वैसे ही बुरे कर्म करने में सदा अनध्याय और अच्छे कर्म करने में सदा स्वाध्याय ही होता है।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्त आयुर्विद्या यशो बलम् ।। मनु० २।१२१।।

जो सदा नम्र, सुशील हो, विद्वान् और वृद्धों की सेवा करता है, उसका आयु, विद्या, कीर्ति और बल ये चार सदा बढ़ते हैं। और जो ऐसा नहीं करते; उनके आयु आदि चार नहीं बढ़ते।

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ।।
तस्य वाङ् मनसे शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ।। मनु २।१५९, १६०।।

विद्वान् और विद्यार्थियों को योग्य है कि वैरबुद्धि छोड़ के सब मनुष्यों के कल्याण के मार्ग का उपदेश करें। और उपदेष्टा सदा मधुर सुशीलतायुक्त वाणी बोलें। जो धर्म की उन्नति चाहे, वह सदा सत्य में चले, और सत्य ही का उपदेश करे ।।

जिस मनुष्य के वाणी और मन शुद्ध तथा सुरक्षित सदा रहते हैं, वही सब वेदान्त अर्थात् सब वेदों के सिद्धान्तरूप फल को प्राप्त होता है ।।

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः ।
गुरौ वसन् संश्चिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः ।। मनु० २।१६४।।

इसी प्रकार से कृतोपनयन द्विज अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ब्रह्मचारी कुमार और ब्रह्मचारिणी कन्या धीरे-धीरे वेदार्थ के ज्ञानरूप उत्तम तप को बढ़ाते चले जायें।

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ।।२।१६८।।

जो द्विजपुरुष वेद को न पढ़के अन्यत्र श्रम किया करता है, अपने पुत्र-पौत्र सहित शूद्रभाव को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।

वर्जयेन्मधुमाँसञ्च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनन् ॥१॥
अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् ।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥२॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥३॥
एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥४॥
मनु० २।१७७-१८०॥

ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी मद्य, मांस, गन्ध, माला, रस, स्त्री और पुरुष का संग, सब खटाई, प्राणियों की हिंसा ॥१॥

अंगों का मर्दन, विना निमित्त उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श, आंखों में अंजन, जूते और छत्र का धारण, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय-शोक, ईर्ष्या-द्वेष, नाच-गान और बाजा वजाना ॥२॥

द्यूत, जिस किसी की कथा, निन्दा, मिथ्याभाषण, स्त्रियों का दर्शन, आश्रय, दूसरे की हानि आदि कुकर्मों को सदा छोड़ देवें ॥३॥

सर्वत्र एकाकी सोवें, वीर्य स्खलित कभी न करें। जो कामना से वीर्य स्खलित कर दे, तो जानो कि अपने ब्रह्मचर्य व्रत का नाश कर दिया ॥४॥

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥मनु० २।११॥

जो वेद और वेदानुकूल आप्त पुरुषों के किए शास्त्रों का अपमान करता है, उस वेदनिन्दक नास्तिक को जाति पंक्ति और देश से वाह्य कर देना चाहिए। क्योंकि –

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥मनु० २।१२॥

वेद अर्थात् श्रुति और स्मृति=वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्मृत्यादि शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार जो सनातन अर्थात् वेद द्वारा परमेश्वर-प्रतिपादित कर्म और अपने आत्मा में प्रिय, अर्थात् जिसको आत्मा चाहता है, जैसा कि सत्य भाषण, ये चार धर्म के लक्षण अर्थात् इन्हीं से धर्मा-

धर्म का निश्चय होता है। जो पक्षपात रहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का सर्वथा परित्यागरूप आचार है, उसी का नाम **धर्म**, और इससे विपरीत जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहणरूप कर्म है, उसी को **अधर्म** कहते हैं।

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥ मनु० २।१३॥

जो पुरुष अर्थ=सुवर्णादि रत्न, और काम=स्त्री सेवनादि में नहीं फंसते हैं, उन्हीं को धर्म का ज्ञान प्राप्त होता है। जो धर्म के ज्ञान की इच्छा करें, वे वेदद्वारा धर्म का निश्चय करें। क्योंकि धर्माऽधर्म का निश्चय, विना वेद के ठीक-ठीक नहीं होता।

इस प्रकार आचार्य्य अपने शिष्य को उपदेश करे और विशेषकर राजा अर्थात् सभाध्यक्ष प्रशासक इतर क्षत्रिय, वैश्य और उत्तम शूद्रजनों को भी विद्या का अभ्यास अवश्य करावे। क्योंकि जो ब्राह्मण हैं, वे ही केवल विद्याभ्यास करें, और क्षत्रियादि न करें; तो विद्या, धर्म, राज्य और धनादि की वृद्धि कभी कहीं हो सकती। क्योंकि ब्राह्मण तो केवल पढ़ने-पढ़ाने और क्षत्रियादि से जीविका को प्राप्त होके जीवन धारण कर सकते हैं। जीविका के आधीन और क्षत्रियादि के आज्ञादाता और यथावत् परीक्षक दण्डदाता न होने से ब्राह्मणादि सब वर्ण पाखण्ड में ही फंस जाते हैं और जब क्षत्रियादि विद्वान् होते हैं, तब ब्राह्मण भी अधिक विद्याभ्यास और धर्मपथ में चलते हैं, और उन क्षत्रियादि विद्वानों के सामने पाखण्ड=झूठा व्यवहार भी नहीं कर सकते। और जब क्षत्रियादि अविद्वान् होते हैं, तो वे जैसा अपने मन में आता है, वैसा ही करते-कराते हैं।

इसलिए ब्राह्मण भी अपना कल्याण चाहें, तो क्षत्रियादि को वेदादि सत्यशास्त्र का अभ्यास अधिक प्रयत्न से करावें। क्योंकि क्षत्रियादि ही विद्या, धर्म, राज्य और लक्ष्मी की वृद्धि करनेहारे हैं। वे कभी भिक्षावृत्ति नहीं करते; इसलिए वे विद्या-व्यवहार में पक्षपाती भी नहीं हो सकते। और जब सब वर्णों में विद्या सुशिक्षा होती है, तब कोई भी पाखण्डरूप अधर्म-युक्त मिथ्या-व्यवहार को नहीं चला सकता। इससे क्या सिद्ध हुआ कि क्षत्रियादि को नियम में चलाने वाले ब्राह्मण और संन्यासी, तथा ब्राह्मण और संन्यासी को सुनियम में चलाने वाले क्षत्रियादि होते हैं।

इसलिए सब वर्णों के स्त्री-पुरुषों में विद्या और धर्म का प्रचार अवश्य होना चाहिए।

अब जो-जो पढ़ना-पढ़ाना हो, वह-वह अच्छी प्रकार परीक्षा[1] करके होना योग्य है। **परीक्षा** पांच प्रकार से होती है—

एक—जो-जो ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव और वेदों से अनुकूल हो, वह-वह सत्य, और उससे विरुद्ध असत्य है।

दूसरी—जो-जो सृष्टिक्रम से अनुकूल है, वह-वह सत्य, और जो-जो सृष्टिक्रम से विरुद्ध है, वह-वह असत्य है। जैसे कोई पुरुष कहे कि विना माता-पिता के योग से लड़का उत्पन्न हुआ। ऐसा कथन सृष्टिक्रम से विरुद्ध होने से सर्वथा असत्य है।

तीसरी—'आप्त' अर्थात् जो धार्मिक विद्वान्, सत्यवादी, निष्कपटियों का संग उपदेश के अनुकूल है वह-वह ग्राह्य और जो-जो विरुद्ध है, वह-वह अग्राह्य है।

चौथी—अपने आत्मा की पवित्रता विद्या के अनुकूल अर्थात् जैसा अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, वैसे ही सर्वत्र समझ लेना कि—'मैं भी यदि किसी को दुःख वा सुख दूंगा, तो वह भी अप्रसन्न और प्रसन्न होगा।'

और **पांचवीं**—आठों **प्रमाण**, अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव।

इनमें से प्रत्यक्ष के लक्षणादि सब गोतम मुनिकृत न्यायशास्त्र के प्रथम और द्वितीय अध्याय से जानने योग्य हैं।

इस प्रकार शास्त्रों के प्रमाणादि से सब विषयों की परीक्षा करके पढ़ें और पढ़ावें। अन्यथा विद्यार्थियों को सत्य बोध कभी नहीं हो सकता। जिस-जिस ग्रन्थ को पढ़ावें, उस-उस की पूर्वोक्त प्रकार से परीक्षा करके जो जो सत्य ठहरे, वह वह ग्रन्थ पढ़ावें। जो-जो इन परीक्षाओं से विरुद्ध हों, उन-उन ग्रन्थों को न पढ़ें, न पढ़ावें।

अथ पठनपाठनविधिः

अब पढ़ने-पढ़ाने का प्रकार लिखते हैं—

१. अर्थात् किसी विषय के सत्यासत्य होने का निर्णय

प्रथम पाणिनिमुनिकृत **शिक्षा**[1] जो कि सूत्ररूप है, उसकी रीति अर्थात् इस अक्षर का यह स्थान, यह प्रयत्न, यह करण है। जैसे 'प' इसका ओष्ठ स्थान, स्पृष्ट प्रयत्न और प्राण तथा जीभ की क्रिया करना करण कहाता है। इसी प्रकार यथायोग्य सब अक्षरों का उच्चारण माता-पिता आचार्य सिखलावें।

तदनन्तर **व्याकरण**[2] पढ़ावें। जो बुद्धिमान्, पुरुषार्थी, निष्कपटी, विद्यावृद्धि के चाहने वाले नित्य पढ़ें-पढ़ावें, तो तीन वर्ष में पूर्ण वैयाकरण होकर वैदिक लौकिक शब्दों का व्याकरण से बोध कर पुन: अन्य शास्त्रों को शीघ्र सहज में पढ़-पढ़ा सकते हैं। किन्तु जैसा बड़ा परिश्रम व्याकरण में होता है, वैसा श्रम अन्य शास्त्रों में करना नहीं पड़ता। जो महाशय महर्षि लोगों ने सहजता से महान् विषय अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया है, वैसा इन क्षुद्राशय मनुष्यों के कल्पित ग्रन्थों में क्यों कर हो सकता है? महर्षि लोगों का आशय, जहां तक हो सके, वहां तक सुगम और जिसके ग्रहण में समय थोड़ा लगे, इस प्रकार का होता है। और क्षुद्राशय लोगों की मनसा ऐसी होती है कि जहां तक बने, वहाँ तक कठिन रचना करनी; जिसको बड़े परिश्रम से पढ़के अल्प लाभ उठा सकें; जैसे पहाड़ का खोदना कौड़ी का लाभ होना। और आर्ष ग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है कि जैसा एक गोता लगाना बहुमूल्य मोतियों का पाना।

व्याकरण को पढ़के यास्कमुनिकृत **निघण्टु**[3] और **निरुक्त** छ: वा आठ महीने में अर्थसहित पढ़ें-पढ़ावें। तदनन्तर पिङ्गलाचार्यकृत छन्दो-ग्रन्थ, जिससे वैदिक लौकिक छन्दों का परिज्ञान, नवीन रचना और श्लोक बनानेअर्थात् पद्य रचना, छन्दोबद्ध कविता करने की रीति भी यथावत्

---

१. ऋषि दयानन्द की दृष्टि में विद्यारम्भ या वेदारम्भ अर्थात् नियमित रूप में पठन प्रारम्भ करने से पूर्व विद्यार्थी को वर्णोच्चारण की शिक्षा तथा चरित्र निर्माण की दिशा बताना आवश्यक है। इसी का नाम 'शिक्षा' है।

२. ऋषि दयानन्द की दृष्टि में शिक्षा अर्थात् वर्णोच्चारण की शुद्ध पद्धति के बाद 'व्याकरण' अर्थात् 'पदरचना' का क्रम अवश्य सिखाया जाना चाहिये। तभी कोई 'भाषावित्' हो सकता है।

३. व्याकरण विद्या के युक्त अभ्यास के पश्चात् 'अर्थ निर्वचन' की पद्धति सिखाई जानी चाहिये। उसके बाद नाना विद्यायें, विविध विज्ञान मनुष्य सुगमता से सीख सकता है।

सीखें। इस ग्रन्थ और श्लोकों की रचना तथा प्रस्तार को चार महीनें में सीख पढ़-पढ़ा सकते हैं।

तत्पश्चात् **मनुस्मृति, बाल्मीकिरामायण** और **महाभारत** के उद्योगपर्वान्तिर्गत **विदुरनीति** आदि अच्छे-अच्छे प्रकरण, जिनसे दुष्ट व्यसन दूर हों, और उत्तमता व सभ्यता अर्थात् सद् व्यवहार की प्रेरणा प्राप्त हो, वैसे को काव्यरीति से अर्थात् पदच्छेद, पदार्थोक्ति, अन्वय, विशेष्य-विशेषण और भावार्थ को अध्यापक लोग जनावें, और विद्यार्थी लोग जानते जायें। इनको एक वर्ष के भीतर पढ़ लें।

तदनन्तर दर्शन शास्त्र अर्थात् **पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य** और **वेदान्त,** अर्थात् जहां तक बन सके, वहां तक ऋषिकृत व्याख्या सहित अथवा उत्तम विद्वानों की सरल व्याख्यायुक्त छः शास्त्रों को पढ़ें-पढ़ावें। परन्तु व्यास मुनिकृत वेदान्तसूत्रों के पढ़ने के पूर्व ईश, केन, कठ, प्रश्न,मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक इन दश उपनिषदों[1] को पढ़के छः शास्त्रों के भाष्यवृत्ति-सहित सूत्रों को दो वर्ष के भीतर पढ़ावें और पढ़ लेवें।

पश्चात् छः वर्षों के भीतर वेदों के व्याख्यान रूप जो ब्राह्मण अर्थात् **ऐतरेय, शतपथ, साम** और **गोपथ** हैं, उन ब्राह्मणों के सहित चारों वेदों को स्वर, शब्द, अर्थ, सम्बन्ध सहित तथा क्रिया-सहित अर्थात् वेदानुसार जीवन व्यवहार करते हुए पढ़ना योग्य है।

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥

यह निरुक्त १।१८ में मन्त्र है।

जो वेद को स्वर और पाठमात्र को पढ़के अर्थ नहीं जानता, वह जैसा वृक्ष डाली, पत्ते, फल, फूल, और अन्य पशु धान्य आदि का भार उठाता है, वैसे भारवाह अर्थात् भार का उठाने वाला है। और जो वेद को पढ़ता और उनका यथावत् अर्थ जानता है, वही सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त होके देहान्त के पश्चात् ज्ञान से पापों को छोड़ पवित्र धर्माचरण के प्रताप से सर्वानन्द को प्राप्त होता है।[2]

---

१. श्वेताश्वतरोपनिषद् भी पढ़ें।

२. मन्त्रस्मरण, मन्त्रार्थ ज्ञान और तदनुसार आचरण।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥
ऋ० मं० १० । सू० ७१ । मं० ४ ॥

जो अविद्वान् हैं, वे सुनते हुए नहीं सुनते; देखते हुए नहीं देखते; बोलते हुए नहीं बोलते। अर्थात् अविद्वान् लोग इस विद्या-वाणी के रहस्य को नहीं जान सकते। किन्तु जो शब्द अर्थ और उनके सम्बन्ध का सम्यक् जानने वाला है, जैसे सुन्दर वस्त्र-आभूषण धारण करती अपने पति की कामना करती हुई स्त्री अपने शरीर और स्वरूप का प्रकाश पति के सामने करती है, वैसे विद्या उस विद्वान् के लिए अपने स्वरूप का प्रकाश करती है, अविद्वानों के लिए नहीं।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥
ऋ० मं० १। सू० १६४। ३९ ॥

जिस व्यापक अविनाशी सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर में सब विद्वान् और पृथिवी सूर्य आदि सब लोक स्थित हैं, कि जिसमें सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है, उस ब्रह्मको जो पुरुष नहीं जानता, वह ऋग्वेदादिके पढ़ लेने से क्या कुछ सुख को प्राप्त हो सकता है? किन्तु जो वेदों को पढ़ के धर्मात्मा योगी होकर उस ब्रह्म को जानते हैं, वे सब परमेश्वर में स्थित होके मुक्ति रूपी परमानन्द को प्राप्त होते हैं। इसलिये जो कुछ पढ़ना वा पढ़ाना हो, वह अर्थज्ञान-सहित होना चाहिये।[1]

इस प्रकार सब वेदों को पढ़के फिर **आयुर्वेद** अर्थात् जो चरक, सुश्रुत आदि ऋषि-मुनिप्रणीत वैद्यक-शास्त्र हैं, उसको अर्थ, क्रिया, शस्त्र, छेदन, भेदन, लेप, चिकित्सा, निदान, औषध, पथ्य, शरीर, देश, काल और वस्तु के गुणज्ञानपूर्वक चार वर्ष के भीतर पढ़े-पढ़ावें। तदनन्तर **धनुर्वेद** अर्थात् जो राजसम्बन्धी काम करना है, पढ़ें। इसके दो भेद—एक निज राजपुरुष सम्बन्धी और दूसरा प्रजासम्बन्धी होता है। राजकार्य में सब सेना के अध्यक्ष, शस्त्रास्त्र-विद्या, नाना प्रकार के व्यूहों का अभ्यास, अर्थात् जिसको आजकल 'कवायद' कहते हैं, जो कि शत्रुओं से लड़ाई के समय में क्रिया करनी होती है, उनको यथावत् सीखें। और जो-जो प्रजा

१. अर्थात् तदनुसार जीवन व्यवहार होना चाहिये।

के पालने और वृद्धि करने का प्रकार है, उनको सीखके न्यायपूर्वक सब प्रजा को प्रसन्न रक्खें; दुष्टों को यथायोग्य दण्ड, श्रेष्ठों के पालन का प्रकार भी सब प्रकार सीख लें। इस राजविद्या को दो-दो वर्ष में सीखकर **गान्धर्ववेद** कि जिसको 'गानविद्या' कहते हैं, उसमें स्वर, राग, रागिणी, समय, ताल, ग्राम, तान, वादित्र, नृत्य, गीत आदि को यथावत् सीखें। परन्तु मुख्य करके सामवेद का गान वादित्रवादनपूर्वक सीखें, और नारद-संहिता आदि जो-जो आर्ष ग्रन्थ संगीत विद्या के हैं, उनको पढ़ें। परन्तु भडुवे, वेश्या, और विषयासक्तिकारक वैरागियों के गर्दभशब्दवत व्यर्थ आलाप कभी न करें। तदनन्तर,

अर्थवेद कि जिसको 'शिल्पविद्या' कहते हैं, उसको पदार्थ-गुण-विज्ञान, क्रिया-कौशल, नानाविध पदार्थों का निर्माण, पृथिवी से लेके आकाश-पर्यन्त की विद्या को यथावत् सीखें अर्थात् जो ऐश्वर्य को बढ़ाने वाला विज्ञान है, उस को सीखें। तदनन्तर दो वर्ष में **ज्योतिषशास्त्र** सूर्यसिद्धान्तादि, जिसमें बीजगणित, अंक, भूगोल, खगोल और भूगर्भ-विद्या है, इसको यथावत् सीखें। तत्पश्चात् सब प्रकार की हस्तक्रिया यन्त्रकला आदि को सीखें। परन्तु जितने ग्रह, नक्षत्र, जन्मपत्र, राशि, मुहूर्त, आदि के फल के विधायक ग्रन्थ हैं, उनको झूठ[1] समझ के कभी न पढ़ें और न पढ़ावें।

ऐसा प्रयत्न पढ़ने और पढ़ाने वाले करें कि जिससे बीस वा इक्कीस वर्ष के भीतर समग्र विद्या तथा चरित्र की उत्तम शिक्षा प्राप्त होके मनुष्य लोग कृतकृत्य होकर सदा आनन्द में रहें। जितनी विद्या अर्थात् ज्ञान विज्ञान की प्राप्ति इस रीति से बीस वा इक्कीस वर्षों में हो सकती है; उतनी अन्य प्रकार से शत वर्ष में भी नहीं हो सकती।

ऋषिप्रणीत ग्रन्थों को इस लिए पढ़ना चाहिए कि वे बड़े विद्वान्, सब शास्त्रविद् और धर्मात्मा थे।[2] और अनृषि अर्थात् जो अल्पशास्त्र पढ़े हैं और जिनका आत्मा पक्षपातसहित है, उनके बनाये हुए ग्रन्थ भी वैसे ही भ्रान्त व मिथ्या मत के होते हैं।

१. अर्थात् मिथ्या, सृष्टि विद्या से विरुद्ध।

२. किस प्रकार के शास्त्र ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन होना चाहिये, इसकी विशद मीमांसा आयुर्वेद के प्रमाण शास्त्र चरक विमान स्थान अ. ८, खं. ३ में विस्तार से की गई है।

इन ऊपर परिगणित ग्रन्थों में भी जो-जो विषय वेद-विरुद्ध प्रतीत हो, उस-उसको छोड़ देना चाहिये। क्योंकि वेद ईश्वरकृत होने से निर्भ्रान्त स्वत:प्रमाण अर्थात् वेद का प्रमाण वेद ही से होता है। ब्राह्मणादि सब ग्रन्थ परत:प्रमाण हैं अर्थात् इनका प्रमाण वेदाधीन है।

इनके अतिरिक्त सब **परित्याग के योग्य ग्रन्थ हैं**; ये सब कपोल कल्पित मिथ्या ग्रन्थ हैं। इन्हें जाल ग्रन्थ समझना चाहिये[1]—

प्रश्न—क्या इन कपोल कल्पिल मिथ्या ग्रन्थों में कुछ भी सत्य नहीं है? ये सर्वथा परित्याग के योग्य हैं?

उत्तर—थोड़ा सत्य तो है; परन्तु इसके साथ वहुत-सा असत्य भी है। इससे **'विषसम्पृक्तान्नवत् त्याज्या:'** जैसे अत्युत्तम अन्न विष से युक्त होने से छोड़ने योग्य होता है, वैसे ये भी परित्याग के योग्य ग्रन्थ हैं।

प्रश्न—क्या आप पुराण-इतिहास को नहीं मानते?

उत्तर—हां मानते हैं, परन्तु सत्य को मानते हैं; मिथ्या को नहीं।

प्रश्न—जो त्याज्य ग्रन्थों में सत्य है, उसका ग्रहण क्यों नहीं करते?

उत्तर—जो-जो उनमें सत्य है, सो-सो वेदादि-सत्य-शास्त्रों का है, और मिथ्या उनके घर का है। वेदादि-सत्य-शास्त्रों के स्वीकार में सब सत्य ग्रहण हो जाता है। जो कोई इन मिथ्या ग्रन्थों से सत्य का ग्रहण करना चाहे, तो मिथ्या भी उसके गले लिपट जावे। इसलिये 'असत्यमिश्रं सत्यं दूरतस्त्याज्यमिति' असत्य से युक्त ग्रन्थस्थ सत्य को भी वैसे ही छोड़ देना चाहिये, जैसे विषयुक्त अन्न को।

प्रश्न—तुम्हारा मत क्या है?

उत्तर—हमारा मत वेद है अर्थात् जो-जो वेद में करने और छोड़ने की शिक्षा की है, उस-उसका हम यथावत् करना, छोड़ना मानते हैं। वेद हमको मान्य है। ऐसा ही मानकर सब मनुष्यों को विशेषत: सब आर्यों को एक मत्य होकर रहना चाहिये।[2]

जो विद्या **पढ़ने-पढ़ाने के विघ्न** हैं उनको छोड़ देवें। जैसा कुसंग

---

१. इनमें योगवासिष्ठ, पञ्चदशी, विचारसागर आदि; हठयोगप्रदीपिका; सब तन्त्र-ग्रन्थ, सब पुराण उप पुराण; तुलसीदासकृत भाषा रामायण आदि त्याज्य ग्रन्थ हैं।

२. द्र. **'मन्त्र श्रुत्यं चरामसि'**।

अर्थात् दुष्ट विषयी जनों का संग; दुष्टव्यसन जैसा मांस-मद्यादि-सेवन और वेश्यागमनादि, बाल्यावस्था में विवाह, अर्थात् पच्चीसवें वर्ष से पूर्व पुरुष और सोलह वर्ष से पूर्व स्त्री का विवाह हो जाना, राजा माता-पिता और विद्वानों का वेदादि शास्त्रों के प्रचार में प्रेम न होना, अति-भोजन, अतिजागरण करना, पढ़ने-पढ़ाने, परीक्षा लेने वा देने में आलस्य वा कपट करना, ब्रह्मचर्य से बल, बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य, राज्य-धन की वृद्धि न मानना, ईश्वर का ध्यान छोड़ अन्य पाषाणादि जड़ मूर्ति के दर्शन-पूजन में व्यर्थ काल खोना, माता-पिता अतिथि और आचार्य्य, विद्वान् इनको सत्य मूर्ति मानकर इनकी सेवा सत्संग न करना, वर्णाश्रम के धर्म को छोड़ ऊर्ध्वपुण्ड्र, त्रिपुण्ड्र, तिलक, कण्ठी, माला-धारण, एकादशी, त्रयोदशी आदि व्रत करना, काश्यादि तीर्थ और राम, कृष्ण, नारायण, शिव, भगवती, गणेशादि के नाम स्मरण से पाप दूर होने का विश्वास, पाखण्डियों के उपदेश से विद्या पढ़ने में अश्रद्धा का होना, विद्या धर्म योग परमेश्वर की उपासना के बिना मिथ्या पुराणनामक भागवतादि की कथादि से मुक्ति का मानना, लोभ से सदा धनादि में प्रवृत्ति होकर विद्या में पूर्ण प्रीति न रखना, इधर-उधर व्यर्थ घूमते रहना, इत्यादि मिथ्या व्यवहारों में फंस के ब्रह्मचर्य और विद्या के लाभ से रहित होकर रोगी और मूर्ख बने रहते हैं।[२]

(प्रश्न)[१] कैसे पुरुष विद्या पढ़ाने और शिक्षा करनेहारे होने चाहियें।

(उत्तर) पढ़ानेवालों के लक्षण विदुरनीति अ. ३३ से लिखते हैं:—

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ।।

जिसको परमात्मा और जीवात्मा का यथार्थ ज्ञान, जो आलस्य को छोड़कर सदा उद्योगी, सुखदुःखादि का सहन, धर्म से छुड़ा अधर्म की ओर न खिंच सके, वह 'पंडित' कहाता है।

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते।
अनास्तिकः श्रद्दधान एतत् पण्डितलक्षणम् ।।

जो सदा प्रशस्त धर्मयुक्त कर्मों को करने और निन्दित अधर्मयुक्त

१. यहां से आगे व्यवहारभानु का लेख है।

२. वर्त्तमान विद्यार्थी समुदाय में प्रायः ये दुर्गुण पाये जाते हैं।

कर्म्मों को कभी न सेवनेहारा, न कदापि ईश्वर वेद और धर्म का विरोधी और परमात्मा, सत्यविद्या और धर्म में दृढ़ विश्वासी है, वही मनुष्य 'पण्डित' के लक्षणयुक्त होता है।

क्षिप्रं विजानाति चिरं श्रृणोति, विज्ञाय चार्थं भजते न कामात्।
नासंपृष्टो ह्युपयुङ्क्ते परार्थे तत् प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥

जो वेदादि शास्त्र और दूसरे के कहे अभिप्राय को शीघ्र ही जानने, दीर्घकाल पर्य्यन्त वेदादि शास्त्र और धार्मिक विद्वानों के वचनों को ध्यान देकर सुनकर ठीक २ समझ निरभिमानी शान्त होकर दूसरों से प्रत्युत्तर करने, परमेश्वर से लेकर पृथिवी पर्य्यन्त पदार्थों को जानकर उनसे उपकार लेने में तन, मन, धन से प्रवृत्त होकर काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोकादि दुष्ट गुणों से पृथक् वर्त्तमान किसी के पूछने वा दोनों के सम्वाद में विना प्रसङ्ग के अयुक्त भाषणादि व्यवहार न करने वाला मनुष्य है, यही 'पण्डित' की बुद्धिमत्ता का प्रथम लक्षण है ॥२२॥

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥

जो मनुष्य प्राप्त होने के अयोग्य-पदार्थों की कभी इच्छा नहीं करते; अदृष्ट वा किसी पदार्थ के नष्ट भ्रष्ट हो जाने पर शोक करने की अभिलाषा नहीं करते और बड़े बड़े दुःखों से युक्त व्यवहारों की प्राप्ति में भी मूढ़ होकर नहीं घबराते हैं; वे मनुष्य 'पण्डितों' की बुद्धि से युक्त कहाते हैं ॥२३॥

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान्।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ॥

जिसकी वाणी सब विद्याओं में चलनेवाली, अत्यन्त अद्भुत विद्याओं की कथाओं को करने, विना जाने पदार्थों को तर्क से शीघ्र जानने-जनाने, सुनी विचारी विद्याओं को सदा उपस्थित रखने और जो सब विद्याओं के ग्रन्थोंको अन्य मनुष्यों को शीघ्र पढ़ानेवाला मनुष्य है, वही 'पण्डित' कहाता है ॥२८॥

श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा।
असंभिन्नार्य्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः ॥

जिसकी सुनी हुई और पठित विद्या अपनी बुद्धि के सदा अनुकूल

और बुद्धि और क्रिया सुनी पढ़ी हुई विद्याओं के अनुसार जो धार्मिक श्रेष्ठ पुरुषों की मर्यादा का रक्षक और दुष्ट डाकुओं की रीति को विदीर्ण करने हारा मनुष्य है, वही 'पण्डित' नाम धराने के योग्य होता है ॥२९॥

जहां ऐसे ऐसे सत्य पुरुष पढ़ाने और बुद्धिमान पढ़नेवाले होते हैं, वहां विद्या और धर्म की वृद्धि होकर सदा आनन्द ही बढ़ता जाता है और जहां निम्नलिखित मूढ़ पढ़ने पढ़ानेहारे होते हैं, वहां अविद्या और अधर्म्म की उन्नति होकर दुःख ही बढ़ता जाता है।

(प्रश्न) कैसे मनुष्य पढ़ाने और उपदेश करने वाले न होने चाहियें ?

(उत्तर) मूर्ख के लक्षण भी विदुरनीति अ. ३३ से लिखते हैं।

अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः।
अर्थांश्चाकर्म्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः॥

जो किसी विद्या को न पढ़ और किसी विद्वान् का उपदेश न सुनकर बड़ा घमण्डी तथा दरिद्र होकर धनसम्बन्धी बड़े बड़े कामों की इच्छा वाला और बिना किये बड़े बड़े फलों की इच्छा करनेहारा है।

स्वसामर्थ्य के बिना अशक्य मनोरथ किया करना मूर्खों का काम है और जो बिना परिश्रम के पदार्थों की प्राप्ति में उत्साही होता है, उसी मनुष्य को विद्वान् लोग 'मूर्ख' कहते हैं।

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः॥२॥

(महाभारत उद्योगपर्व विदुर प्रजागर अ० ३२)

जो बिना बुलाये जहाँ-तहाँ सभादि स्थानों में प्रवेश कर सत्कार और उच्चासन को चाहे वा ऐसे रीति से बैठे कि सब सत्पुरुषों को उसका आचरण अप्रिय विदित हो, बिना पूछे बहुत अण्डबण्ड बके, अविश्वासियों में विश्वासी होकर सुख की हानि कर लेवे; वही मनुष्य 'मूढ़बुद्धि' और मनुष्यों में नीच कहाता है ॥२॥

जहाँ ऐसे २ मूढ़ मनुष्य पठनपाठन आदि व्यवहारों को करनेहारे होते हैं, वहाँ सुखों का तो दर्शन कहाँ ? किन्तु दुःखों की भरमार तो हुआ करती है, इसलिए बुद्धिमान लोग ऐसे-ऐसे मूढ़ों का प्रसंग वा इनके साथ पठनपाठन क्रिया को व्यर्थ समझकर पूर्वोक्त धार्मिक विद्वानों का

प्रसङ्ग और उनही से विद्या का अभ्यास और सुशील बुद्धिमान् विद्यार्थियों ही को पढ़ाया करें। ये विद्वान् और मूर्ख के लक्षणाविधायक श्लोक विदुर-प्रजागर के ३२ अध्याय में एक ही ठिकाने लिखे हैं।।

जो विद्यार्थी व शिष्य विद्या पढ़े और जो अध्यापक गुरु व आचार्य विद्या पढ़ावें, वे दोनों निम्नलिखित दोपयुक्त न हों :—

आलस्यं मदमोहौ च चापल्यं गोष्ठिरेव च।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथाऽत्यागित्वमेव च।।
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः।
सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम्।।

[विदुरनीति अध्याय ४०]

आलस्य, अभिमान, नशा करना, मूढ़ता, चपलता, व्यर्थ इधर-उधर की अण्डवण्ड बातें करना, जड़ता, कभी पढ़ना, कभी न पढ़ना, अभिमान और लोभ लालच ये सात (७) विद्यार्थियों के लिए विद्या के विरोधी **'दोष'** हैं। क्योंकि जिसको सुख चैन करने की इच्छा है, उसको विद्या कहाँ और जिसका चित्त विद्याग्रहण कराने में लगा है, उसको विषय सम्बन्धी सुख चैन कहाँ ? इसलिए विषय सुखार्थी विद्या को छोड़े और विद्यार्थी विषयसुख से अवश्य अलग रहे। नहीं तो परम धर्मरूपविद्या का पढ़ना-पढ़ाना कभी नहीं हो सकेगा।

(प्र०)—कैसे २ मनुष्य विद्याओं की प्राप्ति कर और करा सकते हैं ?

(उ०)—ब्रह्मचर्यस्य च गुण शृणु त्वं वसुधाधिप !
आजन्ममरणाद्यस्तु ब्रह्मचारी भवेदिह ।।१।।
न तस्य किंचिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप !
बह्वयः कोटयस्त्वृषीणां च ब्रह्मलोके वसन्त्युत ।।२।।
सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्ध्वरेतसाम्।
ब्रह्मचर्यं दहेद् राजन् सर्वपापान्युपासितम् ।।३।।

महाभारत में भीष्म जी युधिष्ठिर से कहते हैं कि-हे राजन् ! तू ब्रह्मचर्य के गुण सुन। जो मनुष्य इस संसार में जन्म से लेके मरणपयन्त ब्रह्मचारी होता है [१] उसको कोई शुभ गुण अप्राप्त नहीं रहता, ऐसा

तू जान कि जिसके प्रताप से अनेक करोड़ ऋषि ब्रह्मलोक अर्थात् सर्वानन्द स्वरूप परमात्मा में वास करते और इस लोक में भी अनेक सुखों को प्राप्त होते हैं [२] जो निरन्तर सत्य में रमण, जितेन्द्रिय, शान्तात्मा, उत्कृष्ट शुभगुण स्वभावयुक्त और रोगरहित पराक्रमसहित शरीर ब्रह्मचर्य अर्थात् वेदादि सत्यशास्त्र और परमात्मा की उपासना का अभ्यास कर्मादि करते हैं, उनके वे सब गुण, बुरे काम और दुःखों को नष्ट कर सर्वोत्तम धर्मयुक्त कर्म और सब सुखों की प्राप्ति कराने हारे होते हैं और इन्हीं के सेवन से मनुष्य उत्तम अध्यापक और उत्तम विद्यार्थी हो सकते हैं ।।३।।

(प्र०) विद्या किस २ प्रकार और किन कर्मों से होती है ?।।

(उ०) **चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति। आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति ।।**

पतञ्जलीमुनिकृत महा० भाष्य अ० १ । १ । १ । आ० । १ ।।

विद्या चार प्रकार से आती है--आगम, स्वाध्याय, प्रवचन और व्यवहारकाल से। **'आगमकाल'** उसको कहते हैं कि जिससे मनुष्य पढ़ानेवाले से सावधान होकर ध्यान देके विद्यादि पदार्थ ग्रहण कर सकें। **'स्वाध्याय-काल'** उसको कहते हैं कि जो पठन समय में आचार्य के मुख से शब्द, अर्थ और सम्बन्धों की बातें प्रकाशित हों, उनको एकान्त में स्वस्थचित्त होकर पूर्वापर विचार के ठीक २ हृदय में दृढ़ कर सके। **'प्रवचनकाल'** उसको कहते हैं कि जिससे दूसरों की प्रीति से विद्याओं को पढ़ा सकना। **'व्यवहारकाल'** उसको कहते हैं कि जब अपने आत्मा में सत्यविद्या होती है; तब यह करना, यह न करना, वही ठीक २ सिद्ध होके वैसा ही आचरण करना हो सके, ये चार प्रयोजन हैं तथा अन्य भी चार कर्म विद्याप्राप्ति के लिए हैं--श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार। **'श्रवण'** उसको कहते हैं कि आत्मा मन के और मन श्रोत्र इन्द्रिय के साथ यथावत् युक्त करके अध्यापक के मुख से जो २ अर्थ और सम्बन्ध के प्रकाश करनेहारे शब्द निकलें, उनको श्रोत्र से मन और मन से आत्मा में एकत्र करते जाना। **'मनन'** उसको कहते हैं कि जो २ शब्द अर्थ और सम्बन्ध आत्मा में एकत्र हुए हैं, उनका एकान्त में स्वस्थचित्त होकर विचार करना कि कौन शब्द किस अर्थ के साथ और कौन अर्थ किस शब्द के साथ सम्बन्ध अर्थात् मेल रखता और इनके मेल में किस प्रयोजन की सिद्धि और उलटे होने में क्या २ हानि होती है ? इत्यादि। **'निदिध्यासन'** उसको कहते

हैं कि जो जो अर्थ और सम्बन्ध सुने विचारे हैं, वे ठीक २ हैं वा नहीं ? इस बात की विशेष परीक्षा करके दृढ़ निश्चय करना और 'साक्षात्कार' उसको कहते हैं कि जिन अर्थों के शब्द और सम्बन्ध सुने विचारे और निश्चय किये हैं, उनको यथावत् ज्ञान और क्रिया से प्रत्यक्ष करके व्यवहारों की सिद्धि से अपना और पराया उपकार करना आदि विद्या की प्राप्ति के साधन हैं ॥

(प्र०) आचार्य गुरु वा अध्यापक के साथ विद्यार्थी वा शिष्य कैसा बर्ताव करें और कैसा बर्ताव न करें ?

(उ०) विद्यार्थी अपने आचार्य के साथ निम्न प्रकार से वर्त्तें। मिथ्या को छोड़के सत्य बोलें, सरल रहें, अभिमान न करें, आज्ञा पालन करें, स्तुति करें, निन्दा न करें, नीचे आसन पर बैठें, शान्त रहें, चपलता न करें, आचार्य की ताड़ना पर प्रसन्न रहें, क्रोध कभी न करें, जब कुछ वे पूछें तो हाथ जोड़के नम्र होकर उत्तर देवें, घमण्ड से न बोलें, जब वे शिक्षा करें चित्त देकर सुनें, ठट्ठे में न उड़ावें, शरीर और वस्त्र शुद्ध रक्खें मैले कभी न रक्खें, जो कुछ प्रतिज्ञा करें उसको पूरी करें, जितेन्द्रिय होवें, लम्पटपन व्यभिचार कभी न करें, उत्तमों का सदा मान करें, अपमान न करें, उपकार मानके कृतज्ञ होवें, किसी का अनुपकारी होकर कृतघ्न न होवें, पुरुषार्थी रहें, आलसी कभी न हों, जिस-२ कर्म से विद्याप्राप्ति हो उस २ को करते जायें, जो जो बुरे काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक आदि विद्याविरोधी हों, उनको छोड़कर सदा उत्तम गुणों की कामना करें, बुरे कर्मों पर क्रोध, विद्याग्रहण में लोभ, सज्जनों में मोह, बुरे कामों से भय, अच्छे काम न होने में शोक करके विद्यादि शुभगुणों से आत्मा और वीर्य आदि धातुओं की रक्षा से जितेन्द्रिय हो, शरीर का बल सदा बढ़ाते जायें।

(प्र०) आचार्य विद्यार्थियों के साथ कैसे वर्त्तें ?

(उ०) जिस प्रकार से विद्यार्थी विद्वान्, सुशील, निरभिमानी, सत्यवादी, धर्मात्मा, आस्तिक, निरालस्य, उद्योगी, परोपकारी, वीर, धीर, गम्भीर, पवित्राचरण, शान्तियुक्त, दमनशील, जितेन्द्रिय, ऋजु, प्रसन्नवदन, होकर माता, पिता, आचार्य, अतिथि, बन्धु, मित्र, राजा, प्रजा, आदि के प्रियकारी हों। जब किसी से बातचीत करें, तब जो २ उसके मुख से अक्षर पद वाक्य निकलें, उनको शान्त होकर सुनके प्रत्युत्तर देवें। जब कभी

कोई बुरी चेष्टा, मलिनता, मैले वस्त्र धारण, बठने, विपरीताचरण, निन्दा ईर्ष्या, द्रोह, विवाद, लड़ाई, बखेड़ा, चुगली, किसी पर मिथ्या दोष लगाना, चोरी, जारी, अनाभ्यास, आलस्य, अतिनिद्रा, अतिभोजन, अति-जागरण, व्यर्थ खेलना, इधर-उधर अट्ट-सट्ट गप्पें मारना, बुरे व्यवहारों की कथा करना वा सुनना, दुष्टों के सङ्ग बैठना आदि दुष्ट व्यवहार करे, तो उसको यथाऽपराध कठिन दण्ड देवे ।

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः ।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः ॥

महाभाष्य अ० ८ । पा० १ । सू० ८ । आ० १ ॥

आचार्य लोग अपने विद्यार्थियों को विद्या और सुशिक्षा होने के लिये प्रेमभाव से अपने हाथों से लाड़ना करते हैं, क्योंकि सन्तान और विद्यार्थियों का जितना लाड़न करना है, उतना ही उनके लिये बिगाड़ और जितनी ताड़ना करनी है, उतनाही उनके लिये सुधार है । परन्तु ऐसी ताड़ना न करे कि जिससे अंग भंग वा मर्म में लगने से विद्यार्थी वा लड़के लड़की लोग व्यथा को प्राप्त हो जायें ॥

(प्र०) पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यं न पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यं दन्तकटाकटेति किं कर्त्तव्यम् ?

हुड़दङ्ग उवाच—हुड़दङ्गा अर्थात् गड़बड़ी अवारागर्द कहता है कि जो पढ़ता है, वह भी मरता है और जो नहीं पढ़ता, वह भी मरता है। फिर पढ़ने-पढ़ाने में दाँत कटाकट क्यों करना ?

(उ०) न विद्या विना सौख्यं नराणां जायते ध्रुवम् ।
अतो धर्म्मार्थमोक्षेभ्यो विद्याभ्यासं समाचरेत् ॥

सज्जन उवाच—सज्जन कहता है कि सुन भाई हुड़दंगे ! जो तू जानता है सो विद्या का फल नहीं कि विद्या के पढ़ने से जन्म मरण, आँख से देखना, कान से सुनना आदि ये ईश्वरीय नियम अन्यथा होजायं, किन्तु विद्या से यथार्थज्ञान होकर यथायोग्य व्यवहार करने कराने से आप और दूसरों को आनन्दयुक्त करना '**विद्या का फल**' है । क्योंकि विना विद्या के किसी मनुष्यको निश्चल सुख नहीं हो सकता । क्या भया जो किसीको क्षण भर सुख हुआ, न हुआ-सा है । किसी का सामर्थ्य नहीं है कि जो अविद्वान् होकर, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के स्वरूप को यथावत जानकर सिद्ध

कर सके। इसलिए सबको उचित है कि इनकी सिद्धि के लिये विद्या का अभ्यास तन, मन, धन से किया और कराया करे॥

(हुड़दङ्गा) हम देखते हैं कि बहुत से मनुष्य विद्या पढ़े हुए दरिद्र और भीख माँगते तथा विना पढ़े हुए राज्य धन का आनन्द भोगते हैं।

(सज्जन) सुनो प्रिय ! सुख दुःख का योग आत्मा में हुआ करता है। जहाँ विद्यारूप सूर्य्य का अभाव और अविद्यान्धकार का भाव है, वहाँ दुःखों की तो भरमार, सुख की क्या कथा कहना है ? और जहाँ विद्यार्क प्रकाशित होकर अविद्यान्धकार को नष्ट कर देता है, उस आत्मा में सदा आनन्द का योग और दुःख को ठिकाना भी नहीं मिलता है। हुड़दङ्गा शिर धुनकर चुप हो गया॥

(प्र०) आचार्य, किस रीति से विद्या और सुशिक्षा का ग्रहण करावें और विद्यार्थी लोग करें ?

(उ०) आचार्य समाहित होकर ऐसी रीति से विद्या और सुशिक्षा करें कि जिससे विद्यार्थी के आत्मा के भीतर सुनिश्चित अर्थ होकर उत्साह ही बढ़ता जाय; ऐसी चेष्टा व कर्म कभी न करें कि जिसको देख वा करके विद्यार्थी अधर्मयुक्त होजावें। दृष्टान्त—हस्तक्रिया, यन्त्र, कला-कौशल विचार आदि से विद्यार्थियों के आत्मा में पदार्थ इस प्रकार साक्षात् करावें कि एक के जानने से हजारों पदार्थ यथावत् जानते जायें। अपने आत्मा में इस बात का ध्यान रक्खें कि जिस-जिस प्रकार से संसार में विद्या वा धर्माचरण की बढ़ती और मेरे पढ़ाये मनुष्य अविद्वान् और कुशिक्षित होकर मेरी निन्दा के कारण न हो जायं कि मैं ही विद्या के रोकने और अविद्या की वृद्धि का निमित्त न गिना जाऊँ; ऐसा न हो कि सर्वात्मा परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव से मेरे गुण कर्म स्वभाव विरुद्ध होने से मुझको महादुःख भोगना हो। इत्यादि उत्तम व्यवहार आचार्य लोग नित्य करते जायं। विद्यार्थी लोग भी जिन कर्मों से आचार्य की प्रसन्नता होती जाय, वैसे कर्म करें; जिससे उसकी आत्मा सन्तुष्ट होकर चाहे कि ये लोग विद्या से युक्तहोकर सदा प्रसन्न रहें। रात दिन विद्या ही के विचार में लगकर एक दूसरे के साथ प्रेम से परस्पर विद्या को ही बढ़ाते जावें। जहाँ विषय वा अधर्म की चर्चा भी होती हो, वहाँ कभी खड़े भी न रहें। जहाँ-जहाँ विद्यादि व्यवहार और धर्म का व्याख्यान होता हो, वहाँ

से अलग कभी न रहें। भोजन छादन ऐसी रीति से करें कि जिससे कभी रोग, वीर्यहानि वा प्रमाद न बढ़े। जो बुद्धि के नाश करनेहारे नशा के पदार्थ हों, उनको ग्रहण कभी न करें, किन्तु जो २ ज्ञान बढ़ाने और रोग नाश करनेहारे पदार्थ हों, उन्हींका सेवन सदा किया करें। नित्यप्रति परमेश्वर का ध्यान, योगाभ्यास, बुद्धि का वढ़ाना, सत्य धर्म की निष्ठा और अधर्म का सर्वथा त्याग करते रहें। जो-जो पढ़ने में विघ्नरूप कर्म हों, उनको छोड़कर पूर्णविद्या को प्राप्त करें, इत्यादि दोनों के गुण कर्म हैं॥

(प्र०) सत्य और असत्य का निश्चय किस प्रकार से होता है? क्योंकि जिसको एक सत्य कहता है, दूसरा उसीको मिथ्या वतलाता है। उसका निर्णय करने में क्या २ निश्चित साधन हैं?

(उ०) पांच हैं। उन में **प्रथम**—ईश्वर उसके गुण, कर्म, स्वभाव और वेदविद्या। **दूसरा**—सृष्टिक्रम। **तीसरा**—प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण। **चौथा**—आप्तों का आचार, उपदेश, ग्रन्थ और सिद्धान्त और **पांचवां**—अपने आत्मा की साक्षी, अनुकूलता, जिज्ञासुता, पवित्रता और विज्ञान। **पहला**—'ईश्वरादि से परीक्षा' करना उसको कहते हैं कि जो २ ईश्वर के न्याय आदि गुण पक्षपातरहित सृष्टि बनाने का कर्म और सत्य, न्याय, दयालुता, परोपकारता आदि स्वभाव और वेदोपदेश से सत्य और धर्म ठहरे वही सत्य और धर्म और जो-जो असत्य और अधर्म ठहरे वही असत्य और अधर्म है। जैसे कोई कहे कि बिना कारण और कर्त्ता के कार्य होता है सो सर्वथा मिथ्या जानना। इससे यह सिद्ध होता है कि जो सृष्टि की रचना करनेहारा पदार्थ है वही ईश्वर है और उसके गुण कर्म स्वभाव वेद और सृष्टिक्रम से ही निश्चित जाने जाते हैं। **दूसरा**—'सृष्टिक्रम, उसको कहते हैं कि जो २ सृष्टिक्रम अर्थात् सृष्टि के गुण, कर्म और स्वभाव से विरुद्ध हो वह मिथ्या और अनुकूल हो वह सत्य कहाता है। जैसे कोई कहे कि विना मां वाप के लड़का, कान से देखना, आँख से बोलना आदि होता वा हुआ है। ऐसी-ऐसी बातें सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने से मिथ्या और माता पिता से सन्तान, कान से सुनना और आँख से देखना आदि सृष्टिक्रम से अनुकूल होने से सत्य ही हैं। **तीसरा**[1] 'प्रत्यक्ष आदि आठ प्रमाणों से परीक्षा' करना उसको कहते हैं कि जो-जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों

---

१. प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव

से ठीक २ ठहरे वह सत्य और जो-जो विरुद्ध ठहरे वह मिथ्या समझना चाहिए। **चौथा** 'आप्तों के आचार और सिद्धान्त से परीक्षा' करना उसको कहते हैं कि जो २ सत्यवादी सत्यकारी सत्यमानी पक्षपातरहित सबके हितैषी विद्वान् सबके सुख के लिए प्रयत्न करें वे धार्मिक लोग आप्त कहाते हैं। उनके उपदेश, आचार, ग्रन्थ और सिद्धान्त से जो युक्त हो वह सत्य और जो विपरीत हो वह मिथ्या है। **पांचवां** 'आत्मा से परीक्षा' उसको कहते हैं कि जो-जो अपना आत्मा अपने लिए चाहे, सो २ सबके लिये चाहना और जो २ न चाहे सो २ किसी के लिये न चाहना। जैसा आत्मा में वैसा मन में, जैसा मन में वैसा क्रिया में होने को जानने की इच्छा, शुद्ध भाव और विद्या के नेत्र से देखकर सत्य और असत्य का निश्चय करना चाहिए। इन पाँच प्रकार की परीक्षाओं से पढ़ने-पढ़ानेहारे तथा सब मनुष्य सत्याऽसत्य का निर्णय करके धर्म का ग्रहण और अधर्म का परित्याग करें और करावें।

(प्र०) धर्म और अधर्म किसको कहते हैं ?

(उ०) जो पक्षपातरहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग, पांचों परीक्षाओं के अनुकूल आचरण, ईश्वराज्ञापालन, परोपकार करनारूप 'धर्म' जो इससे विपरीत वह 'अधर्म' कहाता है। क्योंकि जो सबके अविरुद्ध वह धर्म और जो परस्पर विरुद्धाचरण सो अधर्म क्योंकर न कहावेगा ? देखो ! किसी ने किसी से पूछा कि सत्य क्या है ? उसको उसने उत्तर दिया जो मैं मानता हूं। फिर उसने पूछा और जो वह मानता है, वा जो मैं जानता हूं वह क्या है ? उसने कहा कि अधर्म है। यही पक्षपात से मिथ्या और विरुद्धाचार अधर्म और जब तीसरे ने दोनों से पूछा कि सत्य बोलना धर्म अथवा असत्य ? तब दोनों ने उत्तर दिया कि सत्य बोलना धर्म और असत्य बोलना अधर्म है, इसी का नाम धर्म जानो। परन्तु यहाँ पांच परीक्षा की युक्ति से सत्य और असत्य का निश्चय करना योग्य है॥

(प्र०) जड़बुद्धि और तीव्रबुद्धि किसे कहते हैं ?

(उ०) जो आप तो समझ ही न सके परन्तु दूसरे के समझाने से भी न समझे वह 'जड़बुद्धि' और जो समझाने से झटपट समझे और थोड़े ही समझाने से बहुत समझ जावे वह 'तीव्रबुद्धि' कहाता है। यहां महाजड़ और विद्वान् का दृष्टान्त सुनो।

कहीं एक रामदास वैरागी का चेला भूपालदास पाठ करता २ कुए पर पानी भरने को गया। वहां एक पण्डित बैठा था। उसने अशुद्ध पाठ सुनकर कहा कि तू "स्त्री गनेसायनम:" ऐसा घोकता है, सो शुद्ध नहीं है; किन्तु "श्री गणेशाय नमः" ऐसा शुद्ध पाठकर। तब वह बोला कि मेरे महन्तजी बड़े पण्डित हैं। उन्होंने जैसा मुझको बताया है वैसा ही घोखूंगा। उसने पानी भरकर अपने गुरु के पास जाके कहा कि महाराजजी ? एक बम्मन मेरे पाठ को अशुद्ध बतलाता है। तब खाकीजी ने चेलों से कहा कि उस बम्मन को यहाँ बुला लाओ, वह गुरु का फटकारा मेरे चेले को क्यों बहकाता है और सुद्ध का अशुद्ध क्यों बतलाता है ? चेला गया पण्डितजी को बुला लाया। पण्डित से महन्त बोले कि तू इसके कितने प्रकार के पाठ जानता है ? पण्डित ने कहा कि एक प्रकार का। महन्तजी ने कहा कि तू कुछ भी नहीं जानता, देख। मैं तीन प्रकार का पाठ जानता हूं। एक-स्त्री गनेसाजनम:। दूसरा-स्त्री गनेसयनम। तीसरा-स्त्री गनेसायनम। (पण्डित) महन्तजी ! तुम्हारे पाठ में पांच दोष हैं। प्रथम श का स। ण का न। शा का सा। य का ज, प बोलना और विसर्जनीय का न बोलना पांच अशुद्धि हैं। महन्तजी बोले—चल बे; गुरुके बड़े घर में सब सुद्ध हैं। पण्डित चुपकर चले आये; क्योंकि **"सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रकथितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम्"** [भर्तृहरिकृत नीति शतक श्लोक १०] अर्थात् सबका औषध शास्त्र में कहा है परन्तु शठ मनुष्यों का औषध नहीं कहा। ऐसे हठी मनुष्यों से अलग रहे। जो वे सुधरा चाहें, तो विद्वान् उपदेश करके उनको अवश्य सुधारें।

(प्र०) जो माता, पिता आचार्य्य और अतिथि अधर्म करें और कराने का उपदेश करें, तो मानना चाहिये वा नहीं।

(उ०) कदापि नहीं। कुमाता कुपिता सन्तानों को ऐसे बुरे उपदेश करते हैं कि बेटा ! बिटिया ! तेरा विवाह शीघ्र कर देंगे, किसी की चीज पावे तो उठा लाना, कोई एक गाली दे तो उसको तू पचास गाली दे; लड़ाई, झगड़ा, खेल, चोरी, जारी, मिथ्याभाषण, भांग, मद्य, गांजा, चरस अफीम खाना, पीना आदि कर्म्म करने में कुछ दोष नहीं क्योंकि अपना कुल-धर्म पहिले से चला आता है, उसके करने में कुछ भी दोष नहीं।

(सुसन्तान आह) जो तुमने शीघ्र विवाह करना, किसी की चीज उठा लाना आदि कर्म्म कहे, वे दुष्ट मनुष्यों के काम हैं, श्रेष्ठों के नहीं।

किन्तु श्रेष्ठ पुरुष तो ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़कर स्वयंवर अर्थात् पूर्ण युवावस्था में दोनों की प्रसन्नतापूर्वक स्वेच्छा से विवाह करना, किसी की करोड़ों की चीज जंगल में पड़ी देखकर कभी ग्रहण करने को मन में इच्छा न करना आदि कर्म्म किया करते हैं। जो जो तुम्हारे उत्तम कर्म्म आदि उपदेश हैं, उन उन को तो हम ग्रहण करते हैं, अन्य को नहीं। परन्तु तुम कैसे भी क्यों न हो, तन, मन, धन से तुम्हारी सेवा करना हमारा परम धर्म्म है। क्योंकि जैसी तुमने बाल्यावस्था में हमारी सेवा की है, वैसी तुम्हारी सेवा हम क्यों न करें ?

(कुसन्तान आह) श्रेष्ठ माता पिता आचार्य्य अतिथियों से अभागिये सन्तान कहते हैं कि हमको खुब खिलाओ, पिलाओ, खेलने दो हमारे लिये कमाया करो, जब तुम मर जाओगे तब हम ही को सब काम करना पड़ेगा। शीघ्र विवाह कर दो, नहीं तो हम इधर उधर लीला करें हीगें। बाग में या नाट्य शाला में जाके नाच तमाशा करेंगे वा वैरागी हो जायेंगे, पढ़ने में बड़ा कष्ट होता है, हमको पढ़के क्या करना है? क्योंकि हमारी सेवा करने वाले तुम तो बने ही हो। हमको सैल, सपट्टा, सवारी शिकारी, नाच, खाने, पीने, ओढ़ने, पहरने, के लिए खूब दिया करो, नहीं तो हम जब जवान होंगे, तब तुमको समझ लेंगे, अपना भाग पृथक् करा लेंगे। ऐसे ऐसे सन्तान दुष्ट कहाते हैं।

उत्तम माता आदि उनसे कहते हैं कि सुनो लड़को ! अभी तुम्हारी पढ़ने, गुनने, सत्सङ्ग करने, अच्छी अच्छी बात सीखने, वीर्यनिग्रह और आचार्य आदि की सेवा करने, विद्वान् होने, शरीर और आत्मा को पूर्ण युवावस्था आदि, उत्तम कर्म करने की अवस्था है। जो चूकोगे, तो फिर पछतावोगे, पुनः ऐसा समय तुमको मिलना अति कठिन है, क्योंकि जब तक हम घर का और तुम्हारे खाने पीने आदि का प्रबन्ध करने वाले हैं, तब तक तुम शिक्षाग्रहणपूर्वक सर्वोत्कृष्ट विद्यारूपी धन को संचित करो। यही अक्षय धन है कि जिसको चोर आदि न ले सकते, न भार होता और जितना दान करो उतना ही अधिक अधिक बढ़ता जाता है। इसके होने से जहां रहोगे वहां सुख और प्रतिष्ठा पाओगे। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्धी कर्म्मों को जानकर सिद्ध कर सकोगे। हम जब तुमको विद्यारूप श्रेष्ठ गुणों से अलंकृत देखेंगे, तभी हमको परम सन्तोष होगा और जो तुम कोई दुष्ट काम करोगे, तो हम अपना भी अभाग्य समझेंगे

क्योंकि हमारे कौन से पापों के फल से हमको दुष्ट सन्तान मिले। क्या तुम नहीं देखते कि जिन मनुष्यों को राज्य धन प्राप्त भी है, परन्तु विद्या और उत्तम शिक्षा के विना नष्ट-भ्रष्ट हो जाते और श्रेष्ठ विद्या सुशिक्षा से युक्त दरिद्र भी राज और ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं। तुमको चाहिये कि—

यान्यस्याकँ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥१॥

तैत्ति. आर. प्रंप्राठक ७। अनुवाक ११।

जो जो उत्तम चरित्र हैं सो सो करो और कभी हम भी बुरे काम करें, उनको कभी मत करो, इत्यादि उत्तम उपदेश और कर्म करने और करानेहारे माता पिता आचार्य्य आदि श्रेष्ठ कहाते हैं।

(प्र०) ब्रह्मचर्य का क्या २ नियम है ?

(उ०) कम से कम पच्चीस वर्ष पर्यन्त पुरुष और सोलह वर्ष पर्यन्त कन्या को ब्रह्मचर्य सेवन अवश्य करना चाहिये और अड़तालीसवें वर्ष से अधिक पुरुष और चौबीस से अधिक कन्या ब्रह्मचर्य का सेवन न करे। किन्तु इसके उपरान्त उत्तम गृहाश्रम का समय है।

(प्र०) प्रमादी—पागल मनुष्य कहता है कि सुनोजी ! कन्याओं का पढ़ना शास्त्रोक्त नहीं क्योंकि जब वे पढ़ जावेंगी ! तो मूर्ख का अपमान कर इधर उधर पत्र भेजकर अन्य पुरुषों से प्रीति जमा के व्यभिचार किया करेंगी।

(उ०) सज्जन—श्रेष्ठ मनुष्य उसको उत्तर देता है। सुनोजी ! तुम्हारे कहने से यह आया कि किसी पुरुष को भी न पढ़ना चाहिये क्योंकि वह भी पढ़कर मूर्ख स्त्री का अपमान और डाकगाड़ी चलाकर इधर उधर अन्य स्त्रियों के साथ सैल सपाटा किया करेगा।

(प्र०) प्रमादी—हां। पुरुषभी न पढ़ें तो अच्छी वात है। क्योंकि पढ़े हुए मनुष्य चतुराई से दूसरों को धोखा देकर अपमान करके अपना मतलब सिद्ध कर लेते हैं।

(प्र०) सज्जन—सुनोजी ! यह विद्या पढ़ने का दोष नहीं किन्तु आप जैसे मनुष्यों के सङ्ग का दोष है और जो पढ़ना पढ़ाना धर्म और ईश्वर की विद्या से विरुद्ध है, सो तो प्रायः बुरे कामका कारण देखने में आता और जो पढ़ना पढ़ाना उक्त विद्या से रहित है, वह तो सबके सुख और उपकार ही के लिए होता है।

(प्र०) मनुष्य विद्या को किस २ क्रम से प्राप्त हो सकता है ?

(उ०) वर्णोच्चारण, व्यवहार की शुद्धि, पुरुषार्थं धार्मिक विद्वानों का सङ्ग, विषयकथाप्रसङ्ग का त्याग, सुविचार से व्याकरण आदि शब्द अर्थ और सम्बन्धों को यथावत् जानकर उत्तम क्रिया करके सर्वथा साक्षात् करता जाय। जिस जिस विद्या के लिये जो जो साधनरूप सत्यग्रन्थ हैं उन उनको पढ़कर वेदादि पढ़ने के योग्य ग्रन्थों के अर्थों को जानना आदि कर्म शीघ्र विद्वान् होने के साधन हैं।[1]

(प्र०) विना पढ़े हुए मनुष्यों की क्या गति होगी ?

(उ०) दो गति होंगी, एक अच्छी और दूसरी बुरी। अच्छी उसको कहते हैं कि जो मनुष्य विद्या पढ़ने का सामर्थ्य तो नहीं रक्खे और वह धर्माचरण किया चाहे तो विद्वानों के सङ्ग और अपने आत्मा की पवित्रता और अविरुद्धता से धर्मात्मा अवश्य हो सकता है। क्योंकि सब मनुष्यों का विद्वान् होना तो सम्भव ही नहीं; परन्तु धार्मिक होनेका सम्भव सब के लिये है कि जैसे अपने लिये सुख की प्राप्ति और दुःख के त्याग, मान्य होने अपमान के न होने आदि की अभिलाषा करते हैं तो दूसरों के लिये क्यों न करनी चाहिये ? जब किसी को कोई चोरी वा किसी पर झूंठा जाल लगाता है तो क्या उसको अच्छा लगता और क्या जिस २ कर्म के करने में अपने आत्मा को शङ्का, लज्जा और भय नहीं होता, वह वह धर्म किसी को विदित नहीं होता ? क्या जो कोई विरोध अर्थात् आत्मा में कुछ और वाणी में कुछ भिन्न और क्रिया में विलक्षणता करता है वह अधर्मी और जिसके जैसा आत्मा में वैसा वाणी और जैसा वाणी में वैसा ही क्रिया में आचरण है, वह धर्मात्मा नहीं है ?

जो आत्मरक्षक अर्थात् आत्मा के अनुकूल ही कहते, मानते और आचरण करते हैं, वे मनुष्य विद्यारूप शुद्ध प्रकाश से युक्त होकर देव अर्थात् विद्वान् नाम से प्रख्यात हैं। वे ही सर्वदा सुख को प्राप्त होकर मरने के पीछे भी आनन्दयुक्त देहादि पदार्थों को प्राप्त होते हैं।

(प्र०) विद्या और अविद्या किसको कहते हैं ?

(उ०) जिससे पदार्थ का स्वरूप जानकर न्याययुक्त कर्म किये

---

१. पीछे पठन पाठन के योग्य ग्रन्थ और परित्याग के योग्य ग्रन्थों की गणना बताई है।

जावें अर्थात् उससे उपकार लेके अपने और दूसरों के लिये सब सुखों को सिद्ध कर सकें वह **'विद्या'** और जिससे किसी पदार्थ के स्वरूप का यथावत् ज्ञान न होकर अन्यायरूप कर्म किये जायें अर्थात् अपना और पराया अनुपकार कर लेवें, वह **'अविद्या'** कहाती है।

(प्र०) मनुष्यों को विद्या की प्राप्ति और अविद्या के नाश के लिए क्या क्या कर्म करना चाहिये ?

(उ०) वर्णोच्चारण से लेकर वेदार्थ ज्ञान के लिए ब्रह्मचर्य आदि कर्म करना योग्य है।

(प्र०) ब्रह्मचारी किसको कहते हैं ?

(उ०) जो जितेन्द्रिय होके ब्रह्म अर्थात् वेद विद्या के लिये तथा आचार्य कुल में जाकर विद्या ग्रहण के लिये प्रयत्न करे, वह 'ब्रह्मचारी' कहाता है।

(प्र०) आचार्य किसको कहते हैं ?

जो विद्यार्थी को अत्यन्त प्रेम से धर्मयुक्त व्यवहार की शिक्षापूर्वक विद्या होने के लिये तन, मन और धन से प्रयत्न करे, उसको 'आचार्य' कहते हैं।

(प्र०) धर्म और अधर्म किसको कहते हैं ?

(उ०) पीछे लिख आये हैं। संक्षेप में—जो न्यायाचरण सबके हितका करना आदि कर्म हैं, उनको 'धर्म' और जो अन्यायाचरण सबके अहित के काम करने हैं, उनको 'अधर्म' जानो।

(प्र०) विद्या पढ़ते समय वा पढ़ के किसी दूसरे को पढ़ावें वा नहीं ?

(उ०) बराबर पढ़ाता जाय, क्योंकि पढ़ने से पढ़ाने में विद्या वृद्धि अधित होती है। पढ़ के आप अकेला विद्वान् रहता और पढ़ानें से दूसरा भी हो जाता है। उत्तरोत्तर काल में विद्या की वृद्धि होती ही है। जो विद्या को प्राप्त होता है, वह मनुष्य परोपकारी धार्मिक अवश्य होता है। क्योंकि जैसे अन्धा कुए में गिर पड़ता है, वैसे देखनेहारा कभी नहीं गिरता और अविद्या की हानि होने आदि प्रयोजन पढ़ाने से ही सिद्ध होते हैं।

(प्र०) क्षुद्रबुद्धिरुवाच—सभी विद्वान् हो जावेंगे, तो हमको कौन पूछेंगे ? और आप ही आप सब पुस्तकों को बांचकर अर्थ समझ लेगें, और

हमें संस्कार पूजापाठ में न बुलावेंगे। विशेष विघ्न वैश्य अर्थात् धनाढ्य और क्षत्रिय अर्थात् राजाओं के पढ़ने में है; क्योंकि उनसे हम लोगों की बड़ी जीविका होती है।

जब किसी शूद्र ने उनके पास पढ़ने की इच्छा से जाके कहा कि मुझको आप कुछ पढ़ाइये, तो अल्पबुद्धि ने पूछा तू कौन है? क्या काम करता है? और तेरे घर में क्या व्यवहार होता है?

(उ०) मैं तो महाराज आपका सेवक शूद्र हूँ, कुछ जिमादारी खेतीवाड़ी भी होती और घर में कुछ लेन देन का भी व्यापार है।

(नष्टमति) छी! छी! तुझको वेदादि विद्या सुनने और हमको सुनाने का भी अधिकार नहीं है। जो तू अपना धर्म्म छोड़कर हमारा धर्म्म करेगा, तो क्या नरक में न पड़ेगा? हां तुझको वेदों से भिन्न ग्रन्थों की कथा सुनने का तो अधिकार हैं। जब तेरी सुनने की इच्छा हो, तब हमको बुला लेना, सुना देंगे। परन्तु आप से आप मत बांच लेना; नहीं तो अधर्मी हो जावेगा जो कुछ भेंट पूजा लाया हो, सो धर के चलाजा और सुन, हमारे वचन को मान ले, नहीं तो तेरी मुक्ति कभी नहीं होगी। खूब कमा और हमारी सेवा किया कर इसी में तेरा कल्याण और इससे ही तुझ पर ईश्वर प्रसन्न होगा।

(शूद्र) महाराज मुझको तो पढ़ने की बहुत इच्छा है, क्या विद्या पढ़ना बुरी चीज है कि दोष लग जांय? और ईश्वर अप्रसन्न हो जावे?

(बकवृत्ति) बस २ तुझको किसी ने बहका दिया है, जो हमारे सामने उत्तर प्रत्युत्तर करता है। हाय! क्या करें कलियुग आ गया, ये नीच दास सेवक शूद्र लोग विद्या को पढ़कर हमारा उपदेश नहीं मानते, बिगड़ गये।

(शूद्र) क्या महाराज! हमारे ही ऊपर कलियुग ने चढ़ाई करदी कि जो हम ही को पढ़ने और मुक्ति से रोकता है।

(स्वार्थी) हाँ २ जो सत्ययुग होता, तो तू हमारे सामने ऐसा बड़-बड़ कर सकता?

(शूद्र) अच्छा तो महाराज, आप जो नहीं पढ़ाते तो हमको जो कोई पढ़ावेगा, उसके चेले हो जावेंगे। इस प्रकार तिरस्कृत हो, सहस्रों स्त्री पुरुष अन्य मुहम्मदीय व क्रैस्तन आदि मतों में चले गये।

(प्र०) जो विद्या पढ़ा हो और उसमें धार्मिकता न हो, तो उसको विद्या का वल होगा वा नहीं ?

(उ०) कभी नहीं। क्योंकि विद्या का यही फल है कि जो मनुष्य को धार्मिक होना अवश्य है। जिसने विद्या के प्रकाश से अच्छा जानकर न किया और बुरा जानकर न छोड़ा, तो क्या वह चोरके समान नहीं है ? क्योंकि जैसे चोर भी चोरी को बुरी जानता हुआ करता और साहूकारी को अच्छी जान के भी नहीं करता वैसे ही जो पढ़के भी अधर्म को नहीं छोड़ता और धर्म को नहीं करनेहारा मनुष्य है।

(प्र०) मनुष्य का आत्मा सदा धर्म्म और अधर्म्मयुक्त किस-किस कर्म से होता है ?

(उ०) जबतक मनुष्य सर्वान्तर्य्यामी, सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापक, सत्कर्मों के साक्षी परमात्मा से नहीं डरते, धर्मात्मा नहीं वन सकते। क्योंकि जीव का कोई कर्म ऐसा नहीं है, जिसको वह न जानता हो। सत्यविद्या, सुशिक्षा सत्पुरुषों का सङ्ग, उद्योग, जितेन्द्रियता, ब्रह्मचर्य आदि शुभ गुणों के होने और लाभ के अनुसार व्यय करने से धर्मात्मा होता है और जो इससे विपरीत करता है, वह धर्मात्मा कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जो राजा आदि अल्पज्ञ मनुष्यों से डरता और परमेश्वर से भय नहीं करता, वह क्योंकर धर्मात्मा हो सकता है ? राजा आदि के सामने बाहर की अधर्म-युक्त चेष्टा करने में तो भय होता है; परन्तु आत्मा और मन में बुरी चेष्टा करने में कुछ भी भय नहीं होता, क्योंकि ये भीतर का कर्म नहीं जान सकते। इससे आत्मा और मन का नियम करनेहारा राजा एक आत्मा और दूसरा परमेश्वर ही है; मनुष्य नहीं और वे जहाँ एकान्त में राजादि मनुष्यों को नहीं देखते, वहाँ तो वाहर से भी चोरी आदि दुष्ट कर्म करने में कुछ भी शङ्का नहीं करते।

दृष्टान्त—जैसे एक धार्मिक विद्वान् के पास पढ़ने के लिये दो नवीन विद्यार्थियों ने आके कहा कि आप हमको पढ़ाइये। विद्वान् : अच्छा हम तुमको पढ़ावेंगे; परन्तु पहले जैसा कहें, वैसा एक काम तुम दोनों जने कर लाओ। तुमको एक-एक लड़का सुपुर्द करते हैं। इस एक २ लड़के को एकान्त में ले जाके, जहाँ कोई भी न देखता हो वहाँ, इनका कान पकड़ कर दो चार वार शीघ्र ही उठा बैठा के धीरे से एक चपेटिका मार देना। नवीन विद्यार्थी दोनों को लेके चले। एक ने तो चारों ओर देखा कि यहाँ

कोई नहीं देखता। उक्त काम करके झट चला आया। दूसरा पण्डित के वचन के अभिप्राय को विचारने लगा कि मुझको यह लड़का और मैं लड़के को भी देखता ही हूं; दूसरे सर्वन्तर्यामी, सर्वद्रष्टा, सर्व व्यापक सब कर्मों का साक्षी परमात्मा भी देखता है। फिर वह काम कैसे कर सकता हूं? पण्डित के पास आया। तब जो पहले आया था; उससे पण्डित ने पूछा कि जो हमने कहा था सो तू कर आया? उसने कहा—हाँ गुरुजी। दूसरे को पूछा कि तू भी कर आया वा नहीं? उसने कहा नहीं, क्योंकि आपने मुझको ऐसा कहा था कि जहाँ कोई न देखता हो, वहाँ यह काम करना सो ऐसा स्थान मुझको नहीं मिल सकता। प्रथम तो मैं इस लड़के को और लड़का मुझको देखता ही था। दूसरे सर्वद्रष्टा परमात्मा भी इस कर्म का साक्षी था। सो ऐसा काम न करसका। पण्डितने कहा तू बुद्धिमान और धार्मिक है; मुझसे पढ़। दूसरे से कहा कि तू पढ़ने के योग्य नहीं है, यहाँ से चला जा।

वैसे ही क्या कोई भी स्थान वा कर्म है कि जिसको आत्मा और परमात्मा न देखता हो? जो मनुष्य इस प्रकार आत्मा और परमात्मा की साक्षी से अनुकूल कर्म करते हैं, वे ही 'धर्मात्मा' कहाते हैं॥

(प्र०) सब मनुष्यों को विद्वान् वा धर्मात्मा होने का संभव है वा नहीं? ॥

(उ०) विद्वान् होने का तो सम्भव नहीं; क्योंकि कोई तीव्रबुद्धि और कोई जड़बुद्धि होते हैं। परन्तु जो धर्मात्मा हुआ चाहें, तो सभी हो सकते हैं। अविद्वान् लोग दूसरों का धर्म में निश्चय नहीं करा सकते और विद्वान् लोग धार्मिक होकर अनेक मनुष्यों को भी धार्मिक कर सकते हैं और कोई धूर्त मनुष्य अविद्वान् को बहका के अधर्म में प्रवृत्त करा सकता है। परन्तु विद्वान् को अधर्म में कभी नहीं चला सकता; क्योंकि जैसे देखता हुआ मनुष्य कुए में कभी नहीं गिरता; परन्तु अन्धे को तो गिरने का सम्भव है। वैसे विद्वान् सत्यासत्य को जान के उसमें निश्चित रह सकते और अविद्वान् ठीक २ स्थिर नहीं रह सकते हैं।

जो मनुष्य विद्या कम जानता हो, परन्तु दुष्ट व्यवहारों को छोड़-कर धार्मिक होके खाने पीने, बोलने, बैठने, उठने, लेने, देने आदि व्यवहार सत्य से युक्त यथायोग्य करता है, वह कही कभी दु:ख को नहीं प्राप्त होता और जो सम्पूर्ण विद्या पढ़के पूर्वोक्त उत्तम व्यवहारों को छोड़के

दुष्ट कर्मों को करता है, वह कहीं कभी सुख को प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए सब मनुष्यों को उचित है कि आप अपने लड़के लड़की इष्ट मित्र अड़ोसी पड़ोसी और स्वामी भृत्य आदि को सुशिक्षा और सुविद्या से युक्त करके सर्वदा आनन्द करते रहें ॥[1]

आजकल के संप्रदायी और स्वार्थी ब्राह्मण आदि, जो दूसरों को विद्या-सत्संग से हटा और अपने जाल में फंसाके उनका तन मन धन नष्ट कर देते हैं, और चाहते हैं कि जो क्षत्रियादि वर्ण पढ़कर विद्वान् हो जायेंगे तो हमारे पाखण्डजाल से छूट और हमारे छल को जानकर हमारा अपमान करेंगे। इत्यादि विघ्नों को राजा और प्रजा दूर करके अपने लड़कों और लड़कियों को विद्वान् करने के लिए तन मन धन से प्रयत्न किया करें।

प्रश्न—क्या स्त्री और शूद्र भी वेद पढ़ें ? जो ये पढ़ेंगे, तो हम फिर क्या करेंगे ? और इनके पढ़ने में वैदिक प्रमाण भी नहीं है, जैसा कि यह निषेध श्रुतिवचन में है—

स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतेः। स्त्री और शूद्र न पढ़ें।

उत्तर—सब स्त्री और पुरुष अर्थात् मनुष्य मात्र को पढ़ने का अधिकार है। तुम कुआ में पड़ो, और यह श्रुति तुम्हारी कपोल-कल्पना से हुई है। किसी प्रामाणिक ग्रन्थ की नहीं। और सब मनुष्यों के वेदादि शास्त्र पढ़ने-सुनने के अधिकार का प्रमाण यजुर्वेद के छव्वीसवें अध्याय में दूसरा मन्त्र है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याँ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥

परमेश्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेभ्यः) सब मनुष्यों के लिए (इमाम्) इस (कल्याणीम्) कल्याण अर्थात् संसार के सब सुख और मुक्ति के अक्षय सुख देनेहारी (वाचम्) ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का (आवदानि) उपदेश करता हूं, वैसे तुम भी किया करो।

प्रश्न—'जन' शब्द से द्विजों का ही ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि

---

१. यहाँ तक का विषय व्यवहारभानु से लिखा है।

स्मृत्यादि ग्रन्थों में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ही के वेदों के पढ़ने का अधिकार लिखा है, स्त्री और शूद्रादि वर्णों का नहीं।

उत्तर—देखो परमेश्वर स्वयं कहता है कि (ब्रह्मराजन्याभ्याम्) हमने ब्राह्मण, क्षत्रिय, (अर्य्याय) वैश्य, (शूद्राय) शूद्र और (स्वाय) अपने भृत्य वा स्त्री आदि (अरणाय) और अति-शूद्रादि के लिए भी वेदों का प्रकाश किया है, अर्थात् सब मनुष्य वेदों को पढ़-पढ़ा और सुन-सुनाकर विज्ञान को बढ़ाके अच्छी बातों का ग्रहण और बुरी बातों का त्याग करके दुःखों से छुटकर आनन्द को प्राप्त हों।

कहिये अब तुम्हारी बात मानें वा परमेश्वर की? परमेश्वर की बात अवश्य माननीय है। इतने पर भी जो कोई इसको न मानेगा, वह नास्तिक कहावेगा। क्योंकि **'नास्तिको वेदनिन्दकः'** (मनु. २।११) वेदों का निन्दक और न मानने वाला अर्थात् वेद की आज्ञा के विरुद्ध आचरण करने वाला पुरुष **'नास्तिक'** कहाता है।

क्या परमेश्वर शूद्रों का भला करना नहीं चाहता? क्या ईश्वर पक्षपाती है कि वेदों के पढ़ने-सुनने का शूद्रों के लिए निषेध और द्विजों के लिए विधि करें? जो परमेश्वर का अभिप्राय शूद्रादि के पढ़ाने-सुनाने का न होता, तो इनके शरीर में वाक् और श्रोत्र इन्द्रिय क्यों रचता? जैसे परमात्मा ने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सब के लिये बनाये हैं, वैसे ही वेद भी सबके लिए प्रकाशित किये हैं। और जहां कहीं निषेध किया है, उसका यह अभिप्राय है कि जिसको पढ़ने-पढ़ाने से कुछ भी न आवे, वह मनुष्य निर्बुद्धि और मूर्ख होने से 'शूद्र' कहाता है। उसका पढ़ना-पढ़ाना व्यर्थ है; क्योंकि उसमें विद्याको ग्रहण करने की **'योग्यता'** ही नहीं हैं। परन्तु उसे वेद पढ़ने पढ़ाने का **'अधिकार'** अवश्य है।

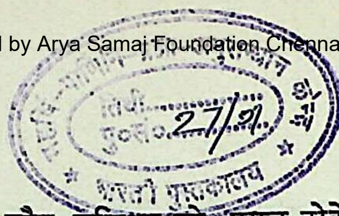
और जो स्त्रियों के पढ़ने का निषेध करते हो, वह तुम्हारी मूर्खता स्वार्थता और निर्बुद्धिता का प्रभाव है। अब देखो वेद में कन्याओं के पढ़ने का प्रमाण—

ब्रह्मचर्य्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्॥

अथर्व० का० ११। सू० ५। मं० १८॥[1]

जैसे लड़के ब्रह्मचर्य-सेवन अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रताभ्यास पूर्वक विद्या-

१. तु. व्यवहारभानु॥



ध्ययन से पूर्ण विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होके युवती, विदुषी, अपने अनुकूल प्रिय सदृश स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं, वैसे ही (कन्या) कुमारी कन्या (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य्य-सेवन अर्थात् वर्णोच्चारण की शिक्षा से लेकर वेदादि पर्यन्त सब शास्त्रों को पढ़, पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवती होके, पूर्ण युवावस्था में अपने सदृष प्रिय विद्वान् (युवानम्) पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष को (विन्दते) वेदोक्त स्वयंवर रीति से प्राप्त होवे। इसलिए स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिये।

प्रश्न—क्या स्त्रीलोग भी वेदों को भी पढ़ें ?

उत्तर—अवश्य, देखो श्रौतसूत्रादि में '**इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्**'[१] अर्थात् स्त्री यज्ञ में इस मन्त्र को पढ़े। जो वेदादिशास्त्रों को न पढ़ी होवे, तो यज्ञ में स्वरसहित मन्त्रों का उच्चारण और संस्कृतभाषण कैसे कर सके ? भारतवर्ष की स्त्रियों में भूषणरूप गार्गी आदि वेदादि शास्त्रों को पढ़के पूर्ण विदुषी हुई थी, यह 'शतपथ ब्राह्मण'[२] में स्पष्ट लिखा है। क्या अधर्मी से भिन्न कोइ ऐसा भी मनुष्य होगा जो किसी योग्य पुरुष व स्त्री को विद्या के पढ़ने से रोककर मूर्ख रक्खा चाहे ? और वेदोक्त प्रमाण का अप्रमाण करके अपना कल्याण किया चाहे ?[३]

भला ! जो पुरुष तो विद्वान् और स्त्री अविदुषी हो अथवा स्त्री विदुषी और पुरुष अविद्वान् हो, तो नित्यप्रति देवासुर-संग्राम घर में मचा रहे, फिर सुख कहां ? इसलिए जो स्त्री न पढ़ें, तो कन्याओं की पाठशाला में अध्यापिका क्योंकर हो सके ? तथा राजकार्य न्यायाधीशत्वादि तथा गृहाश्रम का कार्य अर्थात् जो पति को स्त्री और स्त्री को पति का प्रसन्न रखना, घर के सब काम स्त्री के आधीन रहना—इत्यादि काम बिना विद्या के अच्छे प्रकार कभी ठीक नहीं हो सकते।

---

१. तुलना करो—**पत्नीं वाचयति मेध्यामेवैनां करोति पत्यै प्रदाय वाचयेद् धोताऽध्वर्युर्वा वेदोऽसि वित्तिरसि**······(आ० श्रौ० १।११); यत्पत्नी पुरोऽनुवाक्यामनुब्रूयात् (तै० ब्रा० १।६।५।६)। **ज्ञाते च वाचनं नह्यविद्वान् विहितोऽस्ति** (मीमांसा ३।८।१८) से भी पत्नी द्वारा मन्त्र-वाचन तभी सम्भव है, जब वह विदुषी वेद पढ़ी हुई होवे।

२. द्र. शत. १४।६।६ गार्गी याज्ञवल्क्य संवाद।

३. यह लेख व्यवहारभानु से लिया है।

देखो प्राचीन काल में आर्य्यावर्त्त के राजपुरुषों की स्त्रियां धनुर्वेद अर्थात् युद्ध-विद्या भी अच्छी प्रकार जानती थीं। क्योंकि जो न जानती होतीं, तो केकयी आदि दशरथ आदि के साथ युद्ध में क्योंकर जा सकती और युद्ध कर सकती[1] ? इसलिये ब्राह्मणी को सब वेद विद्या और क्षत्रिया को सब विद्या और युद्ध तथा राजविद्या विशेष, वैश्या को व्यवहार विद्या और शूद्रा को पाकादि सेवा की विद्या अवश्य पढ़नी चाहिए।

जैसे पुरुषों को व्याकरण, धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यून-से-न्यून अवश्य पढ़नी चाहिये, वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्पविद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिये। क्योंकि इनके सीखे बिना सत्यासत्य का निर्णय, पति आदि से अनुकूल वर्तमान अर्थात् मिल वर्त्तन, यथायोग्य सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन वर्द्धन और सुशिक्षा करना घर के सब कार्यों को जैसा चाहिये, वैसा करना-कराना, वैद्यकविद्या से औषधवत् अन्नपान बनाना और बनवाना कभी नहीं कर सकतीं। जिससे कि घर में रोग कभी न आवे, और सब लोग सदा आनन्दित रहें। शिल्पविद्या के जाने बिना घर का बनवाना, वस्त्र आभूषण आदि का बनाना-बनवाना, गणित विद्या के बिना सबका हिसाब समझना-समझाना, वेदादि शस्त्रविद्या के बिना ईश्वर और धर्म को न जानके अधर्म से कभी न बच सकें। इसलिए वे ही धन्यवादार्ह और कृतकृत्य हैं कि जो अपने सन्तानों को ब्रह्मचर्य, उत्तम शिक्षा और सत्य विद्या प्राप्तकरा, उनके शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को बढ़ाते हैं, जिनसे वे सन्तान, मातृ, पितृ, पति सासु, श्वसुर, राजा, प्रजा, पड़ोसी, इष्ट-मित्र और सन्तानादि से यथा-योग्य धर्म से वर्त्तें।

यही विद्या का कोश अक्षय है। इसको जितना व्यय करे, उतना ही बढ़ता जाय। अन्य सब कोश व्यय करने से घट जाते हैं, और दायभागी भी उसमें से निज भाग लेते हैं। और विद्याकोश का चोर वा दायभागी कोई भी नहीं हो सकता। इस कोश की रक्षा और वृद्धि करने वाला विशेष राजा अर्थात् देश का सभाध्यक्ष होता है। और प्रजा भी रक्षक होती हैं।

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥ मनु० ७।१५२॥

राजा को योग्य है कि सब कन्या और लड़कों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रख के विद्वान् कराना। जो कोई इस आज्ञा

---

१. वाल्मी० रामा० दाक्षिणात्य संक० अयो० ९।११ तथा ११।१८,१९॥

को न माने, तो उसके माता-पिता को दण्ड देना, अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का वा लड़की किसी भी गृहस्थ के घर में न रहने पावें; किन्तु सब सन्तान आचार्यकुल में रहें। जब तक समावर्त्तन अर्थात् विद्या समाप्ति कर घर लौटने का समय न आवे, तब तक विवाह न होने पावे।

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥ मनु० ४।२३३ ॥

संसार में जितने दान है अर्थात् जल, अन्न, गौ, पृथिवी, वस्त्र, तिल सुवर्ण और घृतादि, इन सब दानों से वेदविद्या का दान अति श्रेष्ठ है। इसलिए जितना बन सके, उतना प्रयत्न तन मन धन से विद्या की वृद्धि में किया करें। जिस देश में यथायोग्य ब्रह्मचर्य्य, विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार होता है, वही देश सौभाग्यवान् होता है।

यह ब्रह्मचर्य्याश्रम की शिक्षा संक्षेप से लिखी गई। इसके आगे चौथे प्रवाह में समावर्त्तन और गृहाश्रम की शिक्षा लिखी जायगी।

इति तृतीयः प्रवाहः

चतुर्थः प्रवाहः

अथ समावर्त्तन-विवाह-गृहाश्रमविधिं वक्ष्यामः

आगे ब्रह्मचर्य व्रताभ्यासपूर्वक विद्या समाप्ति करके विवाह द्वारा गृहाश्रम के कर्त्तव्यों की पालन विधि का विषय लिखते हैं।

'समावर्त्तन' उसको कहते हैं कि जो ब्रह्मचर्यव्रत साङ्गोपाङ्ग वेदविद्या, उत्तम शिक्षा और पदार्थविज्ञान को पूर्णरीति से प्राप्त होके, विवाह विधानपूर्वक गृहाश्रम को ग्रहण करने के लिए विद्यालय को छोड़कर घर की ओर आना। (तु. संस्कार विधि) ॥

'विवाह' उसको कहते हैं कि जो पूर्णब्रह्मचर्य व्रत, शिक्षा, विद्या और बल को तथा सब प्रकार से शुभ गुण कर्म स्वभावों में तुल्य परस्पर प्रीति युक्त होके यथाविधि सन्तानोत्पत्ति और अपने-अपने वर्णाश्रम के अनुकूल उत्तम कर्म करने के लिये स्त्री और पुरुष का [स्वयम्वर रीति] से सम्बन्ध होता है। (तु० संस्कार विधि) ॥

'गृहाश्रम विधि' उसको कहते हैं कि जो ऐहिक और पारलौकिक सुख प्राप्ति के लिये विवाह करके अपने सामर्थ्य के अनुसार परोपकार करना और नियतकाल में यथाविधि ईश्वरोपासना और गृह कृत्य करना और सत्यधर्म [पालन करने] में ही अपना तन-मन-धन लगाना तथा धर्मानुसार सन्तानों की उत्पत्ति करनी। (तु० संस्कार विधि) ॥

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविलुप्तब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥१॥ मनु० ३।२॥

जब यथावत् ब्रह्मचर्य्य [में] आचार्य्यानुकूल वर्त्तकर, धर्म से चारों तीन वा दो अथवा एक वेद को साङ्गोपाङ्ग पढ़के जिसका ब्रह्मचर्य्य खण्डित न हुआ हो, वह पुरुष वा स्त्री गृहाश्रम में प्रवेश करे ॥१॥

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः।
स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत् प्रथमं गवा ॥२॥ मनु० ३।३॥

जो स्वधर्म अर्थात् यथावत् आचार्य्य और शिष्य का धर्म है, उससे युक्त पिता जनक वा अध्यापक से ब्रह्मदाय अर्थात् विद्यारूप भाग का ग्रहण, और माला का धारण करने वाला अपने पलंग पर बैठें हुए आचार्य्य को प्रथम गोदान से सत्कार [करे]। वैसे लक्षणयुक्त विद्यार्थी को भी कन्या का पिता गोदान से सत्कृत करे ॥२॥

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥३॥ मनु० ३।४॥

गुरु की आज्ञा से स्नान कर, गुरुकुल से अनुक्रमपूर्वक आके, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य अपने वर्णानुकूल सुन्दर-लक्षणयुक्त कन्या से विवाह करे ॥३॥

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥४॥ मनु० ३।५॥

जो कन्या माता के कुल की छः पीढ़ियों में न हो, और पिता के गोत्र की न हो, उस कन्या से विवाह करना उचित है ॥४॥

यह निश्चित बात है "**परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः । [शतपथ १४।६।११।२]**" कि जैसी परोक्ष पदार्थ में प्रीति होती है, वैसी प्रत्यक्ष में नहीं। जैसे किसी ने मिश्री के गुण सुने हों और खाई न हो, तो उसका मन उसी में लगा रहता है। जैसे किसी परोक्ष वस्तु की प्रशंसा सुनकर मिलने की उत्कट इच्छा होती है, वैसे ही दूरस्थ, अर्थात् जो अपने गोत्र व माता के कुल में निकट सम्बन्ध की न हो, उसी कन्या से वर का विवाह होना चाहिए।

निकट और दूर विवाह करने में गुण [हानि-लाभ] ये हैं—

(१) एक—जो बालक बाल्यावस्था से निकट रहते हैं, परस्पर क्रीड़ा लड़ाई और प्रेम करते, एक दूसरे के गुण दोष स्वभाव वा बाल्यावस्था के विपरीत आचरण जानते, और जो नंगे भी एक दूसरे को देखते हैं, उनका परस्पर विवाह होने से प्रेम कभी नहीं हो सकता।

(२) दूसरा—जैसे पानी में पानी मिलने से विलक्षण गुण नहीं होता, वैसे [ही] एक गोत्र पितृ वा मातृकुल में विवाह होने में धातुओं के अदल-बदल नहीं होने से उन्नति नहीं होती।

(३) तीसरा—जैसे दूध में मिश्री वा शुण्ठ्यादि ओषधियों के योग होने से उत्तमता होती है, वैसे ही भिन्न-गोत्र मातृ-पितृकुल से पृथक् वर्त्तमान स्त्री-पुरुषों का विवाह होना उत्तम है।

(४) चौथा—जैसे एक देश में रोगी हो, वह दूसरे देश में वायु और खान-पान के बदलने से रोगरहित होता है, वैसे ही दूरदेशस्थों के विवाह होने में उत्तमता है।

(५) पांचवें—निकट सम्बन्ध करने में एक-दूसरे के निकट होने में सुख-दुःख का भान और विरोध होना भी सम्भव है, दूरदेशस्थों में नहीं। और दूरस्थों के विवाह में दूर-दूर प्रेम की डोरी लम्बी वढ़ जाती है, निकटस्थ विवाह में नहीं।

(६) छठे—दूर-दूर देश के वर्त्तमान[1] और पदार्थों की प्राप्ति भी दूर सम्बन्ध होने में सहजता से हो सकती है, निकट विवाह होने में नहीं।

(७) सातवें—कन्या के पितृकुल में दारिद्रय होने का भी सम्भव है। क्योंकि जव-जव कन्या पितृकुल में आवेगी, तव-तव इसको कुछ-न-कुछ देना ही होगा।

(८) आठवां—कोई निकट होने से एक-दूसरे को अपने-अपने पितृकुल के सहाय का घमण्ड, और जव कुछ भी दोनों में वैमनस्य होगा, तव स्त्री झट ही पिता के कुल में चली जायगी। एक दूसरे की निन्दा अधिक होगी और विरोध भी। क्योंकि प्रायः स्त्रियों का स्वभाव तीक्ष्ण और मृदु होता है।

इत्यादि कारणों से पिता के एक गोत्र, माता की छः पीढ़ी, और समीप देश में विवाह करना अच्छा नहीं।

दुहिता दुर्हिता दूरेहिता भवतीति ॥ निरु० ३।४॥

कन्या का नाम 'दुहिता' भी इसी कारण से है कि इसका विवाह दूर देश में होने से हितकारी होता है; निकट करने में नहीं।

(प्रश्न) विवाह के लिये त्याज्य कुल कौन से हैं ?

(उत्तर) **महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः।**
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥१॥
मनु० ३।६॥

चाहे कितने ही धन-धान्य, गाय, अजा, हाथी, घोड़े, राज्य, श्री

---

१. अर्थात् वृत्त समाचार, आचार व्यवहारादि।

आदि से समृद्ध ये कुल हों, तो भी विवाह-सम्बन्ध में निम्नलिखित दश कुलों का त्याग कर दे—॥१॥ वे दशकुल ये हैं—

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रि कुष्ठिकुलानि च ॥२॥ मनु० ३।७॥

जो कुल सत्क्रिया से हीन, सत्पुरुषों से रहित, वेदाध्ययन से विमुख शरीर पर वड़े-बड़े लोम, अथवा ववासीर, क्षयी, दमा, खांसी, आमाशय[1] मिरगी, श्वेतकुष्ठ और गलितकुष्ठयुक्त कुलों की कन्या वा वर के साथ विवाह होना न चाहिये । क्योंकि ये सब दुर्गुण और रोग, विवाह करनें वाले के कुल में भी प्रविष्ट हो जाते हैं । इसलिये उत्तम कुल के लड़के और और लड़कियों का ही आपस में विवाह होना चाहिये ॥२॥ इसीप्रकार,

नोद्वहेत् कपिलां कन्यां नाऽधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ॥३॥
मनु० ।३।८॥

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपवतनामिकाम् ।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥४॥ मनु० ३।९॥

न पीले वर्ण वाली, न अधिकाङ्गी अर्थात् पुरुष से लम्बी चौड़ी, अधिक बल वाली अथवा छंगुली आदि न रोगयुक्ता, न लोमरहित, न बहुत लोम वाली, न वकवाद करनेहारी, और न भूरे नेत्रवाली अर्थात् जिसके पीले विल्ली के सदृश नेत्र हों ॥३॥

न (ऋक्ष) अर्थात् अश्विनी भरणी रोहिणीदेई रेवतीवाई चित्तरी आदि नक्षत्र नामवाली; (वृक्ष) तुलसिया[2] गेंदा गुलाब चम्पा चमेली आदि वृक्ष नाम वाली (नदी); गङ्गा जमुना आदि नदी नाम वाली; (अन्त्य) चाण्डाली आदि अन्त्य नाम वाली; (पर्वत) विन्ध्या हिमालय पार्वती आदि पर्वत नाम वाली; (पक्षी) कोकिला मैना आदि नाम वाली; (अहि) नागी भुजंगा उरगा, भोगिनी आदि सर्प नाम वाली; (प्रेष्य) माधोदासी मीरादासी आदि प्रेष्य नाम वाली; और (भीषण) भीमकुंवारी[3] चंडिका काली आदि भीषण नाम वाली कन्या के साथ विवाह करना चाहिए । क्योंकि ये नाम कुत्सित और अन्य पदार्थों के भी हैं ॥४॥

---

१. अर्थात् अग्निमन्दता से आमाशय का रोग (सं० वि० १५८। तृ स०) ।
२. सं० प्र० सं० २ में 'तुलसिआ' पाठ है ।
३. स० प्र० सं० २ में 'भीम कुंअरी पाठ है ।

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम् ॥५॥ मनु० ३।१०॥

जिसके सरल सूधे अंग हों, विरुद्ध न हों; जिसका नाम सुन्दर अर्थात् यशोदा सुखदा आदि हो, हंस और हथिनी के तुल्य जिसकी चाल हो; सूक्ष्म लोम केश और दांतयुक्त और जिसके सब अंग कोमल हों, वैसी स्त्री के साथ विवाह करना चाहिए ॥५॥

प्रश्न—विवाह का समय और प्रकार कौन-सा अच्छा है।

उत्तर—सोलहवें वर्ष से लेकर चौवीसवें वर्ष तक कन्या, और पच्चीसवें वर्ष से लेके अठतालीसवें वर्ष तक पुरुष का विवाह समय उत्तम है। इसमें जो सोलह और पच्चीस में विवाह करें तो निकृष्ट; अठारह बीस की स्त्री और तीस-पैंतीस वर्ष के पुरुष का मध्यम, चौवीस वर्ष की स्त्री और चालीस-अड़तालीस वर्ष के पुरुष का विवाह होना उत्तम है। जिस देश में इसी प्रकार विवाह की विधि श्रेष्ठ और ब्रह्मचर्य विद्याभ्यास अधिक होता है, वह देश सुखी, और जिस देश में ब्रह्मचर्य विद्याग्रहणरहित बाल्यावस्था और अयोग्यों का विवाह होता है, वह देश दुःख में डूब जाता है। क्योंकि ब्रह्मचर्य विद्या के ग्रहणपूर्वक विवाह के सुधार ही से सब बातों का सुधार और बिगड़ने से बिगाड़ हो जाता है।

प्रश्न—अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी।
दशवर्षा भवेत् कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥१॥
माता चैव पिता तस्या ज्येष्ठो भ्राता तथैव च।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलां ॥२॥

ये श्लोक पाराशरी[1] और शीघ्रबोध[2] में लिखे हैं।

अर्थ यह है कि कन्या की आठवें वर्ष में गौरी, नववें वर्ष रोहिणी, दशवें वर्ष कन्या और उसके आगे रजस्वला संज्ञा हो जाती है ॥१॥

दशवें वर्ष तक विवाह न करके रजस्वला कन्या को माता-पिता और उसका बड़ा भाई ये तीनों देखके नरक में गिरते हैं ॥२॥ इत्यादि श्लोकों की क्या गति होगी?

(उत्तर)—इन श्लोकों को इनके मानने वालों की दुर्गति। जो इन

---

१. पाराशरीस्मृति के लघुबृहत् दो पाठ हैं। लघु में अ० ७। श्लो. ६, ८॥
२. शीघ्रबोध १। ५४, ६५ (संस्करण भेद से श्लोक संख्या में भेद है)।

श्लोकों की रीति से बाल्यावस्था में अपने सन्तानों का विवाह करकरा उनको नष्ट-भ्रष्ट रोगी, अल्पायु करते हैं, वे अपने कुल का जानों नाश कर रह रहे हैं।

(उ०) **ब्रह्मोवाच**—हमारा प्रमाण भी देखिए।

एकक्षणा भवेद् गौरी द्विक्षणेयं तु[1] रोहिणी।
त्रिक्षणा सा भवेत् कन्या ह्यत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥१॥
माता पिता तथा भ्राता मातुलो भगिनी स्वका।
सर्वे ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥२॥

यह सद्योनिर्मित ब्रह्मपुराण का वचन है।

अर्थ—जितने समय में परमाणु एक पलटा खावे, उतने समय को क्षण कहते हैं। जब कन्या जन्मे, तब एक क्षण में गौरी, दूसरे में रोहिणी, तीसरे में कन्या, और चौथे में रजस्वला हो जाती है ॥२॥

उस रजस्वला को देखके उसकी माता, पिता, भाई, मामा और बहिन सब नरक को जाते हैं ॥२॥

प्रश्न—ये श्लोक प्रमाण नहीं।

उत्तर—क्यों प्रमाण नहीं? जो ब्रह्माजी के श्लोक प्रमाण नहीं, तो तुम्हारे भी प्रमाण नहीं हो सकते।

प्रश्न—वाह-वाह! पाराशर और काशीनाथ का भी प्रमाण नहीं करते?

उत्तर—वाह जी वाह! क्या तुम ब्रह्माजी का प्रमाण नहीं करते? पाराशर, काशीनाथ से ब्रह्माजी क्या बड़े नहीं हैं? जो तुम ब्रह्मा जी के श्लोकों को नहीं मानते, तो हम भी पराशर और काशीनाथ के श्लोकों को नहीं मानते।

प्रश्न—तुम्हारे श्लोक असम्भव होने से प्रमाण नहीं। क्योंकि सहस्र क्षण जन्म-समय ही में बीत जाते हैं, तो विवाह कैसे हो सकता है? और उस समय विवाह करने का कुछ फल भी नहीं दीखता।

उत्तर—जो हमारे श्लोक असम्भव हैं, तो तुम्हारे भी असम्भव हैं।

---

१. सर्वत्र 'द्विक्षणेयन्तु' परसवर्ण पाठ है। उससे भ्रान्त होकर 'द्विक्षणे यन्तु' पदच्छेद कर दिया गया। हमने स्पष्टता के लिए 'द्विक्षणा+इयं+तु=द्विक्षणेयं तु' पाठ छपा है।

क्योंकि आठ नौ और दशवें वर्ष में भी विवाह करना निष्फल है। क्योंकि सोलहवें वर्ष के पश्चात् चौवीसवें वर्ष पर्यन्त विवाह होने से पुरुष का वीर्य परिपक्व, शरीर वलिष्ठ, स्त्री का गर्भाशय पूरा और शरीर भी वल-युक्त होने से सन्तान उत्तम होते हैं।[1]

जैसे आठवें वर्ष की कन्या में सन्तानोत्पत्ति का होना असम्भव है, वैसे ही गौरी रोहिणी नाम देना भी अयुक्त है। यदि गौरी कन्या न हो किन्तु काली हो, तो उसका नाम गौरी रखना व्यर्थ है और गौरी महादेव की स्त्री, रोहिणी वसुदेव की स्त्री थी; उसको तुम पौराणिक लोग मातृ-समान मानते हो। जब कन्या मात्र में गौरी आदि की भावना करते हो, तो फिर उनसे विवाह करना कैसे सम्भव और धर्मयुक्त हो सकता है? इसलिये तुम्हारे और हमारे दो-दो श्लोक मिथ्या ही हैं। क्योंकि जैसा हमने **ब्रह्मोवाच** करके श्लोक वना लिये हैं, वैसे भी पराशर आदि के नाम से स्वार्थी पोप ब्राह्मण पंडितों ने वना लिये हैं। इसलिये इन सवका प्रमाण छोडके वेदों के प्रमाण से सव काम किया करो।[2] देखो मनु में—

---

१. उचित समय से न्यून आयु वाले स्त्री-पुरुष को गर्भाधान में मुनिवर धन्वन्तरिजी सुश्रुत (शरीरस्थाने अ० १०। श्लोक ४७, ४८) में निषेध करते हैं—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥१॥
जातो वा न चिरंजीवेज् जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥२॥

अर्थ—षोलह वर्ष से न्यून वय वाली स्त्री में पच्चीस वर्ष से न्यून आयु वाला पुरुष जो गर्भ की स्थापना करे, तो वह कुक्षिस्थ हुआ गर्भ विपत्ति को प्राप्त होता, अर्थात् पूर्णकाल तक गर्भाशय में रहकर उत्पन्न नहीं होता ॥१॥

अथवा उत्पन्न हो तो फिर चिरकाल तक न जीवे, वा जीवे तो दुर्बलेन्द्रिय हो। इस कारण से अति वाल्यावस्था वाली स्त्री में गर्भस्थापन न करे ॥२॥

ऐसे-ऐसे शास्त्रोक्त नियम और सृष्टिक्रम को देखने और बुद्धि से विचारने से यही सिद्ध होता है कि १६ वर्ष से न्यून स्त्री और २५ वर्ष से न्यून आयु वाला पुरुष कभी गर्भाधान करने के योग्य नहीं होता। इन नियमों से विपरीत जो करते हैं, वे दुःखभागी होते हैं। द० स० ॥

२. द्रष्टव्य—**एतदुक्तं भवति मन्त्रेणैवानूसृतं कर्म कर्त्तव्यम्।** स्कन्द निरुक्त टीका १।२, भाग १, पृष्ठ १९।

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद् विन्देत सदृशं पतिम् ॥ मनु० ।६।६०॥

कन्या रजस्वला हुए पीछे तीन वर्ष-पर्यन्त पति की खोज करके अपने तुल्य पति को चौथे वर्ष प्राप्त होवे। जब प्रतिमास रजोदर्शन होता है, तो तीन वर्षों में ३६ वार रजस्वला हुए पश्चात् विवाह करना योग्य है; इससे पूर्व नहीं।

काममामरणात् तिष्ठेद् गृहे कन्यर्त्तुमत्यपि ।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ मनु० १६।८६॥

चाहे लड़की मरणपर्यन्त पिता के घर में विना विवाह के कुमारी बैठी रहे, परन्तु गुणहीन दुष्ट पुरुष के साथ कन्या का विवाह कभी न करे। अर्थात् असदृश परस्पर विरुद्ध गुण कर्म स्वभाव वालों का विवाह कभी न होना चाहिए। इससे सिद्ध हुआ कि पूर्वोक्त समय से प्रथम वा असदृशों का विवाह होना योग्य नहीं है।

प्रश्न—विवाह माता पिता के आधीन होना चाहिये, वा लड़का लड़की के आधीन रहे ?

उत्तर—लड़का लड़की के आधीन विवाह होना उत्तम है। जो माता-पिता विवाह करना कभी विचारें, तो भी लड़का-लड़की की प्रसन्नता विना न होना चाहिए। क्योंकि एक दूसरे की प्रसन्नता से विवाह होने में विरोध बहुत कम होता है और सन्तान उत्तम होते हैं। अप्रसन्नता के विवाह में नित्य क्लेश ही रहता है। विवाह में मुख्य प्रयोजन वर और कन्या का है; माता पिता का नहीं। क्योंकि जो उनमें परस्पर प्रसन्नता रहे, तो उन्हीं को सुख और विरोध में उन्हीं को दुःख होता है और—

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्य्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ मनु० १३।६०॥

जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुल में निश्चित आनन्द लक्ष्मी और कीर्ति निवास करती है। और जहां विरोध कलह होता है; वहाँ दुःख दरिद्रता और निन्दा निवास करती है।

इसलिए जैसी स्वयंवर की रीति आर्य्यावर्त्त में परम्परा से चली आती है, वही विवाह उत्तम है। जब स्त्री पुरुष विवाह करना चाहें, तब

विद्या विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल शरीर का परिमाणादि यथायोग्य होना चाहिए। जब तक इनका मेल नहीं होता, तब तक विवाह में कुछ भी सुख नहीं होता, और न बाल्यावस्था में विवाह करने से सुख होता है। जो ब्रह्मचर्यधारण, विद्या उत्तम शिक्षा का ग्रहण किये विना अथवा बाल्यावस्था में विवाह करते हैं, वे स्त्री-पुरुष नष्ट-भ्रष्ट होकर विद्वानों में प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होते।

स्त्री को चाहिए कि कभी भूलके भी बाल्यावस्था में पुरुष का मन से भी ध्यान न करें। क्योंकि यही कर्म इस लोक और परलोक के सुख का साधन है। बाल्यावस्था में विवाह से जितना पुरुष का नाश उससे अधिक स्त्री का नाश होता है।

जब तक इसी प्रकार ऋषि-मुनि राजा-महाराजा आर्य लोग ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़ ही के स्वयंवर विवाह करते थे, तब तक इस देश की सदा उन्नति होती थी। जब से यह ब्रह्मचर्य से विद्या का न पढ़ना, बाल्यावस्था में पराधीन अर्थात् माता-पिता के आधीन विवाह होने लगा, तब से क्रमशः आर्य्यावर्त देश की हानि होती चली आई है। इससे इस दुष्ट काम को छोड़के सज्जन लोग पूर्वोक्त प्रकार से स्वयंवर विवाह किया करें।

(प्रश्न)[1] विवाह करते समय स्त्री-पुरुष क्या प्रतिज्ञा करें?

(उत्तर)[2] [वर प्रतिज्ञा करे कि] हे कुमारी युवति कन्ये! वरानने! मैं सौभाग्य अर्थात् गृहाश्रम में ऐश्वर्य सुसन्तानोत्पत्यादि प्रयोजन की सिद्धि के लिये तेरा हस्तग्रहण करता हूं अर्थात् मैं तेरे साथ विवाह करता हूं और तू मेरे साथ विवाह करती हैं। हे स्त्रि! जिस प्रकार तू मुझ पति के साथ सूख पूर्वक वृद्धावस्था को प्राप्त हो, उसी प्रकार मैं भी तुझ पत्नी के साथ वृद्धावस्था को प्राप्त होऊँ। [ऋ० वे० भा० भू०+सं० वि]।

[स्त्री भी प्रतिज्ञा करे कि] हे वीर! मैं सौभाग्य की वृद्धि के लिये आपके हस्त को ग्रहण करती हूं। आप मुझ पत्नी के साथ वृद्धावस्था पर्यन्त प्रसन्न और अनुकूल रहिये। [सं० वि०]।

---

१. यह प्रश्नात्मक वाक्य संकलनकर्त्ता का है।

२. यह सारा लेख ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के विवाह विषय, तथा संस्कारविधि में उद्धृत गृभ्णामि ते०' (ऋ० १०।८५।३६) के मन्त्रार्थ को मिलाकर बनाया है। अर्थ की क्रमबद्ध योजना के लिए वाक्य व वाक्यांशों को इधर उधर किया गया है।

[इस प्रकार] आपको मैं और मुझको आप आज से पति पत्नी भाव करके प्राप्त हुए हैं। हम दोनों व्यभिचारादि दोषरहित होके वृद्धावस्था पर्यन्त परस्पर आनन्द के व्यवहारों को करेंगे। हमारी इस प्रतिज्ञा को सब लोग सत्य जानें कि इससे उल्टा काम कभी न किया जायेगा।

ऐश्वर्यवान्, न्यायकारी अर्थात् सब जीवों के पाप पुण्य के फलों को यथावत् देनेवाला, सब जगत् का उत्पन्न करने वाला तथा बहुत प्रकार के जगत् का धारण करने वाला परमात्मा हम दोनों के बीच साक्षी है और ये सब विद्वान् भी साक्षी हैं। परमेश्वर और विद्वानों ने गृहाश्रम कर्म के अनुष्ठान के लिये तुझको मेरे लिये और मुझको तेरे लिये दिया है [ऋ. वे. भा. भू.+सं. वि.]। आज से मैं आपके वास्ते और आप मेरे हाथ विक चुके हैं। कभी एक दूसरे का अप्रियाचरण न करेंगे। [सं. वि.]।

हम दोनों परस्पर प्रीति करेंगे तथा उद्योगी होकर घर का काम अच्छी तरह करेंगे और मिथ्याभाषणादि से बचकर सदा धर्म ही में वर्तेंगे। सब जगत् का उपकार करने के लिए सत्य विद्या का प्रचार करेंगे और धर्म से पुत्रों को उत्पन्न करके उनको सुशिक्षित तथा उत्तम सुविद्यावान् करेंगे [तु० ऋ. वे. भा. भू.]।

फिर स्त्री कहे कि मैं इस पति को छोड़के मन वचन और कर्म से भी दूसरे पुरुष को पति न मानूंगी। तथा पुरुष भी प्रतिज्ञा करे कि मैं इसके सिवाय दूसरी स्त्री को मन कर्म और वचन से कभी न चाहूंगा।

इत्यादि प्रतिज्ञा [हम दोनों] ईश्वर की और विद्वानों की साक्षी से करते हैं कि इन नियमों का ठीक-ठीक पालन करेंगे।……यदि हम दोनों इन प्रतिज्ञाओं को तोड़ें, तो परमेश्वर और विद्वानों से दण्डनीय हों।

[ऋ. वे. भा. भू.]।

(प्रश्न) विवाह अपने-अपने वर्ण में होना चाहिए या अन्य वर्ण में भी?

(उत्तर) अपने-अपने वर्ण में। परन्तु वर्णव्यवस्था गुण कर्म स्वभाव के अनुसार होनी चाहिए। जो पूर्ण विद्वान् धर्मात्मा परोपकारी जितेन्द्रिय मिथ्याभाषणादि दोष रहित, विद्या और धर्म प्रचार में तैयार रहे, इत्यादि उत्तम गुण जिसमें हों, वह **ब्राह्मण-ब्राह्मणी**; जो विद्वान् धर्मात्मा, परोपकारी, जितेन्द्रिय और बल शौर्य न्याय कारित्वादि गुण जिसमें हों, वह **क्षत्रिय-क्षत्रिया**; जो विद्वान् धर्मात्मा परोपकारी होके पशुपालन, व्यापार, देश-भाषाओं में चतुरता आदि गुण जिसमें हों, वह **वैश्य-वैश्या** और जो

विद्याहीन मूर्ख और सेवा करने में चतुर हो, वह शूद्र-शूद्रा कहाते हैं। इसी क्रम से विवाह होना चाहिये अर्थात् ब्राह्मण का ब्राह्मणी से, क्षत्रिय का क्षत्रिया से, वैश्य का वैश्या से और शूद्र का शूद्रा से। इस प्रकार वर्णानुक्रम से विवाह होने में आनन्द होता है, अन्यथा नहीं।[1]

प्रश्न—क्या जिसके माता-पिता ब्राह्मण हों, वह ब्राह्मणी ब्राह्मण नहीं होता है ? और जिसके माता-पिता अन्यवर्णस्थ हों, उनका सन्तान कभी ब्राह्मण हो सकता है ?

उत्तर—ब्राह्मण के वहाँ जन्म लेने से कोई ब्राह्मण या ब्राह्मणी नहीं होता। हां, वहुत से अन्यवर्णस्थ माता-पिता के सन्तान भी ब्राह्मण हो गये, होते हैं और होंगे भी। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् में जाबाल ऋषि अज्ञातकुल[2], महाभारत में विश्वामित्र क्षत्रियवर्ण[3], और मातङ्ग ऋषि चाण्डाल कुल[4] के, ब्राह्मण हो गये थे। अब भी जो उत्तमविद्या स्वभाववाला है, वही ब्राह्मण के योग्य और मूर्ख, शूद्र के योग्य होता है। और वैसा ही आगे भी होगा।

प्रश्न—भला जो (ब्राह्मण) के रज-वीर्य से शरीर हुआ है, वह वदलकर दूसरे वर्ण के योग्य कैसे हो सकता है ?

उत्तर—रज-वीर्य्य के योग से ब्राह्मण शरीर नहीं होता। किन्तु—

स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ मनु० २।२८॥

(स्वाध्यायेन) सकल विद्या पढ़ने-पढ़ाने, (जपैः)[5] विचार करने-

---

१. द्र० संस्कारविधि।

२. सा (जाबाला) हैनमुवाच नाहमेतद् वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि। बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे।·········तं होवाच (आचार्यः) नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति। छान्दोग्योप० ४।४।२-५॥

३. कथं प्राप्तं महाराज क्षत्रियेण महात्मना। विश्वामित्रेण धर्मात्मन् ब्राह्मणत्वं नरर्षभ॥ महा०अनु० ३।१, २॥ इसीप्रकार द्र० महा०अनु० ४।४८, ४९; ५२, ४ चित्रशाला प्रेस पूना संस्करण।

४. स्थाने मतङ्गो ब्राह्मण्यमालभद् भरतर्षभ।
चाण्डालयोनौ जातो हि कथं ब्राह्मण्यमवाप्तवान्॥ महा० अनु० ३। १९॥

५. पूर्व इस श्लोक में 'व्रतैः' पाठ स्वीकार किया गया है। मनु में भी यही पाठ है।

कराने, (होमैः) नानाविध अग्निहोत्रादि होम के अनुष्ठान, सत्य का ग्रहण असत्य का त्याग और सत्यविद्याओं का दान देने, (त्रैविद्येन) सम्पूर्ण वेदों को शब्द अर्थ सम्बन्ध स्वरोच्चारण सहित पढ़ने-पढ़ाने, (इज्यया) पौर्णमासी इष्टि आदि के करने, पूर्वोक्त विधि पूर्वक (सुतैः) धर्म से सन्तानोत्पत्ति, (महायज्ञैश्च) पूर्वोक्त ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, वैश्वदेवयज्ञ और अतिथि यज्ञ, अर्थात् पाँच महायज्ञों से (यज्ञैश्च) अग्निष्टोमादि यज्ञ, विद्वानों का संग सत्कार, सत्यभाषण, परोपकारादि सत्कर्म और सम्पूर्ण शिल्प पढ़के दुष्टाचार छोड़ श्रेष्ठाचार में वर्त्तने से (इयम्) यह (तनुः) शरीर (ब्राह्मी) ब्राह्मी अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधाररूप ब्राह्मण का (क्रियते) किया जाता है। इतने साधनों के बिना ब्राह्मण का शरीर नहीं बन सकता।[1]

क्या इस श्लोक को तुम नहीं मानते? मानते हैं। फिर क्यों रज-वीर्य के योग से वर्ण-व्यवस्था मानते हो? मैं अकेला नहीं मानता; किन्तु बहुत से लोग परम्परा से ऐसा ही मानते हैं।

प्रश्न—क्या तुम परम्परा का भी खण्डन करोगे?

उत्तर—नहीं, परन्तु तुम्हारी उलटी समझ को नहीं मानके, परम्परा का खण्डन भी करते हैं।

प्रश्न—हमारी उलटी और तुम्हारी सूधी समझ है, इसमें क्या प्रमाण है?

उत्तर—यही प्रमाण है कि जो तुम पांच-सात पीढ़ियों के वर्त्तमान को सनातन व्यवहार मानते हो। और हम वेद तथा सृष्टि के आरम्भ से आज-पर्यन्त परम्परा मानते हैं। देखो, जिसका पिता श्रेष्ठ उसका पुत्र दुष्ट, और जिसका पुत्र श्रेष्ठ उसका पिता दुष्ट, तथा कहीं दोनों श्रेष्ठ वा दुष्ट देखने में आते हैं। इसलिए तुम लोग भी भ्रम में पड़े हो। देखो मनु महाराज ने क्या कहा है—

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते॥ मनु० ४।१७८॥

जिस मार्ग से इसके पिता-पितामह चले हों, उसी मार्ग में सन्तान

१· ऋषि दयानन्द ने स. प्र. के तृ. समु. में भी इसका अर्थ किया है। दोनों स्थलों को मिलाकर यहां अर्थ किया है।

भी चलें। परन्तु 'सताम्'=जो सत्पुरुष पिता-पितामह हों, उन्हीं के मार्ग में चलें। और जो पिता-पितामह दुष्ट हों, तो उनके मार्ग में कभी न चलें। क्योंकि उत्तम धर्मात्मा पुरुषों के मार्ग में चलने से दुःख कभी नहीं होता।

इसको तुम मानते हो वा नहीं? हां हां मानते हैं। और देखो, जो परमेश्वर की प्रकाशित वेदोक्त बात है, वही **सनातन**, और जो उसके विरुद्ध है, वह सनातन कभी नहीं हो सकती। ऐसाही सब लोगों को मानना चाहिए। जो ऐसा न माने, उससे कहो कि किसीका पिता दरिद्र हो और उसका पुत्र धनाढ्य होवे, तो क्या अपने पिता की दरिद्रावस्था के अभिमान से धन को फैंक देवे? क्या जिसका पिता अन्धा हो, उसका पुत्र भी अपनी आंखों को फोड़ लेवे? जिसका पिता कुकर्मी हो, क्या उसका पुत्र भी कुकर्म को ही करे? नहीं-नहीं, किन्तु जो-जो पुरुषों के उत्तम कर्म हों, उनका सेवन, और दुष्ट कर्मों का त्याग कर देना सब को अत्यावश्यक है।

जो कोई रज-वीर्य के योग से वर्णाश्रम-व्यवस्था माने, और गुण कर्मों के योग से न माने, तो उससे पूछना चाहिए कि—जो कोई अपने वर्ण को छोड़ नीच अन्त्यज अथवा कृश्चीन मुसलमान हो गया हो, उसको भी ब्राह्मण क्यों नहीं मानते? यहां यही कहोगे कि उसने ब्राह्मण के कर्म छोड़ दिये हैं। इसलिये वह ब्राह्मण नहीं है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो ब्राह्मणादि उत्तम कर्म करते हैं. वे ही ब्राह्मणादि और जो नीच भी उत्तम वर्ण के गुण कर्म स्वभाव वाला होवे, तो उसको भी उत्तम वर्ण में, और जो उत्तम वर्णस्थ होके नीच काम करे, तो उसको नीच वर्ण में गिनना अवश्य चाहिये।

(प्रश्न) ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याँ शूद्रोऽअजायत॥ यजु० ३१।११॥

इसका यह अर्थ है कि—ब्राह्मण ईश्वर के मुख, क्षत्रिय बाहू, वैश्य ऊरू और शूद्र पगों से उत्पन्न हुआ है। इसलिए जैसे मुख न बाहू आदि और बाहू आदि, न मुख होते हैं; इसी प्रकार ब्राह्मण, न क्षत्रियादि और क्षत्रियादि, न ब्राह्मण हो सकते हैं।

उत्तर—इस मन्त्र का अर्थ जो तुमने किया, वह ठीक नहीं। क्योंकि यहां पुरुष अर्थात् निराकार व्यापक परमात्मा की अनुवृत्ति है। जब वह निराकार है, तो उसके मुखादि अंग नहीं हो सकते। जो मुखादि अङ्गवाला हो, वह पुरुष अर्थात् व्यापक नहीं होता। और जो व्यापक नहो; वह सर्वशक्तिमान्, जगत् का स्रष्टा, धर्त्ता, प्रलयकर्त्ता, जीवों के पुण्य-पापों

[के अनुसार उनके 'जाति-आयु-भोग'] की व्यवस्था करनेहारा, सर्वज्ञ, अजन्मा, मृत्युरहित आदि विशेषणवाला नहीं हो सकता। इसलिये इसका यह अर्थ है कि—

जो (अस्य) पूर्ण व्यापक परमात्मा की सृष्टि में मुख के सदृश सब में मुख्य उत्तम हो, वह 'ब्राह्मण'; (बाहू)[1] बल वीर्य का नाम बाहू है, वह जिसमें अधिक हो, सो (राजन्यः) क्षत्रिय'; (ऊरू) कटि के अधो और जानु के उपरिस्थ भाग का नाम ऊरू है, जो सब देशों में उरू के बल से इधर उधर जावे-आवे, प्रवेश करे, वह (वैश्यः) 'वैश्य' और (पद्भ्याम्) जो पग के अर्थात् नीचे अङ्ग के सदृश मूर्खत्वादि गुण वाला हो, वह 'शूद्र' के तुल्य बताया गया है।

अन्यत्र 'शतपथ ब्राह्मणादि' में भी इस मन्त्र का ऐसा ही अर्थ किया है। जैसे—**'यस्मादेते मुख्यास्तस्मान्मुखतो ह्यसृज्यन्त'[2] इत्यादि।**

जिससे कि ये 'ब्राह्मण' मुख्य हैं, इससे मुख से उत्पन्न हुए, ऐसा कथन संगत होता है। अर्थात् जैसा मुख सब अङ्गों में श्रेष्ठ है; वैसे पूर्ण विद्या और उत्तम गुण कर्म स्वभाव से युक्त होने से मनुष्यजाति में उत्तम, 'ब्राह्मण' कहाता है। जब परमेश्वर के निराकार होने से मुखादि अङ्ग ही नहीं हैं, तो मुख आदि से उत्पन्न होना असंभव है; जैसा कि वन्ध्या स्त्री के पुत्र का विवाह होना।

और जो मुखादि अङ्गों से ब्राह्मणादि उत्पन्न होते, तो उपादान कारण के सदृश ही ब्राह्मणादि की आकृति अवश्य होती। जैसा मुख का आकार गोलमाल है; वैसे ही उनके शरीर का भी गोलमाल मुखाकृति के समान होना चाहिये। क्षत्रियों के शरीर भुजा के सदृश, वैश्यों के ऊरू के तुल्य और शूद्रों के शरीर पग के समान आकारवाले होने चाहियें? ऐसा नहीं होता। और जो कोई तुमसे प्रश्न करेगा कि जो-जो मुखादि से उत्पन्न हुए थे, उनकी ब्राह्मणादि संज्ञा हो, परन्तु तुम्हारी नहीं। क्योंकि जैसे और सब लोग स्त्री के गर्भाशय से उत्पन्न होते हैं, वैसे तुम भी होते

---

१. **बाहुर्वै बलम्। बाहुर्वै वीर्यम्॥** अनुपलब्धमूल। ने इनके पते दिये हैं, उन्होंने मूल पाठ बिना मिलाये ही दे दिये हैं। ऋषि दया ने शतपथ ब्राह्मण का वचन करके लिखा है।

२. तुलना तै॰ सं॰ ७।१।१।४ **'तस्मादेते मुख्या मुखतो ह्यसृज्यन्त'**।

हो। तुम मुखादि से उत्पन्न न होकर ब्राह्मणादि संज्ञा का मिथ्या अभिमान करते हो, तो तुमसे कुछ उत्तर न बन पड़ेगा। इसलिए तुम्हारा कहा अर्थं व्यर्थ अर्थात् निरर्थक मिथ्या है और जो हमने अर्थ किया है, वह युक्ति प्रमाणानुकूल होने से सच्चा है। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है। जैसा—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद् वैश्यात्तथैव च॥ मनु०।१०।६५॥

जो शूद्रकुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के समान गुण कर्म स्वभाव वाला हो, तो वह शूद्र, ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य हो जाय। वैसे ही जो ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य कुल में उत्पन्न हुआ हो, और उसके गुण कर्म स्वभाव शूद्र के सदृश हों, तो वह शूद्र हो जाय। वैसे ही क्षत्रिय वा वैश्य के कुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण वा शूद्र के समान होने से ब्राह्मण और शूद्र भी हो जाता है। अर्थात् चारों वर्णों में जिस-जिस वर्ण के सदृश जो-जो पुरुष वा स्त्री हो, वह-वह उसी वर्ण में गिनी जावे।

धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ॥१॥
अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ॥२॥

आपस्तम्ब सूत्र २।५।११।१०,११॥

धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम-उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है। और उस वर्ण में जो-जो कर्त्तव्य अधिकार रूप कर्म हैं, वे सब गुणकर्म उस पुरुष और स्त्री को प्राप्त होवें अर्थात् वह उसी वर्ण में गिना जावे कि जिस-जिसके योग्य होवे॥१॥

वैसे ही अधर्माचरण से पूर्व-पूर्व अर्थात् उत्तम-उत्तम वर्णवाला मनुष्य अपने से नीचे-नीचे वाले वर्ण को प्राप्त होता है। और वह उस-उस वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त करे अर्थात् वह उसी वर्ण में गिना जावे॥२॥

अभिप्राय यह है कि उत्तम गुण कर्म स्वभाव से जो शूद्र है, वह वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण; जो वैश्य है, वह क्षत्रिय और ब्राह्मण तथा जो क्षत्रिय है, वह ब्राह्मण वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है। वैसे ही नीच[1] कर्म, गुण और स्वभाव से, जो ब्राह्मण है, वह क्षत्रिय वैश्य व शूद्र; जो क्षत्रिय है, वह वैश्य व शूद्र तथा जो वैश्य है, वह शूद्र वर्णके अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है। (संस्कार विधि)॥

१. अर्थात् निम्न प्रकार के

जैसे पुरुष जिस-जिस वर्ण के योग्य होता है, वसे ही स्त्रियों की भी व्यवस्था समझनी चाहिये। इससे क्या सिद्ध हुआ कि इस प्रकार होने से सब वर्ण अपने-अपने गुण कर्म स्वभावयुक्त होकर शुद्धता के साथ रहते हैं। अर्थात् ब्राह्मणकुल में कोई क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के सदृश न रहे, और क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र वर्ण भी शुद्ध रहते है। अर्थात् वर्णसंकरता प्राप्त न होगी, इससे किसी वर्ण की निन्दा वा अयोग्यता भी न होगी।

प्रश्न—जो किसी के एक ही पुत्र वा पुत्री हो, वह दूसरे वर्ण में प्रविष्ट हो जाय, तो उसके मां-बाप की सेवा कौन करेगा? और वंशच्छेदन भी हो जायेगा। इसकी क्या व्यवस्था होनी चाहिए?

उत्तर—न किसी की सेवा का भङ्ग, और न वंशच्छेदन होगा। क्योंकि उनको अपने लड़के-लड़कियों के वदले स्ववर्ण के योग्य दूसरे सन्तान विद्यासभा और राजसभा की व्यवस्था से मिलेंगे। इसलिए कुछ भी अव्यवस्था न होगी।

यह गुण कर्मों से वर्णों की व्यवस्था कन्याओं की सोलहवें वर्ष और पुरुषों की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा में नियत करनी चाहिये। और इसी क्रम से अर्थात् ब्राह्मण वर्ण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय वर्ण का क्षत्रिया, वैश्य वर्ण का वैश्या और शूद्र वर्ण का शूद्रा के साथ विवाह होना चाहिये। तभी अपने-अपने वर्णों के कर्म और परस्पर प्रीति भी यथायोग्य रहेगी।

इसी प्रकार वर्ण व्यवस्था होने से पक्षपात न होकर सब वर्ण उत्तम अर्थात् श्रेष्ठ धार्मिक बने रहते हैं और उत्तम बनने में प्रयत्न करते हैं। और उत्तम वर्ण के भय से कि नीच वर्ण न हो जाऊं, इसलिये बुरे कर्म छोड़ उत्तम कर्मों को ही किया करते हैं। इससे संसार की बड़ी उन्नति है। आर्यावर्त्त देश में भी जबतक ऐसी वर्णव्यवस्था पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य विद्याग्रहण और उत्तमता से स्वयंवर विवाह होता था, तभी देश की उन्नति थी। अव भी ऐसा ही होना चाहिए; जिससे आर्यावर्त देश अपनी [उन्नत] पूर्वावस्था को प्राप्त होकर आनन्दित होवे। (संस्कार विधि)॥

अव इन चारों वर्णों के कर्त्तव्य-कर्म और गुण लिखते हैं—

ब्राह्मण—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजन तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ १॥ मनु १।८८॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मं स्वभावजम्॥२॥ गीता १८।४२॥

ब्राह्मण को पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, दान देना-लेना ये छः कर्म हैं। परन्तु 'प्रतिग्रहः प्रत्यवरः' मनु० [१०-१०९] अर्थात् प्रतिग्रह=दान लेना नीच कर्म है।। किन्तु पढ़ाके और यज्ञ कराके जीविका करनी उत्तम है।[1]

(शम) मन से बुरे काम की इच्छा भी न करनी, और उसको अधर्म में कभी प्रवृत्त न होने देना, (दम) श्रोत्र और चक्षु आदि इन्द्रियों को अन्यायाचरण से रोककर धर्म में चलाना, (तप) और सदा ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय होके धर्मानुष्ठान करना, (शौच) जल से वाहर के अङ्ग, सत्याचार से मन, विद्या और धर्मानुष्ठान से जीवात्मा, और ज्ञान से बुद्धि को पवित्र रखना अर्थात् भीतर रागद्वेषादि दोष और वाहर के मलों को दूर कर शुद्ध रहना, (क्षान्ति) अर्थात् निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख, शीतोष्ण क्षुधा-तृषा, हानि-लाभ, मानापमान आदि हर्ष शोक छोड़के धर्म में दृढ़ निश्चय रहना, (आर्जव) कोमलता, निरभिमान, सरलता, सरलस्वभाव रखना, कुटिलतादि दोष छोड़ देना, (ज्ञान) सव वेदादि शास्त्रों को साङ्गोपाङ्ग पढ़के पढ़ाने का सामर्थ्य, विवेक सत्य का निर्णय=जो वस्तु जैसा हो अर्थात् जड़ को जड़ चेतन को चेतन जानना और मानना, (विज्ञान) पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों को विशेषता से जानकर उनसे यथायोग्य उपयोग लेना, (आस्तिक्य) कभो वेद, ईश्वर, मुक्ति, पूर्व पर जन्म, धर्म, विद्या, सत्सङ्ग, माता-पिता, आचार्य और अतिथियों की सेवा को न छोड़ना, और निन्दा कभी न करना। ये कर्म और गुण ब्राह्मण वर्णस्थ मनुष्यों में अवश्य होने चाहियें। अर्थात् ये छै कर्म और नव गुण जिन व्यक्तियों में हों, वे ब्राह्मण ब्राह्मणी होवें। विवाह भी इन्हीं वर्ण के गुण कर्म स्वभावों को मिला ही के करें। मनुष्यमात्र में से इन्हीं को ब्राह्मण वर्ण का अधिकार होवे। (सु० संस्कार विधि)

क्षत्रिय—

> **प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।**
> **विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥१॥ मनु० १।८९॥**
> **शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।**
> **दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥२॥ गीता १८।४३॥**

---

१. नु. संस्कारविधि ॥ इनमें अध्ययन, यज्ञ और दान देना तीन धर्म और अध्यापन याजन और प्रतिग्रह—दान लेना जीविका है। न्याय से धनोपार्जन करने वाले गृहस्थों से दान [दक्षिणा] लेना धर्म है (नु. स. वि.) ॥

(प्रजाना रक्षणं) न्याय से प्रजा की रक्षा, अर्थात् पक्षपात छोड़के श्रेष्ठों का सत्कार और दुष्टों का तिरस्कार करना, सब प्रकार से सर्वदा यथावत् सबका पालन, (दान) विद्या-धर्म की प्रवृत्ति और सुपात्रों की सेवा में विद्या सुवर्ण धनादि पदार्थों का व्यय करना और प्रजा को अभयदान देना, (इज्य।) अग्निहोत्रादि यज्ञ करना (अध्ययन) साङ्गोपाङ्ग वेदादिशास्त्रों का पढ़ना और (विषयेष्व०) विषयों में न फंसकर जितेन्द्रिय रहके सदा शरीर और आत्मा से बलवान् रहना तथा लोभ, व्यभिचार, मद्यपानादि व नशा आदि दुर्व्यसनों से पृथक् रहकर विनय सुशीलतादि शुभकर्मों में सदा प्रवृत्त रहना।

(शौर्य) शस्त्र, सग्राम, मृत्यु और शस्त्रप्रहरणादि से तथा सैकड़ों सहस्रों से भी युद्ध करने में अकेले को भय न होना (तेज) सदा तेजस्वी अर्थात् उत्तम प्रतापी होकर दीनता रहित प्रगल्भ दृढ़ रहना, (धृति) चाहे कितनी आपत् विपत् क्लेश दुःख प्राप्त हों, तथापि धैर्यवान होना, (दाक्ष्य) राजा और प्रजासम्बन्धी व्यवहार और सब शास्त्रों में अतिचतुर होना, तथा संग्राम, वाग्युद्ध, दूतत्व, न्याय विचार आदि सबमें अतिचतुर बुद्धिमान् होना, (युद्धे चाप्यपलायनं) युद्ध में भी सदा दृढ़ निःशङ्क रहके उससे कभी न हटना न भागना, अर्थात् इस प्रकार से लड़ना कि जिससे निश्चित विजय होवे, आप बचे, जो भागने से वा शत्रुओं को धोखा देने से जीत होती हो, तो ऐसा ही करना; परन्तु घबराके शत्रु के वश में कभी न होना, (दान) दानशीलता रखना, (ईश्वरभाव) पक्षपातरहित होके सबके साथ यथायोग्य वर्त्तना, विचार के देना, प्रतिज्ञा पूरी करना, उस को कभी भङ्ग होने न देना, अर्थात् जैसे परमेश्वर सबके ऊपर दया करके पितृवत् वर्त्तमान, पक्षपात छोड़कर धर्माऽधर्म [अर्थात् शुभाशुभ पाप-पुण्य] करनेवालों को यथायोग्य सुख दुःख रूप फल देता है और अपनी सर्वज्ञता आदि साधनों से सबका अन्तर्यामी होकर सबके अच्छे बुरे कर्मों को यथावत् देखता है, वैसे प्रजा के साथ वर्त्तकर, गुप्त दूत आदि से अपने को सब प्रजा वा राजपुरुषों के अच्छे बुरे कर्मों से सदा ज्ञात रखना, रात दिन न्याय करने और प्रजा को यथावत् सुख देने, श्रेष्ठों का मान और दुष्टों को दण्ड करने में सदा प्रवृत्त रहना, और सब प्रकार से अपने शरीर को रोगरहित, बलिष्ठ, दृढ़, तेजस्वी, दीर्घायु रखके आत्मा को न्याय धर्म में चला कर कृत्यकृत्य करना ।। ये ग्यारह क्षत्रिय वर्ण के कर्म और गुण हैं। इन गुण कर्मों का योग जिस व्यक्ति में हो, वह क्षत्रिय और क्षत्रिया होवे। इनका भी इन्हीं गुणकर्मों के मेल से विवाह करना। जैसे ब्राह्मण,

पुरुषों और ब्राह्मणी, स्त्रियों को पढ़ावें; वैसे ही राजा, पुरुषों और राणी स्त्रियों का न्याय तथा उन्नति सदा किया करें। [मनुष्यमात्र में से इन्हीं को क्षत्रिय वर्ण का अधिकार होवे] (संस्कार विधि तु०)॥

वैश्य—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥ मनु० ।१।६०॥
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ॥१॥ गी० १६।४४॥

(पशुरक्षा) गाय आदि पशुओं का पालन-वर्द्धन करना, उनसे दुग्धादि का बेचना, (दान) विद्या-धर्म की वृद्धि करने-कराने के लिए धनादि का व्यय करना, तथा अन्नादि का दान देना, (इज्या) अग्नि-होत्रादि यज्ञों का करना, (अध्ययन) वेदादिशास्त्रों का पढ़ना, (वणिक्पथ)[2] सव प्रकार के व्यापार करना, (कुसीद)[3] एक सैकड़े में चार, छः, आठ, वारह, सोलह वा वीस आनों से अधिक व्याज, और मूल से दूना अर्थात् एक रुपया दिया हो, तो सौ वर्ष में भी दो रुपये से अधिक न लेना और न देना, (कृषि) खेती करना।[4] दान यज्ञ और अध्ययन ये तीन धर्म के लक्षण और शेष चार कर्म वैश्य की जीविका होते हैं॥

(कृषि)[4] धान्य शाक फल आदि उत्तम भक्ष्य पदार्थों की खेती करना, (गोरक्ष्य) गवादि पशुओं की रक्षा करना और (वाणिज्य)

---

१. सत्यार्थप्रकाश में ब्राह्मण क्षत्रिय वर्ण का स्वरूपलक्षण दर्शाते हुए गीता से प्रमाण दिये हैं। परन्तु वैश्य शूद्र के गुण धर्म बताते हुए गीता से प्रमाण नहीं दिये। हमने वैश्य-शूद्र का लक्षण दर्शाने वाला श्लोक (१८।४४) भी यहाँ उद्धृत कर दिया है।

२. नाना देशों की भाषा, हिसाव, भूगर्भविद्या, भूमि वीज आदि के गुण जानना, [अन्नादि की रक्षा, संग्रह, वृद्धि] और सव पदार्थों के भावाभाव समझना, (त. संस्कार विधि)॥

३. सवा रुपये सैकड़े से अधिक, चार आने से न्यून व्याज न लेवे न देवे, जब दूना धन आ जावे, उससे आगे कौड़ी भी न लेवे न देवे [अर्थात् कुछ लेना देना न रहे]। जितना न्यून व्याज लेवेगा, उतना ही उसका धन बढ़ेगा और कभी धन का नाश और कुसन्तान उसके कुल में न होंगे। (त. संस्कार विधि)।

४. खेती की विद्या का जानना, जोतना बोना आदि व्यवहारों को जानना।

धर्मानुकूल साधनों से नानाविध जीवनोपयोगी पदार्थों का देशदेशान्तर में व्यापार करना ये 'विद्याग्रहण कर धर्मानुकूल पुरुषार्थ कर धनधान्य सम्पादन में विशेषयोग्यता रखने वाले' वैश्य के स्वभावानुकूल कर्म हैं ।। ये गुण कर्म जिस व्यक्ति में हों, वह वैश्य और वैश्या होवें। इन्हीं का परस्पर परीक्षा और योग से विवाह होना चाहिये। मनुष्यमात्र में से इन्हीं को वैश्य वर्ण का अधिकार होवे ।। (तु० सं० वि०) ।।

शूद्र—

एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ।। मनु० १।९१।।
परिचर्यात्मकं कर्म, शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।। गी. १८।४४।।

(प्रभुः) गुणकर्मानुसार जीवों के 'जाति आयु भोग' की व्यवस्था करने वाले परमेश्वर ने (शूद्रस्य) जिसको पढ़ने से भी विद्या न आ सके, ऐसे विद्याहीन, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल 'शूद्र' संज्ञक पुरुष के लिए (एतेषामेव वर्णानां) इन ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तीनों वर्णों की (अनसूयया) निन्दा से रहित प्रीति-प्रसन्नता से सेवा करना (एकमेव कर्म) यही कर्म (समादिशत्) करने की आज्ञा दी है। (तु. संस्कारविधि) ।। अर्थात् शूद्र का यही योग्य है कि निन्दा, ईर्ष्या, अभिमान आदि दोषों को छोड़के ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य की सेवा यथावत् करना, और उसी से अपना जीवन-निर्वाह करना।

(परिचर्यात्मकं कर्म) सब वर्णों की सेवा करना, यह विद्याग्रहण में सर्वथा अयोग्य मूर्ख शूद्र पुरुष के स्वभावानुकूल कर्म है ।।

ये मूर्खत्वादिगुण और सेवा आदि कर्म जिस व्यक्ति में हों, वह शूद्र और शूद्रा है। इन्हीं की परीक्षा से इनका विवाह होवे और मनुष्यमात्र में से इन्हीं को शूद्र वर्ण का अधिकार होना चाहिये ।। (तु. सं. वि.)

इन गुणकर्मों के योग ही से यदि चारों वर्ण होवें, तो उस कुल, देश और मनुष्य समुदाय की बड़ी उन्नति होवे। **और जिनका जन्म जिस वर्ण में हो, उसी के सदृश गुण कर्म स्वभाव भी हों, तो अति विशेष होता है ।।** (संस्कारविधि) ।।

ये संक्षेप से वर्णों के गुण और कर्म लिखे हैं। जिस-जिस पुरुष में जिस-जिस वर्ण के गुण कर्म हों, उस-उस वर्ण का अधिकार देना। ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं। क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि जो हमारे सन्तान मूर्खत्वादि दोषयुक्त होंगे, तो शूद्र हो

जायेंगे। और सन्तान भी डरते रहेंगे कि जो हम उक्त चाल-चलन और विद्यायुक्त न होंगे, तो शूद्र होना पड़ेगा। और नीच वर्णों को उत्तम वर्णस्थ होने के लिए उत्साह बढ़ेगा।

विद्या और धर्म के प्रचार का अधिकार ब्राह्मण को देना। क्योंकि वे पूर्ण विद्यावान् और धार्मिक होने से उस काम को यथायोग्य कर सकते हैं। क्षत्रियों को राज्य के अधिकार देने से कभी राज्य की हानि वा विघ्न नहीं होता। पशुपालनादि का अधिकार वैश्यों ही को होना योग्य है। क्योंकि वे इस काम को अच्छे प्रकार कर सकते हैं। शूद्र को सेवा का अधिकार इसलिये है कि वह विद्या रहित मूर्ख होने से विज्ञान सम्बन्धी काम कुछ भी नहीं कर सकता, किन्तु शरीर के काम सब कर सकता है।

इस प्रकार वर्णों को अपने-अपने अधिकार में प्रवृत्त करना राजा आदि सभ्य जनों का काम है।

विवाह के लक्षण

(प्रश्न) विवाह कितने प्रकार का होता है?

(उत्तर) ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥

मनु० ३।२१॥[१]

विवाह आठ प्रकार का होता है—एक ब्राह्म, दूसरा दैव, तीसरा आर्ष, चौथा प्राजापत्य, पाँचवां आसुर, छठा गान्धर्व, सातवाँ राक्षस, आठवां पैशाच। इन विवाहों की यह व्यवस्था है कि—

एक—वर कन्या दोनों यथावत् ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्वान् धार्मिक और सुशील हों, उनका परस्पर प्रसन्नता से विवाह होना[१] 'ब्राह्म' कहाता हैं (स. प्र.)। इसमें कन्या के अभिभावक, वर को बुला, उसका सत्कार करके कन्या को वस्त्रादि से अलंकृत करके, उसको कन्या देते हैं (सं. वि. के अनुसार)॥

दूसरा—विस्तृत यज्ञ में बड़े-बड़े विद्वानों का वरण कर, उसमें ऋत्विक् कर्म करने वाले विशेष विद्वानों को [जिसको कन्या ने पसन्द भी किया हो], वस्त्रालङ्कार से सुशोभित कन्या को देकर जामाता बना लेना '**दैव**' विवाह कहाता है।

---

१. इस व्यवस्था से बोधक मनुस्मृति के श्लोक ऋषिदया० ने सं० विधि में भी व्याख्यात किये हैं। द्र० १६७-१६० (सं० ३ रा, रा० ला० क० ट्र०)।

तीसरा—वर से कुछ लेके अर्थात् गाय बैल का जोड़ा अथवा दो जोड़े वर से लेके, धर्मपूर्वक यथाविधि कन्यादान करना **'आर्ष'** विवाह कहाता है।[१]

चौथा—कन्या वर को यज्ञशाला में विधिपूर्वक सबके सामने 'तुम दोनों मिलकर गृहाश्रम के (धर्मों अर्थात् नियत कर्मों को यथावत् करो' ऐसा वाणी से कहकर, दोनों की प्रसन्नता पूर्वक पाणिग्रहण होना, यह **'प्राजापत्य'** विवाह कहाता है।

पाँचवां—वर पक्ष के ज्ञातियों=जातिवालों और यथाशक्ति कन्या को धन देकर, होम आदि विधि कर वर को कन्या देना **'आसुर'** विवाह कहाता है।

छठा—इच्छा से कन्या और वर का परस्पर अनियमित असमय किसी कारण से संयोग होना और अपने मन में मान लेना कि हम दोनों स्त्री-पुरुष=भार्याभर्त्ता हैं, यह मैथुन निमित्त किया काम से हुआ सम्वन्ध **'गान्धर्व'** विवाह कहाता है।

सातवां—हनन अर्थात् मारपीट लड़ाई करके, छेदन अर्थात् छीन झपटकर वा भेदन अर्थात् छल कपट से अथवा कन्या के रोकने वालों का विदारण कर कोसती रोती और भयभीत हुई कन्या को बलात्कार से हरण करना, **'राक्षस'** विवाह कहाता है।

आठवां—सोती हुई, पागल हुई या नशा पीकर उन्मत्त हुई कन्या को एकान्त पाकर उसे दूषित कर देना या उससे वलात्कार करना **'पैशाच'** विवाह है। यह आठवां सब विवाहों में नीच से नीच, महानीच, दुष्ट-अतिदुष्ट 'विवाह' है।

ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य ये चार विवाह उत्तम हैं। इन विवाहों में पाणिग्रहण किये स्त्रीपुरुषों से जो सन्तान उत्पन्न होते है, वे ब्रह्मवर्चस्वी अर्थात् वेदादि विद्या से तेजस्वी, आप्तपुरुषों के सम्मत=सन्मानित अत्युत्तम होते हैं। ये पुत्र व कन्या सुन्दर रूपवान्, वल-पराक्रम शुद्ध बुद्धयादि गुण युक्त, वहुधन युक्त, पुण्यकीर्तिमान और पूर्ण भोगों के भोक्ता तथा अतिशय धर्मात्मा होकर सौवर्ष तक जीते हैं।

इन चार विवाहों से जो वाकी रहे चार, आसुर, गान्धर्व, राक्षस

१· यह वात मिथ्या है, क्योंकि आगे मनुस्मृति में निषेध किया है। और यह युक्ति विरुद्ध भी है। इसलिये कुछ भी न ले देकर दोनों की प्रसन्नता से पाणि-ग्रहण होना **'आर्ष विवाह'** है।

और पैशाच, इन चार दुष्ट विवाहों से उत्पन्न हुए सन्तान नृशंस, निन्दित कर्मकर्त्ता, मिथ्यावादी, वेदधर्म के दोषी बड़े नीच स्वभाव वाले होते हैं ।।

इसलिये मनुष्यों को योग्य है कि जिन अनिन्दित अर्थात् उत्तम विवाहों से अनिन्द्य अर्थात् प्रशंसनीय उत्तम प्रजा उत्पन्न होती है, उनका करना अत्युत्तम है और जिन निन्दित विवाहों से मनुष्यों की नीच प्रजा होती है, उनका त्याग करें ।।

इन सब विवाहों में ब्राह्म विवाह सर्वोत्कृष्ट, दैव और प्राजापत्य मध्यम, आर्ष आसुर और गान्धर्व निकृष्ट, राक्षस अधम, और पैशाच महाभ्रष्ट है । इसलिये यही निश्चय रखना चाहिये कि कन्या और वर का विवाह के पूर्व एकान्त में मेल न होना चाहिए । क्योंकि युवावस्था में स्त्री पुरुष का एकान्तवास दूषणकारक है ।

परन्तु जब कन्या वा वर के विवाह का समय हो, अर्थात् जब एक वर्ष वा छः महीने ब्रह्मचर्य्याश्रम और विद्या पूरी होने में शेष रहें, तब उन कन्या और कुमारों का प्रतिबिम्ब अर्थात् जिसको 'फोटोग्राफ' कहते है, अथवा प्रतिकृति उतार के कन्याओं की अध्यापिकाओं के पास कुमारों की, कुमारों के अध्यापकों के पास कन्याओं की प्रतिकृति भेज देवें ।

जिस-जिस का रूप मिल जाय, उस-उस के इतिहास अर्थात् जन्म से लेके उस दिन पर्यन्त जन्मचरित्र का जो पुस्तक हो, उसको अध्यापक लोग मंगवाके देखें । जब दोनों के गुण-कर्म-स्वभाव सदृश हों, तब जिस-जिस के साथ जिसजिस का विवाह होना योग्य समझें, उस-उस पुरुष और कन्या का प्रतिबिम्ब और इतिहास कन्या और वर के हाथ में देवें, और कहें कि कि इसमें जो तुम्हारा अभिप्राय हो, सो हमको विदित कर देना ।

जब उन कन्या और पुरुष दोनों का निश्चय परस्पर विवाह करने का हो जाय, तब उन दोनों का समावर्त्तन एक ही समय में होवे । जो वे दोनों अध्यापकों के सामने विवाह करना चाहें, तो वहां, नहीं तो कन्या के माता-पिता के घर में विवाह होना योग्य है । जब वे समक्ष हों, तब उन अध्यापकों वा कन्या के माता-पिता आदि भद्र पुरुषों के सामने उन दोनों की आपस में बातचीत, शास्त्रार्थ कराना । और जो कुछ गुप्त व्यवहार पूछें, सो भी सभा में लिखके एक दूसरे के हाथ में देकर प्रश्नोत्तर कर लेवें ।

जब से दोनों का दृढ़ प्रेम, विवाह करने में हो जाय, तब से उनके खानपान का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए । कि जिससे उनका शरीर, जो

पूर्व ब्रह्मचर्य्य और विद्याध्ययनरूप तपश्चर्य्या और कष्ट से दुर्बल होता है, वह चन्द्रमा की कला के समान बढ़के पुष्ट थोड़े ही दिनों में हो जाय।

पश्चात् जिस दिन कन्या रजस्वला होकर जब शुद्ध हो, तब वेदी और मण्डप रचके अनेक सुगन्धादि द्रव्य और घृतादि का होम, तथा अनेक विद्वान् पुरुष और स्त्रियों का यथायोग्य सत्कार करें। पश्चात् जिस दिन ऋतुदान देना योग्य समझें, उसी दिन ऋषिदयानन्द रचित **'संस्कार विधि'** पुस्तकस्थ विधि के अनुसार सब कर्म करके मध्यरात्रि वा दश बजे अति प्रसन्नता से सब के सामने पाणिग्रहण पूर्वक विवाह के विधि को पूरा करके एकान्त-सेवन करें।

पुरुष वीर्य्यस्थापन और स्त्री वीर्य्याकर्षण का जो विधि है, उसी के अनुसार दोनों करें। जहां तक बने, वहां तक ब्रह्मचर्य्य के वीर्य्य को व्यर्थ न जाने दें। क्योंकि उस वीर्य्य वा रज से जो शरीर उत्पन्न होता है, वह अपूर्व उत्तम सन्तान होता है। जब वीर्य्य का गर्भाशय में गिरने का समय हो, उस समय स्त्री और पुरुष दोनों स्थिर और नासिका के सामने नासिका, नेत्र के सामने नेत्र अर्थात् सूधा शरीर और अत्यन्त प्रसन्नचित्त रहें, डिगें नहीं। पुरुष अपने शरीर को ढीला छोड़े और स्त्री वीर्य्यप्राप्ति के समय अपान वायु को ऊपर खींचे। योनि को ऊपर संकोच कर वीर्य्य का ऊपर आकर्षण करके गर्भाशय में स्थित करे। पश्चात् दोनों शुद्ध जल से स्नान करें।

गर्भस्थिति होने का परिज्ञान विदुषी स्त्री को तो उसी समय हो जाता है, परन्तु इसका निश्चय एक मास के पश्चात् रजस्वला न होने पर सबको हो जाता है। सोंठ, केशर, असगन्ध, छोटी इलायची और सालम-मिश्री डाल के गर्म करके जो प्रथम ही रक्खा हुआ ठण्डा दूध है, उसको यथारुचि दोनों पीके अलग-अलग अपनी-अपनी शय्या में शयन करें। यही विधि जब-जब गर्भाधान क्रिया करें, तब-तब करना उचित है।

जब महीने भर में रजस्वला न होने से गर्भस्थिति का निश्चय हो जाय, तब से एक वर्ष पर्यन्त स्त्री-पुरुष का समागम कभी न होना चाहिये। क्योंकि ऐसा न होने से सन्तान उत्तम और पुनः दूसरा सन्तान भी वैसा ही होता है। अन्यथा वीर्य्य व्यर्थ जाता, दोनों की आयु घट जाती, और अनेक प्रकार के रोग होते हैं। परन्तु ऊपर से भाषणादि प्रेमयुक्त व्यवहार दोनों को अवश्य रखना चाहिये।

पुरुष वीर्य्य की स्थिति और स्त्री गर्भ की रक्षा और भोजन-छादन

इस प्रकार का करे कि जिससे पुरुष का वीर्य्य स्वप्न में भी नष्ट न हो, और गर्भ में बालक का शरीर अत्युत्तम, रूप-लावण्य, पुष्टि-बल, पराक्रम-युक्त होकर दशवें महीने में जन्म होवे। विशेष उसकी रक्षा चौथे महीने से और अतिविशेष आठवें महीने से आगे करनी चाहिए। कभी गर्भवती स्त्री रेचक रूक्ष मादक द्रव्य, बुद्धि और बलनाशक पदार्थों के भोजनादि का सेवन न करे। किन्तु घी, दूध, उत्तम चावल, गेहूं, मूंग, उर्द आदि अन्नपान और देश-काल का भी सेवन युक्तिपूर्वक करे। गर्भ काल में दो संस्कार, एक चौथे महीने में पुंसवन और दूसरा आठवें महीने में सीमन्तोन्नयन ऋषि दयानन्द रचित विधि' के अनुकूल करे।

जब सन्तान का जन्म हो, तब स्त्री और लड़के के शरीर की रक्षा बहुत सावधानी से करे। अर्थात् शुण्ठीपाक अथवा सौभाग्य-शुण्ठीपाक प्रथम ही बनवा रक्खे। उस समय सुगन्धियुक्त उष्ण जल, जो कि किंचित् उष्ण रहा हो, उसी से स्त्री स्नान करे, और बालक को भी स्नान करावे। तत्पश्चात् नाड़ीछेदन बालक की नाभि के जड़ में एक कोमल सूत से बांध चार अंगुल छोड़ के ऊपर से काट डाले। उसको ऐसा बांधे कि शरीर से रुधिर का एक बिन्दु भी न जाने पावे।

पश्चात् उस स्थान को शुद्ध करके, उसके द्वार के भीतर सुगन्धादि-युक्त घृतादि का होम करे। तत्पश्चात् सन्तान के कान में पिता **'वेदोऽसीति'** अर्थात् 'तेरा नाम वेद है' सुनाकर, घी और सहत[1] को लेके सोने की शलाका से जीभ पर **'ओ३म्'** अक्षर लिखकर मधु और घृत को उसी शलाका से चटवावे। पश्चात् उसकी माता को दे देवे। जो दूध पीना चाहे, तो उसकी माता पिलावे। जो उसकी माता को दूध न हो, तो किसी स्त्री की परीक्षा करके उसका दूध पिलावे। पश्चात् दूसरे शुद्ध कोठरी वा जहां का वायु शुद्ध हो, उसमें सुगन्धित घी का होम प्रातः और सायङ्काल किया करे। और उसी में प्रसूता स्त्री तथा बालक को रक्खे। इन दिनों स्त्री अपने शरीर के पुष्टि के अर्थ अनेक प्रकार के उत्तम भोजन करे, और योनिसंकोचादि भी करे। छठे दिन स्त्री बाहर निकाले। पश्चात् नामकरणादि संस्कार ऋषिदयानन्द रचित **'संस्कार विधि'** की रीति से यथाकाल करता जाय। जब स्त्री फिर रजस्वला हो, तब शुद्ध होने के पश्चात् उसी प्रकार एक वर्ष के उपरान्त ऋतुदान देवे। क्योंकि :

ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा।
ब्रह्मचार्य्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्॥मनु० ३।४५+५०॥

१. सहत=शहद।

जो अपनी ही स्त्री से प्रसन्न और ऋतुगामी होता है, वह गृहस्थ भी ब्रह्मचारी ही के सदृश होता है।

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥१॥
यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ॥ २ ॥ मनु० ३।६०॥
स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ३ ॥मनु० ३।६२॥

अर्थ—हे गृहस्थो ! जिस कुल में भार्या से प्रसन्न पति और पत्नी से भार्या अच्छे प्रकार सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुल में निश्चित कल्याण होता है अर्थात् सब सौभाग्य और एश्वर्य निवास करते हैं। और जहां दोनों परस्पर अप्रसन्न रहें, अर्थात् नित्य कलह होता है, वहां दुर्भाग्य और दारिद्रय स्थिर होता है ॥१॥

यदि स्त्री पुरुष पर रुचि न रक्खे वा पुरुष को प्रहर्षित न करे, तो अप्रसन्नता से पुरुष के शरीर में कामोत्पत्ति कभी न हो के सन्तान नहीं होते और यदि होते हैं, तो दुष्ट होते हैं ॥ २ ॥

और जो पुरुष स्त्री को प्रसन्न नहीं करता, तो उस स्त्री के अप्रसन्न रहने से सब कुल भर अप्रसन्न, शोकातुर रहता है और जब पुरुष से स्त्री प्रसन्न रहती है, तब सब कुछ आनन्दरूप दीखता है ॥ ३ ॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥४॥ मनु० ३।५५॥

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥५॥ मनु० ३।५६॥

शोचयन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्र ताः वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥६॥ मनु० ३।५७ ॥

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ॥
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥ ७ ॥मनु० ३।५८॥

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ८ ॥ मनु० ३।५९॥

अर्थ—पिता, भ्राता, पति और देवर को योग्य है कि अपनी कन्या, बहिन, स्त्री और भौजाई आदि स्त्रियों की सदा पूजा करें अर्थात् यथायोग्य

मधुर भाषण भोजन वस्त्र आभूषण आदि से सत्कारपूर्वक प्रसन्न रक्खें। जिन को कल्याण की इच्छा हो, वे स्त्रियों को क्लेश कभी न देवें ॥ ४ ॥

जिस कुल में नारियों की पूजा अर्थात् सत्कार होता है, उस कुल में दिव्य गुण, दिव्य भोग और उत्तम सन्तान होते हैं अर्थात् विद्यायुक्त पुरुष होके देव संज्ञा धराके आनन्द से क्रीड़ा करते हैं। और जिस कुल में स्त्रियों की पूजा नहीं होती, वहां जानों उनकी सब क्रिया निष्फल हो जाती है ॥ ५ ॥

जिस कुल में स्त्री लोग अपने अपने पुरुषों के वेश्यागमन वा व्यभिचारादि दोषों से शोकातुर हो दुःखपाती हैं, वह कुल शीघ्र नष्ट भ्रष्ट हो जाता है और जिस कुल में स्त्रीजन पुरुषों के उत्तमाचरणों से आनन्द प्रसन्न रहती हैं, वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है ॥ ६ ॥

जिन कुल और घरों में अपूजित अर्थात् सत्कार को न प्राप्त होकर स्त्री लोग जिन गृहस्थों को शाप देती हैं, वे कुल तथा गृहस्थ जैसे विष देकर बहुतों को एकबार नाश कर देवें, वैसे चारों ओर से नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ ७ ॥

इस कारण ऐश्वर्य की इच्छा करने वाले सब पुरुषों को योग्य है कि इन स्त्रियों को सत्कार के अवसरों और उत्सवों में भूषण, वस्त्र, खान, पान आदि से सदा पूजा अर्थात् सत्कार युक्त प्रसन्न रक्खें अर्थात् स्त्रियों का नित्यप्रति सत्कार करें ॥ ८ ॥

यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि 'पूजा' शब्द का अर्थ सत्कार है। और रात-दिन में जब-जब प्रथम मिलें वा पृथक् हों, तब-तब प्रीतिपूर्वक 'नमस्ते' एक दूसरे से करें।

स्त्री को योग्य है कि अतिप्रसन्नता से घर के कामों में चतुराई-युक्त, सब पदार्थों अर्थात् अन्नादि, पात्र, वस्त्र, गृह आदि के उत्तम संस्कार तथा घर की शुद्धि रक्खे। और व्यय में अत्यन्त उदार न रहे अर्थात् यथा-योग्य खर्च करें सब चीजें पवित्र और पाक इस प्रकार बनावें, जो औषध-रूप होकर शरीर वा आत्मा में रोग को न आने देवे। जो-जो व्यय हो, उसका हिसाब यथावत् रखके पति आदि को सुना दिया करे। घर के नौकर चाकरों से यथायोग्य काम लेवे, घरके किसी काम को बिगड़ने न देवे।

एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥१०॥ मनुः ९।२४॥

अर्थ—यदि स्त्रियां दुष्टाचार युक्त भी हों, तथापि इस संसार में बहुत स्त्रियां अपने अपने पतियों के शुभ गुणों से उत्कृष्ट हो गई, होती हैं और होंगी भी। इसलिये यदि पुरुष श्रेष्ठ हों, तो स्त्रियां श्रेष्ठ; दुष्ट हों, तो दुष्ट हो जाती हैं। इससे प्रथम मनुष्यों को उत्तम हो के अपनी स्त्रियों को उत्तम करना चाहिये ॥ १० ॥

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ ११ ॥ मनुः ९ । २६ ॥
उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥ १२ ॥ मनुः ९ । २७ ॥
अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥ १३ ॥ मनुः ९ । २८ ॥
यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ १४ ॥ मनु० ३ । ७७॥

अर्थ—हे पुरुषो ! सन्तानोत्पत्ति के लिये महाभाग्योदय करने-हारी पूजा के योग्य गृहाश्रम को प्रकाश करती सन्तानोत्पत्ति करने करानेहारी घरों में स्त्रियाँ हैं। वे श्री अर्थात् लक्ष्मीस्वरूप होती हैं, क्योंकि लक्ष्मी शोभा धन और स्त्रियों में कुछ भेद नहीं है ॥ ११ ॥

हे पुरुषो ! अपत्यों की उत्पत्ति, उत्पन्न का पालन करने आदि लोक-व्यवहार को नित्यप्रति जो कि गृहाश्रम का कार्य होता है, उस का निबन्ध करनेवाली प्रत्यक्ष स्त्री है ॥ १२ ॥

सन्तानोत्पत्ति, धर्म-कार्य, उत्तम सेवा और रति तथा अपना और पितरों का जितना सुख है, वह सब स्त्री ही के आधीन होता है ॥ १३ ॥

जैसे वायु के आश्रय से सब जीवों का वर्तमान सिद्ध होता है; वैसे ही गृहस्थ के आश्रय से ब्रह्मचारी वानप्रस्थ और संन्यासी अर्थात् सब आश्रमों का निर्वाह गृहस्थ के आश्रय से होता है ॥ १४ ॥

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन[1] चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ १५ ॥ मनुः ९ । ६८ ॥
स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥ १६ मनुः ९ । ६९ ॥

१, स. प्र. समु० ४ के अन्त में उद्धृत इस श्लोक में 'दानेनान्नेन' ही पाठ है। मनुः (३ । ७८) में सम्प्रति 'ज्ञानेनान्नेन' पाठ मिलता है।

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्ति हि ॥ १७ ॥ मनुः ६ । ८९ ॥

अर्थ—जिस कारण से ब्रह्मचारी वानप्रस्थ और संन्यासी इन तीन आश्रमियों को अन्न वस्त्रादि दान से नित्यप्रति गृहस्थ धारण पोषण करता है; इसलिये व्यवहार में गृहाश्रम सब से बड़ा है ॥ १५ ॥

हे स्त्री पुरुषो ! जो तुम अक्षय+मुक्ति सुख और इस संसार के सुख की इच्छा रखते हो, तो जो दुर्बलेन्द्रिय और निर्बुद्धि पुरुषों के धारण करने योग्य नहीं है, उस गृहाश्रम को नित्य प्रयत्न से धारण करो ॥ १६ ॥

वेद और स्मृति के प्रमाण से सब आश्रमों के बीच में गृहाश्रम श्रेष्ठ है; क्योंकि यही आश्रम ब्रह्मचारी आदि तीनों आश्रमों का धारण और पालन करता है ॥ १७ ॥

+ अक्षय इतना ही मात्र है कि जितना समय मुक्ति का है, उतने समय में दु.ख का संयोग जैसा विषयेन्द्रिय के संयोगजन्य सुख में होता है, वैसा नहीं होता ॥ (द० स० । द्र० सं० नि० टिप्पणी) ॥

१, मोक्ष वा स्वर्ग के लिए 'अक्षय' 'अपरिमित' 'अपुनरावृत्ति' 'न च पुनरावर्तते' आदि शब्दों का प्रयोग होता है । इन सब का तात्पर्य मोक्ष वा स्वर्ग सुख का लौकिक सुख से वैशिष्टय दर्शाने मात्र में तात्पर्य है, न कि सर्वथा नाशराहित्य द्योतन में, यह शास्त्रकारों का निश्चित मत है । यथा—

भगवान् कात्यायन ने श्रौतसूत्र २।६।१ तथा अन्यत्र भी बहुधा प्रयुक्त 'अपरिमित' शब्द का अर्थ 'अपरिमितं परिमाणाद् भूयः' [शुल्व० १।२३] (अपरिमित अर्थात् नियत प्रमाण से अधिक) सूत्र द्वारा स्वयं बताया है । आप० श्रौत २।१।१ की टीका में रुद्रदत्त ने कात्यायन के उक्त वचन को उद्धृत करके भरद्वाज मुनि का 'अपरिमितशब्दे संख्याया ऊर्ध्वमिति भरद्वाजः' वचन भी उद्धृत किया है ।

यही अक्षय शब्द का अभिप्राय है । क्षय=नष्ट होने की सामान्य सीमा से अधिक देर में नष्ट होने वाला । महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है कि 'नञ्' उत्तर पद के सादृश्य अर्थ को प्रकट करता है—नञिव युक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः' । इसलिए 'अब्राह्मणमानय' कहने पर यदि कोई मिट्टी का ढेला या पत्थर ले आवे, तो वह वक्ता के प्रतिकूल होता है—'नासौ लोष्ठमानीय कृती भवति (महा० ३।१।१२) । इस नियम के अनुसार भी तात्कालिक क्षय वा पुनरावृत्ति अथवा नियत परिमाण मात्र अंश का प्रतिषेध दर्शाया जाता है, न कि उनका अत्यन्ताभाव । 'न च पुनरावर्तते' ब्राह्मणश्रुति का भी इसी में तात्पर्य है । इस शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार ऊपर ऋषि दयानन्द ने अक्षय शब्द का जो अर्थ दर्शाया है, वह सर्वथा ठीक है ।

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ १८ ॥ मनुः ६ । ९० ॥
उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः ।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥ १९ ॥ मनुः ३ । १०४ ॥
आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् ।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीनं हीने समे समम् ॥ २० ॥ मनुः ३ । १०७ ॥
पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान् शठान् ।
हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ २१ ॥ मनुः ४ । ३० ॥

अर्थ—हे मनुष्यो ! जैसे सब बड़े बड़े नद और नदी सागर में जाकर स्थिर होते हैं; वैसे ही सब आश्रमी गृहस्थ ही को प्राप्त हो के स्थिर होते हैं ॥ १८ ॥

जो गृहस्थ हो के, पराये घर में भोजनादि की इच्छा करते हैं, तो वे बुद्धिहीन गृहस्थ अन्य से प्रतिग्रहरूप पाप कर के जन्मान्तर में अन्नादि के दाताओं के पशु बनते हैं । क्योंकि अन्य से अन्नादि ग्रहण करना अतिथियों का काम है ; गृहस्थों का नहीं ॥ १९ ॥

जब गृहस्थ के समीप अतिथि आवें, तब आसन निवास शय्या पश्चात् गमन और समीप में बैठना आदि सत्कार जैसे का वैसा अर्थात् उत्तम का उत्तम, मध्यम का मध्यम और निकृष्ट का निकृष्ट करे ॥ २० ॥

किन्तु जो पाखण्डी वेदनिन्दक नास्तिक ईश्वर वेद और धर्म को न माने, अधर्माचरण करनेहारे हिंसक शठ मिथ्याभिमानी कुतर्की और वकवृत्ति अर्थात् पराये पदार्थ हरने वा बहकाने में बगुले के समान अतिथि वेषधारी बन के आवें, उन का वचनमात्र से भी सत्कार गृहस्थ कभी न करे ॥ २१ ॥

न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथंचन ।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम् ॥२२॥ मनुः ४।११॥
सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा ।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥ २३ ॥ मनु. ४ ।१७५॥
परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥२४॥ मनुः ४ । १७६ ॥

गृहस्थ जीविका के लिये भी कभी शास्त्रविरुद्ध लोकाचार का वर्त्ताव न वर्तें; किन्तु जिस में किसी प्रकार की कुटिलता मूर्खता मिथ्यापन वा अधर्म न हो, उस वेदोक्तकर्मसम्बन्धी जीविका को करे ॥ २२ ॥

किन्तु सत्य, धर्म, आर्य अर्थात् आप्त पुरुषों के व्यवहार और शौच पवित्रता ही में सदा गृहस्थ लोग प्रवृत रहें और सत्यवाणी भोजनादि के लोभ रहित हस्तपादादि की कुचेष्टा छोड़ कर धर्म से शिष्यों और सन्तानों को उत्तम शिक्षा सदा किया करें ।। २३ ।।

यदि वहुतसा धन राज्य और अपनी कामना अधर्म से सिद्ध होती हो, तो भी अधर्म सर्वथा छोड़ देवें और वेदविरुद्ध धर्माभास जिस के करने से उत्तरकाल में दुःख और संसार की उन्नति का नाश हो, नाममात्र धर्म और कर्म कभी न किया करें ।। २४ ।।

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ।। २५ ।।
क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः ।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ।। २६ ।।
अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ।। २७ ।।

अर्थ—जो धर्म ही से पदार्थों का संचय करना है, वही सब पवित्रताओं में उतम पवित्रता है अर्थात् जो अन्याय से किसी पदार्थ का ग्रहण नहीं करता, वही पवित्र कहाता है। किन्तु जल मृत्तिकादि से जो पवित्रता होती है; वह धर्म के सदृश उत्तम नहीं है ।। २५ ।।

विद्वान् लोग क्षमा से, दुष्टकर्मकारी सत्संग और विद्यादि शुभगुणों के दान से, गुप्त पाप करनेहारे विचार व जप से तथा त्याग कर और ब्रह्मचर्य तथा सत्यभाषणादि से वेदवित् उतम विद्वान् शुद्ध होते हैं ।। २६ ।।

किन्तु जल से ऊपर के अङ्ग पवित्र होते हैं; आत्मा और मन नहीं। मन तो सत्य मानने. सत्य बोलने और सत्य करने से शुद्ध और जीवात्मा विद्या योगाभ्यास और धर्माचरण ही से पवित्र तथा बुद्धि ज्ञान से ही शुद्ध होती है; जल मृत्तिकादि से नहीं ।। २७ ।।

(प्र०) संस्कार किसको कहते हैं ?

(उ०) जिस करके शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म अर्थ काम और मोक्ष को प्राप्त हो सकते हैं और सन्तान अत्यन्त योग्य होते हैं, [उसे संस्कार कहते हैं]; इसलिये संस्कारों का विधिवत् अनुष्ठान करना सब मनुष्यों को अति उचित है। (सं० वि० पृ० १०, भू.)।।

(प्र०) संस्कार कितने हैं ?

(उ०) मनुष्यों के शरीर और आत्मा के उत्तम होने के लिये

निषेक अर्थात गर्भाधान से लेकर श्मशानान्त अर्थात् अन्त्येष्टि=मृत्यु के पश्चात् मृतक शरीर का विधिपूर्वक दाह करने पर्यन्त सोलह संस्कार होते हैं (स० वि० ४०)। किसी द्रव्य का उत्तम स्थिति में लाने का नाम संस्कार है। इस प्रकार का स्थित्यन्तर मानवीय प्राणियों पर होवे, एतदर्थ आर्य लोगों ने इन सोलह संस्कारों की योजना की है। पिता ही को सब उपदेश और संस्कार करने चाहियें (उप० म० ७ व्या०)।

शरीर का आरम्भ गर्भाधान और शरीर का अन्त भस्म कर देने तक सोलह प्रकार के उत्तम संस्कार करने होते हैं—जो मनुष्य की सम्पूर्ण आयु में फैले हुए हैं। दहन कर्म के पश्चात मनुष्य के लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता। इनका उद्देश्य गर्भसमय से मृत्यु–पर्यन्त मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा को वलवान् वनाना तथा उन पर उत्तम संस्कार व शुभ संकल्प का प्रभाव डालना है (ऋ० द० कृत, स्व० म० २७)। उनमें से प्रथम—

गर्भाधान संस्कार—गर्भाधान उसको कहते हैं कि जो गर्भ का धारण अर्थात् वीर्य का स्थापन गर्भाशय में स्थिर करना जिसमें होता है (स० वि० ४०)। इसी को निषेक अर्थात् ऋतु प्रदान या पुत्रेष्टि भी कहते हैं (उप० म० ७ व्या०)। जैसे वीज और क्षेत्र के उत्तम होने से अन्नादि पदार्थ भी उतम होते हैं, वैसे उत्तम वलवान् स्त्री पुरुषों से उत्पन्न सन्तान भी उत्तम होते हैं (स० वि० ४०)। स्त्री जब रजस्वला होकर चौथे दिन के उपरान्त पांचवे दिन स्नान कर रज रोग रहित हो, उसी दिन या जिस रात्रि में गर्भ स्थापन करने की इच्छा हो, उस दिन यथा विधि संस्कार होम करके (सं० वि० ४५) दोनों जने भोजन करें। पश्चात् रात्रि में नियत समय पर जव दोनों का शरीर आरोग्य अत्यन्त प्रसन्न और दोनों में अत्यन्त प्रेम बढ़ा हो, उस समय गर्भाधान क्रिया करनी चाहिये। गर्भाधान क्रिया का समय रात्री के गये पश्चात् प्रहर रात्री रहे तक हैं (स० विं० ५३, ५४)।

पुंसवन—उसको कहते हैं–जो पूर्व ऋतुदान देकर गर्भस्थिति ज्ञान हुए समय से दूसरे वा तीसरे महीने में संस्कार किया जाता है; जिस से पुरुषत्व अर्थात् वीर्य का लाभ होवे। यावत् बालक के जन्म हुए पश्चात् दो महीने न वीत जावें, तब तक पुरुष ब्रह्मचारी रह कर स्वप्न में भी वीर्य को नष्ट न होने देवे (स० वि० ५६, ५८)।

गर्भ के दूसरे वा तीसरे महीने में वटवृक्ष की जटा वा उसकी

कोमल पत्ती लेके स्त्री के दक्षिण नासापुट से सुंघावे और कुछ अन्य पुष्ट गुड़च-गिलोय वा ब्राह्मी औषधि स्त्री को खिलावे और स्त्री सुनियम युक्ताहार-विहार करे। विशेषकर गिलोय ब्राह्मी औषधि और सुंठी को दूध के साथ थोड़ी-थोड़ी खाया करे। अधिक शयन और अधिक भाषण न करे। अधिक खारा खट्टा तीखा कड़वा, रेचक, हरडें आदि न खावे ; सूक्ष्म [सात्त्विक पौष्टिक] आहार करे। क्रोध द्वेष लोभादि दोषों में न फंसे; चित्त को सदा प्रसन्न रक्खे। [जिससे कि गर्भ पुष्ट और सुस्थिर होवे] (सं० वि० ५६. ६१)। स्त्री पुरुष यज्ञ द्वारा प्रतिज्ञा करते हैं कि—अब से ऐसा कोई व्यवहार नहीं करेंगें, जिससे गर्भ गिरने का भय हो (संक. कर्ता)।

सीमन्तोन्नयन—उसको कहते हैं, जिस से गर्भिणी स्त्री का मन सन्तुष्ट, शरीर आरोग्य, गर्भ स्थिर उत्कृष्ट होवे और प्रतिदिन बढ़ता जावे। यह पुंसवन संस्कार के तुल्य छठे आठवें महीने में शुक्लपक्ष में जिस दिन मूल आदि पुरुष नक्षत्रों से युक्त चन्द्रमा हो, उस दिन सीमन्तोन्नयन संस्कार करें (सं० वि० ६२)।…निरोगी पुष्ट पदार्थों के सेवन से और मन के उत्साह युक्त रहने से गर्भ की स्थिति उत्तम रहे, [सुख-प्रसव हो], एतदर्थं इस संस्कार की योजना है (उप० म० ७ व्या०)। इससे गर्भस्थित शिशु की मानसिक शक्तियों का समुचित विकास होता है (स० क०)।

जातकर्म—सन्तान के प्रसव होने के पश्चात् यह संस्कार किया जाता है। उस समय विधिवत् नाड़ीछेदन व शिशु स्नान कराके सन्तति के चिरायुष्य की शुभकामना के लिये इष्ट मित्रों वा ज्ञाति पुरुषों से आशीर्वाद लिया जाता है। इसमें बालक की जिह्वा पर **ओम्** (=प्रारम्भिक सहज उच्चारण) अक्षर लिखा जाता है तथा उसके कान में **'वेदोऽसि'** बोल, सोने की शलाकासे मधुप्राशन कराया जाता है, ताकि बालक बलवान् और, ज्ञानवान् बने। सूतिका ग्रह की शुद्धि के लिये दशदिन तक भात और सरसों का सुगन्धि वर्धक होम भी किया जाता है (सं० वि० ५८, ७०, ७५)।

नामकरण—संस्कार उसको कहते हैं, जिस में जन्मे हुए बालक बालिका का जिस दिन जन्म हुआ हो, उस दिन से ग्यारहवें वा एक सौ एकवें अथवा दूसरे वर्ष के आरम्भ में जिस दिन जन्म हुआ हो, उस दिन विधिवत् सुन्दर मधुर व सार्थक नाम धरा जाता है (स० वि० ७७)।

नाम रखने का प्रयोजन केवल अन्यों से पृथक्ता दिखा, सम्बोधन करना मात्र नहीं। प्रथम प्रयोजन यह है कि माता-पिता सन्तान को जिस गुण-कर्म-स्वभाव-रुचिवाला बनाना चाहें, वैसा अर्थ देने वाला नाम रखना चाहिये। द्वितीय जो भी नाम धरें, उस का सुख से उच्चारण हो, उसमें कर्णमधुरता भी हो। निरर्थक नाम व परुषाक्षरों से युक्त नाम नहीं रखने चाहियें (सं० क०)।

निष्क्रमण—संस्कार उसको कहते हैं कि जो नव जात बालक को घर से बाहर जहां का वायु स्थान, शुद्ध सुन्दर हो, वहां प्रथम बार भ्रमण कराना होता है। चौथे महीने में जिस तिथि में बालक का जन्म हुआ हो,[1] उसमें यह संस्कार करना चाहिये। विशेष इसमें उस दिन जब रात्रि में चन्द्रमा प्रकाशमान हो, तब माता, पिता के हाथ में बालक को उत्तर की ओर शिर और दक्षिण की ओर पग कर देवे और बालक के पिता के बांई ओर आ, जल की अञ्जलि भर के चन्द्रमा के सम्मुख खड़ी रह परमात्मा की स्तुति करके जल को पृथ्वी पर छोड़ती है (स० वि० ८५, ८५)। इसका प्रयोजन यह है कि उसके शरीर की कोमलता कम होकर वह हृष्ट पुष्ट होने लगे और उसका शरीर शीतोष्ण जलवायु का अभ्यासी बने और उस के जीवन में चन्द्रमा की आह्लाद कारिता और सौम्यता आवे (सं० क०)।

अन्नप्राशन—उसको कहते हैं, जिसमें जब बालक की शक्ति [माता के दूध के अतिरिक्त] अन्न पचाने योग्य हो जावे, छठे महीने, [आठवें या दशमे महीने में अर्थात् बच्चे के दांत निकलने प्रारम्भ होनेपर प्रथम बार] अन्नप्राशन कराया जाता है। जिसको तेजस्वी बालक करना हो, वह घृतयुक्त भात अथवा दही, शहद और तीनों भात के साथ मिलाके बालक का अन्नप्राशन करावे (स० वि० ८६)।[2]

चूड़ाकर्म—इसको केशच्छेदन संस्कार भी कहते हैं। यह चूड़ाकर्म अर्थात् मुण्डन बालक के जन्म के एक वर्ष में या तीसरे वर्ष में करना चाहिये। उत्तरायण शुक्लपक्ष में जिस दिन आनन्द मंगल हो, उस दिन यह संस्कार करें (स० वि० ८९)। इसमें बालक के शिर पर शिखा रखी जाती है। कन्या हो, तो पूरा मुण्डन होता है। दांत निकलते समय अन्य विकारों के साथ चर्मज रोगों की भी सम्भावदा होती है। बालक

---

१. अथवा यथानुकूल समय पर।

२. फलों का रस भी दे सकते हैं (स० क०)।

चर्म सम्बन्धी दोषों तथा इसी प्रकार गर्मी से होने वाले अन्य रोगों से बालक बचा रहे यह संस्कार किया जाता है (स० क०)। भाव यह है कि मस्तक में उष्णता उत्पन्न न हो और उष्ण जलवायु में पसीने आदि के कारण मैल जमता है, वह दूर होवे ; इस लिये इस संस्कार की योजना है (उप० म० ७ व्या०)।

कर्णवेध—बालक के कर्ण वा नासिका के वेध के समय, उसके जन्म से तीसरे व पांचवें वर्ष में किया जाता है (स० वि० ६५)। अन्त्र वृद्धि आदि कई रोगों का उपशमन इससे होता है। कर्णवेध कर सोने की वाली वा नथ पहनाते हैं (स० क०)।

उपनयन—इसे **व्रतबन्ध** या **सावित्रीधारण** भी कहते हैं (सं. क.)। जिस गृहस्थ को, सन्तान शीघ्र विद्या बल और व्यवहार [में प्रवीण] कराने को इच्छा हो और बालक भी पढ़ने में समर्थ हुए हों, तो जिस दिन जन्म हुआ हो अथवा जिस दिन गर्भ रहा हो, उससे पांचवे वर्ष में बालक-बालिका का यज्ञोपवीत करें।—परन्तु यह बात तभी सम्भव है कि जब बालक के माता और पिता का विवाह पूर्ण ब्रह्मचर्य के पश्चात् हुआ हो। उन्हीं के ऐसे उत्तम बालक श्रेष्ठ बुद्धि और शीघ्र समर्थ पढ़ने वाले होते हैं। जब बालक का शरीर और बुद्धि ऐसी हो कि वह पढ़नें के योग्य हुआ, तभी यज्ञोपवीत करा देवे। सब ऋतुओं में उपनयन हो सकता है और इसका प्रातःकाल ही समय है (स० वि० ६७, ६८)।

उपनयन संस्कार दो बार होता है। प्रथम लड़कों [लड़कियों] का यज्ञोपवीत घर में हो और दूसरा पाठशाला में आचार्य कुल में हो।... ६ वें वर्ष के प्रारम्भ में, द्विज अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य, अपने घर में लड़कों का यज्ञोपवीत और कन्याओं का भी यथायोग्य संस्कार करके आचार्य कुल अर्थात् अपनी-अपनी पाठशाला में लड़के और लड़कियों को भेज दें।...और शूद्रादि वर्ण उपनयन किये बिना अपने सन्तानों को गुरुकुल में भेज दें।[1]—वहां आचार्य कुल में सबका उपनयन, वेदारम्भ संस्कार से पूर्व होना चाहिये।[2]

---

१. यह विषय स० प्र० के द्वितीय तृतीय समुल्लास में लिखे अनुसार लिखा गया है।

२. वर्तमान की भिन्न देशकाल परिस्थिति में इसकी योजना कैसे हो, यह विद्वज्जन विचारें।

...स्त्रियों को भी विद्या सम्पादन का अधिकार पहिले था और उसके अनुकूल उनका व्रतबन्ध संस्कार पूर्व में करते थे।...विद्वान् लोग आर्यकुलोत्पन्न बालक को कार्पास अर्थात् रुई का यज्ञोपवीत [विद्याधिकार का] विशेष चिह्न जान, धारण करने को देते थे। इसके धारण करने में बड़ी ही जवाबदारी [=उत्तरदायित्व] रहती थी।...और यदि ठीक ठीक विद्यासम्पादन न हुआ, तो चाहे ब्राह्मण ही कुल में उत्पन्न हुआ हो, तो भी उसका यज्ञोपवीत छीना जाता था और उसकी अप्रतिष्ठा होती थी। उसी तरह शूद्रादिक भी उत्तम विद्या सम्पादन कर ब्राह्मणत्व के अधिकारी होकर यज्ञोपवीत धारण करते थे। इस प्रकार की व्यवस्था प्राचीन आर्य लोगों ने कर रक्खी थी। इस कारण से सब वर्णों के पुरुषों और स्त्रियों को विद्या-सम्पादन करने के विषय में उत्साह बढ़ता रहता था (उप० मं० ७ व्या०)। इसका आशय ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना है। इस संस्कार से शिक्षा और दीक्षा का प्रारम्भ होता है (सं० क०)।

वेदारम्भ—उसको कहते हैं कि—जो गायत्री मन्त्र से लेके साङ्गोपाङ्ग+ चारों वेदों के अध्ययन करने के लिये नियम धारण करना।...जो दिन [बालक के ८वें वर्ष के प्रारम्भ में आचार्यकुल में प्रवेश के समय किये जाने वाले] उपनयन संस्कार का है, वही दिन वेदारम्भ संस्कार का है। यदि उस दिवस में न हो सके, अथवा करने की इच्छा न हो, तो दूसरे दिन करें (स० वि० १०७)। इसमें शिष्य को मेखला और दण्ड भी धारण कराये जाते हैं। (स० वि० १११)। ब्रह्मचर्य व्रताभ्यास पूर्वक विद्याध्ययन प्रारम्भ करने के लिये बालक-बालिका को गुरुकुल में प्रथनवार भेजते समय यह संस्कार किया जाता है (सं० क०)॥

जब ब्रह्मचारी ब्रह्म अर्थात् साङ्गोपाङ्ग चारों वेदों के शब्द, अर्थ और सम्बन्ध को ज्ञानपूर्वक धारण करता है, तभी प्रकाशमान होता है; उसमें सम्पूर्ण दिव्यगुण निवास करते हैं और सब विद्वान् उससे मित्रता करते हैं। वह ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य ही से प्राण, दीर्घजीवन, दुःख क्लेशों का नाश, सम्पूर्ण विद्याओं में व्यापकता,[1] उत्तम वाणी, पवित्र आत्मा, शुद्ध

+ (अंग) शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष; (उपांग) पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, साङ्ख्य और वेदान्त; (उपवेद) आ. र्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अथर्ववेद अर्थात् शिल्पशास्त्र; (ब्राह्मण) ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ; (वेद) ऋक्, यजु०, साम और अथर्व। इन सब को क्रम से पढ़ें ॥ द०स०॥ सं० विधिः टिप्पणी ॥ १. अर्थात् प्रवेश।

हृदय, परमात्मा और श्रेष्ठ प्रज्ञा को धारण करके सब मनुष्यों के हित के लिये, सब विद्याओं का प्रकाश करता है (स० वि० ११८, ११९)

समावर्त्तन—संस्कार उसको कहते हैं कि जो ब्रह्मचर्य व्रत साङ्गोपाङ्ग वेद विद्या, उत्तम शिक्षा और पदार्थ विज्ञान को पूर्ण रीति से प्राप्त होकर विवाह विधान पूर्वक गृहाश्रम को ग्रहण करने के लिये विद्यालय को छोड़ के घर की ओर आना अर्थात् जब वेदों के स्वाध्याय की समाप्ति[१] हो, तब समावर्त्तन करे (स० वि० २३३) ।[३] ब्रह्मचर्य व्रताभ्यास विद्याध्ययन समाप्त करके जब ब्रह्मचारी [कम से कम चौबीस वर्ष][१] या ब्रह्मचारिणी [कम से कम सोलह, अठारह वर्ष][२] माता-पिता के घर वापिस आते हैं, तब उपलब्ध ज्ञान द्वारा उत्तम जीवन बिताने, समाज में उसका क्रियात्मक व्यवहार करने और गृहस्थाश्रम को ग्रहण करने की स्वीकृत्यर्थ यह संस्कार किया जाता है ।[३] (सं० क०)

विवाह[४]—उसको कहते हैं जो कि पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत विद्या बल को प्राप्त तथा सब प्रकार के शुभ गुण, कर्म स्वभावों में तुल्य परस्पर प्रीतियुक्त होके, सन्तानोत्पत्ति और अपने-अपने वर्णाश्रम के अनुकूल उत्तम कर्म करने के लिये[५] स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध होता है ।

जिस दिन प्रसन्नता हो, उस दिन स्त्री का पाणिग्रहण, जो कि स्त्री सर्वथा शुभ गुणादि से उत्तम हो, करना चाहिये । सब काल में विवाह करना चाहिये । जिस अग्नि का स्थापन विवाह में होता है, उसका 'आवसथ्य' नाम है ।

---

१. अर्थात् आर्यजुष्ट शिष्टाचार, उत्तम व्यवहार आदि गुणों का सम्पादन ।

२. अर्थात् विद्याध्ययन को पूरा करके ।

३. (क) जो केवल विद्या को समाप्त तथा ब्रह्मचर्य व्रत को न समाप्त करके स्नान करता है, वह विद्यास्नातक; जो ब्रह्मचर्य व्रत को समाप्त तथा विद्या को न समाप्त करके स्नान करता है, वह व्रतस्नातक और जो विद्या तथा ब्रह्मचर्य व्रत दोनों को समाप्त करके स्नान करता है, वह विद्याव्रत स्नातक कहाता है ॥ द० स० ॥ संस्कार विधि टिप्पणी ॥
(ख) समावर्त्तन के समय जो संकल्प स्नातक ब्रह्मचारी द्वारा किया जाता है, वह ऋषि दयानन्द कृत सं० विधि के पृ० १४० पर द्र० है ।

४. इस चतुर्थ प्रवाह में गृहस्थाश्रम का विषयक ही लिखा है ।

५. तथा रतिसुख प्राप्ति के लिये ।

वधू और वर की आयु, कुल, वास्तव स्थान, शरीर और स्वभाव की परीक्षा अवश्य करें, अर्थात् दोनों सज्ञान और विवाह की इच्छा करने वाले हों। स्त्री की आयु से वर की आयु न्यून से न्यून ड्यौढ़ी और अधिक से अधिक दूनी होवे। परस्पर कुल की परीक्षा भी करनी चाहिये।

जैसे ब्रह्मचर्य में कन्या का ब्रह्मचर्य वेदोक्त है, वैसे ही सब पुरुषों को ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़ पूर्ण जवान हो, परस्पर परीक्षा करके, जिससे जिसकी विवाह करने में पूर्ण प्रीति हो, उसी से विवाह होना अत्युत्तम है। जो कोई युवावस्था में विवाह न कराके, बाल्यावस्था में अनिच्छित अयोग्य वर कन्या का विवाह करावेंगे; वे वेदोक्त ईश्वराज्ञा के विरोधी होकर महादुःख सागर में क्यों कर न डूबेंगे और जो पूर्वोक्त विधि से विवाह करते कराते हैं, वे ईश्वराज्ञा के अनुकूल होने से पूर्ण सुख को प्राप्त होते हैं।

यदि माता-पिता कन्या का विवाह करना चाहें, तो अति उत्कृष्ट शुभ गुण कर्म स्वभाववाला, कन्या के सदृश रूपलावण्यादि गुणयुक्त वर ही को, चाहे वह कन्या माता की छः पीढ़ी के भीतर भी हो, तथापि उसी को क़न्या देना, अन्य को कभी न देना; जिससे दोनों अति प्रसन्न होकर गृहाश्रम की उन्नति और उत्तम सन्तानों की उत्पत्ति करें। चाहे मरण-पर्यन्त कन्या पिता के घर में विना विवाह के बैठी भी रहे; परन्तु गुणहीन असदृश, दुष्ट पुरुष के साथ कन्या का विवाह कभी न करे। और वर कन्या भी अपने आप स्वसदृश के साथ ही विवाह करें।

जब कन्या विवाह करने की इच्छा करे, तब रजस्वला होने के दिन से तीन वर्ष को छोड़ के चौथे वर्ष में विवाह करे।[1]

इन दिनों मुहूर्त्तादिक के विषय में जो आडम्बर मचा रक्खा है, यह केवल बलात्कार (जबर्दस्ती) है। व्यर्थ ही कालक्षेप न हो और नियमित समय पर सब वार्ता [अर्थात् विवाह सम्बन्धी कृत्य पूरा] हो, इसलिये काल नियम के विषय में ध्यान देना अत्यावश्यक है, परन्तु उसी के शास्त्रार्थ [अर्थात् वाद विवाद] से व्यर्थ टांय टांय करना अनुचित है। [वर्त्तमान युग के तुल्य] एक बाढ़ आई और मनुष्यगण आ घुसा और अमुक ग्रह नहीं मिला और फलानी राशि टेढ़ी हुई, इत्यादि [पञ्चाङ्गों के] गपोढ़े उन दिनों में नहीं थे (उप० मं० ७ व्या०)। इसी प्रकार इन

१. यह विवाह विषयक लेख ऋषि दयानन्द कृत सं० विधि के पृ० १४०, १४१, १४१, १४७ में उपलब्ध है।

सब प्राचीन आर्य लोगों में स्वयम्बर होता था अर्थात् कन्या स्वयं अपना वर पसन्द करती थी)। इस समय के अनुसार [अनमेल] विवाह नहीं होता था। मारवाड़ी लोगों ने इस पर और विशेषता की है कि वे पुत्र और पुत्री का उसी समय नाता कर देते हैं, जब कि वे दोनों गर्भ में ही होते हैं। यह कैसी फ़जीहती की बात है। विवाह के समय पर धर्म अर्थ और काम के परस्पर (विधि पूर्वक) निर्वाह के लिये [तथा धर्मानुकुल व्यवहार करके मोक्ष साधन][1] के लिये निर्णय होता था। वह निर्णय बिना पुत्र और पुत्री के वर्तमान=उत्पन्न हुए कैसे हो सकता है? प्राचीन आर्यों में यह दृढ़ रीति थी कि प्रत्येक मनुष्य विद्याभ्यास करे। जब तक विद्या के भूषण से वे भूषित नहीं होते थे, तब तक पुरुष स्त्री को विवाह करने की आज्ञा राजसभा से नहीं मिलती थी (उप० मं० व्या० ११)।

वानप्रस्थ—संस्कार उसको कहते हैं, जो श्रद्धापूर्वक विधिवत् ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति कर, समावर्तन संस्कार कर, यथावत् जितेन्द्रिय, जितात्मा हो, विवाह से सन्तानोत्पत्ति करके, पूर्ण ब्रह्मचर्य ग्रहण करा पुत्र का भी विवाह करके, जब पुत्र का भी एक पुत्र हो जावे, तब गृहस्थ से सम्बन्ध तोड वन में वास करना (स० वि० २७१, २७२)।

गृहस्थ लोग जब अपने देह का चमड़ा ढीला और श्वेत केश होते हुए देखें और जब पुत्र का भी पुत्र हो जावे, तब अपनी स्त्री, भाई बन्धु, पुत्र, पुत्रवधू आदि को गृहाश्रम के अनुष्ठान की यथावत् शिक्षा करके वन की ओर यात्रा की तय्यारी करें। यदि स्त्री भी चले, तो साथ ले जावें। नहीं तो ज्येष्ठ पुत्र को सौंप जावे कि इसकी सेवा यथावत् सदा किया करना और पत्नी को शिक्षा कर जावे कि तू सदा पुत्र आदि को धर्म मार्ग में चलने के लिये और अधर्म से हटाने के लिये शिक्षा करती रहना। वानप्रस्थाश्रम का समय पचास वर्ष के उपरान्त है (स० वि० २७२, २७३)। बानप्रस्थाश्रम में धर्माधर्म और सत्यासत्य के विषय में निर्णय होता रहता था। विचार के लिये समय मिले और (सब पदार्थों के) गुण-दोष का निर्णय करने में आवे, इसलिये बानप्रस्थाश्रम की योजना है (उप० मं० व्या० ७)। संन्यासाश्रम की तैयारी के लिये यह संस्कार है (सं० क०)।

संन्यास—उसको कहते हैं कि जो मोहादि आवरण पक्षपात छोड़

---

१. ऋषि दयानन्द विवाह का उद्देश्य पुरुषार्थ चतुष्टय को सिद्ध करना मानते हैं (द्र० स० वि० १२०, २१४); केवल त्रिवर्ग साधन नहीं।

के विरक्त होकर सब पृथ्वी पर परोपकार्थ विचरना है।

प्रथम प्रकार—ब्रह्मचर्य पूरा करके गृहस्थ, और गृहस्थ होके वनस्थ, वनस्थ हो के संन्यासी होवे, यह **क्रम-संन्यास** है अर्थात् अनुक्रम से आश्रमों का अनुष्ठान करता-करता वृद्धावस्था में जो संन्यास लेना है, उसी को **क्रम-संन्यास** कहते हैं।

द्वितीय प्रकार—जिस दिन दृढ़ वैराग्य प्राप्त होवे, उसी दिन चाहे वानप्रस्थ का समय पूरा भी न हुआ हो, अथवा वानप्रस्थ आश्रम का अनुष्ठान न करके गृहाश्रम से ही संन्यासाश्रम ग्रहण करे; क्योंकि **संन्यास में दृढ़ वैराग्य और यथार्थ ज्ञान का होना ही मुख्य कारण है।**

तृतीय प्रकार—यदि पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान विज्ञान को प्राप्त होकर विषयासक्ति की इच्छा आत्मा से यथावत् उठ जावे; पक्षपात रहित होकर सब के उपकार करने की इच्छा होवे और जिसको दृढ़ निश्चय हो जावे कि मैं मरण पर्यन्त यथावत् संन्यास धर्म का निर्वाह कर सकूंगा; तो वह न गृहाश्रम करे, न वानप्रस्थाश्रम, किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण कर ही के सीधा संन्यासाश्रम को ग्रहण कर लेवे। (सं० वि० २७६, २७७)[1]।

अन्त्येष्टि कर्म—उसको कहते हैं कि जो शरीर के अन्त का संस्कार है, जिसके आगे उस शरीर के लिये कोई भी अन्य संस्कार नहीं है। इसी को नरमेध, पुरुषमेध, नरयाग, पुरुषयाग भी कहते हैं।[2]

इस शरीर का संस्कार (भस्मान्तम्) अर्थात् भस्म करने पर्यन्त है॥

शरीर का आरम्भ ऋतुदान से और अन्त श्मशान अर्थात् मृतक कर्म है॥

(प्रश्न) जो गरुड़पुराण आदि में दशगात्र, एकादशाह, द्वादशाह, सपिण्डी कर्म मासिक वार्षिक गयाश्राद्ध आदि क्रिया लिखी हैं, क्या ये सब असत्य हैं।

(उत्तर) हाँ! अवश्य मिथ्या हैं क्योंकि वेदों में इन कर्मों का विधान नहीं है; इसलिये अकर्त्तव्य हैं और मृतक जीव का सम्बन्ध पूर्व सम्बन्धियों के साथ कुछ भी नहीं रहता और न इन जीते हुए सम्बन्धियों का, मृत जीव से वह जीव अपने कर्म के अनुसार जन्म पाता है।

---

१. वानप्रस्थ संन्यास पर पञ्चम प्रवाह में विशेष लिखा जावेगा।

२. अन्त्येष्टि विषयक लेख संस्कारविधि तथा उपदेश मञ्जरी में है।

(प्रश्न) मरण के पीछे जीव कहां जाता है ?

(उत्तर) यमालय अर्थात् वाय्वालय को।

(प्रश्न) वाय्वालय किसको कहते हैं ?

(उत्तर) अन्तरिक्ष को जो कि यह पोल है।

(प्रश्न) क्या गरुड़पुराण आदि में जो यमलोक लिखा है, वह झूठा है ? यदि मिथ्या है, पुनः संसार क्यों मानता है ?

(उत्तर) वेद के अज्ञान और उपदेश के न होने से। जो यम की कथा वहाँ लिख रक्खी है, वह सब मिथ्या है। क्योंकि यम ऋतु, अग्नि, वायु, विद्युत्, सूर्य आदि नाना पदार्थों और परमेश्वर का भी नाम है। इसलिये पुराण आदि की सब कल्पना झूठी है।

शरीर भस्म हो जाने के पश्चात् जब तीसरा दिन हो, तब मृतक का कोई सम्बन्धी श्मशान में जाकर चिता से अस्थि उठा के उस श्मशान-भूमि में कहीं पृथक् रख देवे। बस इसके आगे मृतक के लिये कुछ भी कर्म कर्तव्य नहीं है। क्योंकि पूर्व **भस्मान्तँ शरीरम्** (४०।१५) यजुर्वेद के मन्त्र के प्रमाण से स्पष्ट हो चुका कि दाहकर्म और अस्थिसंचयन से पृथक् मृतक के लिये दूसरा कोई भी कर्म कर्त्तव्य नहीं है। हां ! यदि वह सम्पन्न हो, तो अपने जीतेजी स्वयं वा मरेपीछे उनके सम्बन्धी वेदविद्या वेदोक्त-धर्म का प्रचार अनाथपालन वेदोक्त धर्मोपदेश प्रवृत्ति के लिये चाहे जितना धन प्रदान करें; बहुत अच्छी बात है (सं. वि. ३२०, ३२१)। मृतक पितरों के नाम से प्रचलित रीति से श्राद्ध में ब्राह्मणों को जिमा पितरों का तर्पण करना वेद, युक्ति और प्रमाण विरुद्ध होने से अमान्य है (स. क.)।

आजकल हमारे देश में अन्त्येष्टि के तीन प्रकार जारी हैं। कोई जलाते हैं, कोई जंगल में शव को डाल देते हैं और तीसरे जलसमाधि देते हैं।

प्राचीन आर्य लोगों के अनुसार अन्त्येष्टि एक यज्ञ संस्कार है। उसमें दहन का प्रकार मुख्य है। मुसलमानों, ईसाइयों की ऐसी शङ्का कि जलाना निष्ठुरता है, [ठीक नहीं। सब को] विचार करना चाहिये कि मुर्दे को जमीन में गाढ़ने से [भूमि अशुद्ध दूषित हो जाने से नाना] रोगों की उत्पत्ति होती है। ऐसी शङ्का कि जल में मृतदेह डालने से मच्छियाँ उसे खाती हैं। क्या यह उपकार नहीं है ? उन्हें इसका भी तो विचार करना चाहिये कि जल बिगड़ता है।

गंगा सदश महान् नदी में अस्थियाँ लेजाकर बहुत से लोग डालते

हैं [और इसमें पुण्य समझते हैं।] यह कितना भारी भोलापन है? मरे हुए प्राणी की देह मृत्तिका है। उसे गंगा में डालने से क्या लाभ होगा? बन में फेंकने से भी दुर्गन्धि उत्पन्न होकर, रोग उत्पन्न होता है, इसे कहने की कोई आवश्यकता नहीं। इस कारण से प्राचीन आर्य लोगों ने जो दहन विधि को ही मुख्य माना है, यह ठीक है।

आजकल अन्त्येष्टि संस्कार यथाविधि नहीं होता। [मृतकभोज, ब्राह्मणों को गोदान आदि नामों से] अलवत्ता कट्टहाओं [अर्थात् कड़ाह-पूरी खाने वाले पेटू स्वार्थी पोप पण्डितों] की चैन उड़ती है। सो यह जवर्दस्ती [अर्थात् बलात्कार मनमानी करना] है। सबों को उचित है कि फिर इन संस्कारों के विषय को सुधारें, जिससे सब जगत् का कल्याण हो (उप. मं. ७ व्या.)।

(प्रश्न) विवाह निकटवासियों से अथवा दूरवासियों से करना चाहिये?

(उत्तर) जैसा ऊपर लिखा है कि जितना दूरदेश में विवाह होगा, उतना ही उनको अधिक लाभ होगा।

(प्रश्न) अपने गोत्र वा भाई बहिनों का परस्पर विवाह क्यों नहीं होता?

(उत्तर) एक दोष जैसा उपर लिखा है कि इनके विवाह होने में प्रीति कभी नहीं होती; क्योंकि जितनी प्रीति परोक्ष पदार्थ में होती है, उतनी प्रत्यक्ष में नहीं। और बाल्यावस्था के गुण दोष भी विदित रहते हैं तथा भयादि भी अधिक नहीं रहते। दूसरा— जब तक दूरस्थ एक दूसरे कुल के साथ सम्बन्ध नहीं होता, तब तक शरीर आदि की पुष्टि भी पूर्ण नहीं होती। तीसरा—दूर सम्बन्ध होने से परस्पर प्रीति उन्नति ऐश्वर्य बढ़ता है, निकट से नहीं।

अब आगे गृहस्थों के लिये नियत कर्म, सामान्य आचार-व्यवहार आदि का विषय लिखते हैं (सं० क०)।

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या सत्यं शौचं सुभाषितम्।
विविधानि च शिल्पानि[1] समादेयानि सर्वतः॥ मनु० २।२४०॥

उत्तम स्त्री, नाना प्रकार के रत्न, विद्या, सत्य, पवित्रता, श्रेष्ठ-

---

१. इसी कारण श्री स्वामी जी जर्मनी आदि देशों से शिल्प सीखने के लिये आर्य पुरुषों को वहां भेजने के लिये प्रयत्नशील थे। द्रष्टव्य ऋ. द. का पत्र बिज्ञापन, ग्रन्थ पृष्ठ २१५, २१६. २३१, २३७, २५९। द्वि. सं. रालाकट्र।

भाषण और नाना प्रकार की शिल्पविद्या अर्थात् कारीगरी सब देश तथा सब मनुष्यों से ग्रहण करलेने चाहियें।

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥१॥ मनु० ४।१३८॥
भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद् भद्रमित्येव वा वदेत्।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात् केनचित् सह ॥२॥ मनु० ४।१३९॥

सदा प्रिय सत्य, दूसरे का हितकारक बोले। अप्रिय सत्य अर्थात् काणे को काणा न वोले। अनृत अर्थात् झूठ दूसरे को प्रसन्न करने के अर्थ भी कभी न वोले। जो-जो दूसरे का हितकारक हो और बुरा भी माने, तथापि कहे विना न रहे। यही सनातन धर्म है ॥१॥

सदा भद्र अर्थात् सब के हितकारी वचन वोला करे। शुष्क वैर अर्थात् विना अपराध किसी के साथ विरोध वा विवाद न करे ॥२॥

पुरुषा बहवो राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥
महा० उद्योगपर्व विदुरनीति० ३७।१५॥

विदुर जी कहते हैं कि हे धृतराष्ट्र! इस संसार में दूसरे को निरन्तर प्रसन्न करने के लिये प्रिय बोलने वाले प्रशंसक लोग तो बहुत हैं। परन्तु सुनने में अप्रिय विदित हो, और वह कल्याण करने वाला वचन हो, उसका कहने और सुनने वाला पुरुष दुर्लभ है।

क्योंकि सत्पुरुषों को योग्य अर्थात् उचित है कि मुख के सामने दूसरे का दोष कहना और दूसरे से अपना दोष सुनना; परोक्ष में दूसरे के गुण सदा कहना। और दुष्टों की यही रीति है कि सम्मुख में गुण कहना और परोक्ष में दोषों का प्रकाश करना। जब तक मनुष्य दूसरे से अपने दोष नहीं सुनता वा कहने वाला नहीं कहता, तब तक मनुष्य दोषों से छूट कर गुणी नहीं हो सकता।

कभी किसी की निन्दा न करे। जैसे—**'गुणेषु दोषारोपणमसूया, अर्थात् दोषेषु गुणारोपणमप्यसूया'; 'गुणेषु गुणारोपणं, दोषेषु दोषारोपणं च स्तुतिः'** जो गुणों में दोष, दोषों में गुण लगाना है वह **'निन्दा'**, और गुणों में गुण, दोषों में दोषों का कथन करना ही वस्तुतः **'स्तुति'** कहाती है। अर्थात् मिथ्या भाषण का नाम **'निन्दा'** और सत्य भाषण का नाम **'स्तुति'** है।

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ।।१।। मनु० ४।१६।।
यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ।।२।। मनु० ४।२०।।

गृहस्थ, जो शीघ्र बुद्धि, धन और हित की वृद्धि करने हारे शास्त्र और वेद हैं, उनको नित्य सुनें और सुनावें। जो ब्रह्मचर्य्याश्रम में पढ़े हों, उनको स्त्री-पुरुष नित्य विचारा और पढ़ाया करें ।।१।।

क्योंकि जैसे-जैसे मनुष्य शास्त्रों को यथाबत् जानता है, वैसे-वैसे उस विद्या का विज्ञान वढ़ता जाता, और उसी में रुचि बढ़ती रहती है अर्थात् ज्ञानचर्चा में आनन्द आने लगता है ।। २ ।।

(प्रश्न) गृहस्थों के योग्य नित्यकर्म कितने और कौनसे होते हैं ?[1]

(उत्तर)—ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा ।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ।।१।।मनु०४।२१।।
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञश्च तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ।।२।।मनु०३।७०।।

स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान् यथाविधि ।
पितृन् श्राद्धैश्च नृनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ।। ।।३।। मनु० ३।८१।।

अर्थ—गृहस्थ को योग्य है कि वह (ऋषियज्ञ) जिसे ब्रह्मयज्ञ भी कहते हैं, अर्थात् वेदों का पढ़ना-पढ़ाना, सन्ध्योपासन, योगाभ्यास, (देवयज्ञ) विद्वानों का संग, पवित्रता, दिव्य गुणों का धारण, होम, दातृत्व=दान, विद्या की उन्नति करना, (भूतयज्ञ) बलि वैश्वदेव यज्ञ, (नृयज्ञ) अतिथि-सत्कार और (पितृयज्ञ) जीवित पितरों माता-पिता आदि की सेवा करना रूप पांच महायज्ञ यथाशक्ति कभी न छोड़े। ये नित्य कर्त्तव्य कर्म हैं।

वेदादि शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, सन्ध्योपासन **'ब्रह्मयज्ञ'**; वृद्ध माता-पिता व ज्ञानियों की अन्नादि द्वारा सेवा करना **'पितृयज्ञ'**; प्रातः सायं होमकरना **'दैवयज्ञ'**; कुत्तों कङ्गालों कुष्टी आदि रोगियों काक आदि पशुओं और चींटी आदि कृमियों को बलि—भाग देना **'भूतयज्ञ'** अथवा **'बलि वैश्वदेवयज्ञ'** और अतिथियों का पूजन-सत्कार करना **'नृयज्ञ'** वा **'अतिथियज्ञ'** कहाता है।

गृहस्थ नित्य-प्रति वेदादि शास्त्रों के स्वाध्याय से ऋषियों की

1. प्रश्नोत्तर का रूप सं० कर्त्ता ने बनाया है।

अर्चना-सेवा-सत्कार करें; अग्निहोत्र से देवों, विद्वानों वा वायु जल वनस्पति आदि दिव्यगुण वाले भौतिक देवों की यथाविधि पुष्टि करें; श्राद्ध अर्थात् श्रद्धापूर्वक सत्कार-सेवा-शुश्रूषा से पितरों को तृप्त करें; अन्नादि से अतिथियों की अर्चना और वलि कर्म से दीन दुःखी व उपकारी पशु-पक्षी की सेवा सहायता करें।

इनमें से प्रथम दो यज्ञ, ब्रह्मचर्य प्रकरण अर्थात्, तृतीय प्रवाह में लिख आए हैं। वे अर्थात् एक **'ब्रह्मयज्ञ'**—वेदादिशास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, सन्ध्योपासन, योगाभ्यास। **दूसरा—देवयज्ञ**, विद्वानों का संग, सेवा, पवित्रता, दिव्य गुणों का धारण, होम, दातृत्व, विद्या की उन्नति करना है। ये दोनों यज्ञ सायं प्रातः करने होते हैं—

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता ॥१॥
प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता ॥२॥
अ० कां० १९। सूक्त ५५। मं० ३, ४॥

तस्मादहोरात्रस्य संयोगे ब्राह्मणः सन्ध्यामुपासीत।
उद्यन्तमस्तं यान्तमादित्यमभिध्यायन् ॥ षड्विंश ब्राह्मणे ४।५॥

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यस्तु पश्चिमाम्।
स साधुभिर्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥ मनु० २।१०३॥

जो सन्ध्या-सन्ध्या काल में होम होता है, वह हुत द्रव्य प्रातः-काल तक वायु-शुद्धि द्वारा सुखकारी होता है॥१॥ और जो अग्नि में प्रातः-प्रातः काल में होम किया जाता है, वह हुत द्रव्य सायंकाल-पर्यन्त वायु के शुद्धि-द्वारा वल-वुद्धि और आरोग्यकारक होता है॥ २॥ इसलिये सूर्योदय और अस्त समय में परमेश्वर का ध्यान और अग्निहोत्र अवश्य करें। और जो ये दोनों काम सायं-प्रातःकाल न करे, उसको सज्जन लोग शूद्रवत् समझें।

प्रश्न—त्रिकाल सन्ध्या क्यों नहीं करनी चाहिये?

उत्तर—तीन समय में सन्धि नहीं होती। प्रकाश और अन्धकार की सन्धि भी सायं-प्रातः दो ही वेला में होती है। जो इसको न मानकर मध्याह्नकाल में तीसरी सन्ध्या माने, वह मध्यरात्रि में भी सन्ध्योपासन क्यों न करे? जो मध्यरात्रि में भी करना चाहे, तो प्रहर-प्रहर, घड़ी-घड़ी, पल-पल और क्षण-क्षण की भी सन्धि होती हैं, उनमें भी सन्ध्योपासन किया करे। जो ऐसा भी करना चाहे, तो हो ही नहीं सकता। और किसी शास्त्र का मध्याह्न-सन्ध्या में प्रमाण भी नहीं। इसलिये दोनों कालों में

सन्ध्या और अग्निहोत्र करना समुचित है, तीसरे काल में नहीं। और जो तीन काल होते हैं, वे भूत भविष्यत् और वर्तमान के भेद से हैं, सन्ध्योपासन के काल भेद से नहीं।

तीसरा—पितृयज्ञ, अर्थात् जिसमें देव जो विद्वान्, ऋषि जो पढ़ने-पढ़ानेहारे, पितर [जो] माता-पिता आदि वृद्ध ज्ञानी और परम योगियों की सेवा करनी। पितृयज्ञ के दो भेद हैं—एक **श्राद्ध,** और दूसरा **तर्पण**। श्राद्ध अर्थात् 'श्रत्' सत्य का नाम है, **'श्रत्सत्यं दधाति यया क्रियया सा श्रद्धा, श्रद्धया यत् क्रियते तच्छ्राद्धम्'** जिस क्रिया से सत्य का ग्रहण किया जाय उसको 'श्रद्धा' और जो श्रद्धा से कर्म किया जाय उसका नाम **'श्राद्ध'** है। और **'तृप्यन्ति तर्पयन्ति येन पितॄन् तत्तर्पणम्'** जिस-जिस कर्म से तृप्त अर्थात् विद्यमान माता-पितादि पितर प्रसन्न हों और प्रसन्न किये जायें, उसका नाम **'तर्पण'** है। परन्तु यह जीवित पितरों के लिये है; मृतकों के लिये नहीं।[1]

यः पाति स पिता—जो सन्तानों का अन्न और सत्कार से रक्षक वा जनक हो, वह 'पिता'। **पितुः पिता पितामहः, पितामहस्य पिता प्रपितामहः**—जो पिता का पिता हो, वह 'पितामह', और जो पितामह का पिता हो, वह 'प्रपितामह'। **या मानयति सा माता**—जो अन्न और सत्कारों से सन्तानों का मान्य करे, वह 'माता'। **या पितुर्माता सा पितामही, पितामहस्य माता प्रपितामही**—जो पिता की माता हो, वह 'पितामही', और [जो] पितामह की माता हो, वह 'प्रपितामही'। अपनी स्त्री तथा भगिनी सम्बन्धी, और एक गोत्र के तथा अन्य कोई भद्रपुरुष वा वृद्ध हों, उन सबको अत्यन्त श्रद्धा से उत्तम अन्न वस्त्र सुन्दर यान आदि देकर अच्छे प्रकार जो तृप्त करना, अर्थात् जिस-जिस कर्म से उनका आत्मा तृप्त और शरीर स्वस्थ रहे, उस-उस कर्म से प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा करनी, वह **श्राद्ध** और **तर्पण** कहाता है।

चौथा—वैश्वदेव, अर्थात् जब भोजन सिद्ध हो, तब जो कुछ भोजनार्थ बने, उसमें से खट्टा लवणान्न और क्षार को छोड़ के घृतमिष्टान्न युक्त अन्न लेकर चूल्हे से अग्नि अलग धर यथाविधि उसी पाकाग्नि में मन्त्रों से

---

१. पितर किन्हें कहते हैं, इसका विशेष विवेचन ऋषि दयानन्द कृत सत्यार्थ प्रकाश के ४थे समु., संस्कारविधि, पंचमहायज्ञविधि तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में द्रष्टव्य है। लेखक रचित **'पंच महायज्ञ प्रदीप'** भी द्रष्टव्य है।

आहुति दे और भाग करे, पश्चात् थाली अथवा भूमि में पत्ता रख के पूर्व दिशादि क्रमानुसार सब का भाग रक्खे ।[1]

इन भागों को जो कोई अतिथि हो तो उसको जिमा देवे, अथवा अग्नि में छोड़ देवे । इसके अनन्तर लवणान्न अर्थात् दाल, भात, शाक, रोटी आदि लेकर छः भाग भूमि में धरे । पश्चात् किसी दुःखी बुभुक्षित प्राणी अथवा कुत्ते कौवे आदि को दे देवे ।

हवन करने का प्रयोजन यह है कि—पाकशालास्थ वायु का शुद्ध होना, और जो अज्ञात अदृष्ट जीवों की हत्या होती है, उसका प्रत्युपकार कर देना ।

अब **पांचवीं-अतिथि-सेवा, 'अतिथि'** उसको कहते हैं कि जिसकी कोई तिथि निश्चित न हो, अर्थात् अकस्मात् धार्मिक, सत्योपदेशक, सब के उपकारार्थ सर्वत्र घूमने वाला पूर्ण विद्वान्, परमयोगी, संन्यासी गृहस्थ के यहां आवे, तो उसको प्रथम पाद्य अर्घ और आचमनीय तीन प्रकार का जल देकर, पश्चात् आसन पर सत्कारपूर्वक बिठाल कर, खान-पान आदि उत्तमोत्तम पदार्थों से सेवा-शुश्रूषा करके उनको प्रसन्न करे । पश्चात् सत्संग कर उनसे ज्ञान-विज्ञान आदि, जिनसे धर्म अर्थ काम और मोक्ष की प्राप्ति होवे ऐसे-ऐसे उपदेशों का श्रवण करे । और अपना चाल-चलन भी उनके सदुपदेशानुसार रक्खे ।

जब तक उत्तम अतिथि जगत् में नहीं होते, तब तक उन्नति भी नहीं होती । उनके सब देशों में घूमने और सत्योपदेश करने से पाखण्ड की वृद्धि नहीं होती । और सर्वत्र गृहस्थों को सहज से सत्य विज्ञान की प्राप्ति होती रहती है । और मनुष्यमात्र में एक ही धर्म स्थिर रहता है । बिना अतिथियों के सन्देह-निवृत्ति नहीं होती । सन्देह निवृत्ति के बिना दृढ़ निश्चय भी नहीं होता । निश्चय के बिना सुख कहां ? इसलिये विद्वान् सज्जन परोपकारी अतिथि की सेवा करना गृहस्थ का नित्यकर्म है ।

समय पाके गृहस्थ और राजादि भी अतिथिवत् सत्कार करने योग्य होते हैं । परन्तु—

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालवृत्तिकान् शठान् ।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ।। मनु० ४।३० ।।

१, इनकी विधि ऋषि दयानन्द कृत संस्कारविधि तथा पंचमहायज्ञ विधि में द्रष्टव्य है तथा लेखक रचित पंचमहायज्ञ प्रदीप व नित्य कर्म प्रदीप देखें ।

(पाषंडी) अर्थात् वेदनिन्दक, वेदविरुद्ध आचरण करनेहारे, (विकर्मस्थ) जो वेदविरुद्ध कर्म का कर्त्ता, मिथ्या भाषणादियुक्त, (वैडालवृत्तिक) जैसे विडाला छिप और स्थिर रहकर ताकता-ताकता झपट से मूषे आदि प्राणियों को मार अपना पेट भरता है, वैसे जनों का नाम वैडालवृत्तिक, (शठ) अर्थात् हठी दुराग्रही अभिमानी, आप जानें नहीं औरों का कहा मानें नहीं, (हैतुक) कुतर्की, व्यर्थ वकने वाले, जैसे कि आजकल के वेदान्ती वकते हैं—हम ब्रह्म और जगत् मिथ्या है, वेदादिशास्त्र और ईश्वर भी कल्पित है, इत्यादि गपोड़ा[२] हांकनेवाले, (बकवृत्ति) जैसे वक एक पैर उठा ध्यानावस्थित के समान होकर झट मच्छी के प्राण हरके अपना स्वार्थ सिद्ध करता है, वैसे आजकल के वैरागी और खाखी आदि हठी दुराग्रही वेद-विरोधी हैं, ऐसों का सत्कार वाणीमात्र से भी न करना चाहिये। क्योंकि इनका सत्कार करने से ये वृद्धि को पाकर संसार को अधर्मयुक्त करते हैं। आप तो अवनति[१] के काम करते ही हैं, परन्तु साथ में सेवक को भी अविद्यारूपी महासागर में डुबा देते हैं।

इन पाँच **महायज्ञों का फल** यह है कि—**'ब्रह्मयज्ञ'** के करने से विद्या, शिक्षा, धर्म, सभ्यता आदि शुभ गुणों की वृद्धि। **'अग्निहोत्र'** से वायु, वृष्टि, जल की शुद्धि होकर वृष्टि द्वारा संसार को सुख प्राप्त होना, अर्थात् शुद्ध वायु का श्वासा-स्पर्श[२] खान-पान से आरोग्य बुद्धि बल पराक्रम बढ़के, धर्म अर्थ काम और मोक्ष का अनुष्ठान पूरा होना, इसलिये इसको 'देवयज्ञ' कहते हैं। **'पितृयज्ञ'** से प्रथम जब माता-पिता और ज्ञानी महात्माओं की सेवा करेगा, तब उसका ज्ञान बढ़ेगा। उससे सत्यासत्य का निर्णय कर सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करके सुखी रहेगा। दूसरा – कृतज्ञता, अर्थात् जैसी सेवा माता-पिता और आचार्य ने सन्तान और शिष्यों की की है, उसका वदला देना उचित ही है। **'बलिवैश्वदेव'** का प्रयोजन यह है कि पाकशालास्थ वायु का शुद्ध होना और जो अज्ञात अदृष्ट जीवों की हत्या होती है, उसका प्रत्युत्तर कर देना (स.प्र.) तथा सब जीव हमारे मित्र और हम सव जीवों के मित्र रहें, ऐसा जान कर हम परस्पर सदा उपकार करते रहें ऐसी भावना की वृद्धि।

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्माथौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च ॥ मनु० ४। ९२ ॥

---

१. अर्थात् पतन। २. श्वासा—नासिका से उसका स्पर्श—श्वास लेना ॥

रात्रि के चौथे प्रहर अथवा चार घड़ी रात से उठे। आवश्यक कार्य करके धर्म और अर्थ, शरीर के रोग तथा उन रोगों का निदान तथा वेद-तत्वार्थ का चिन्तन करे और परमात्मा का ध्यान करे। भाव[1] यह है कि सदा स्त्री पुरुष दस बजे शयन और ब्राह्ममुहूर्त्त अर्थात् प्रातः चार बजे उठ के प्रथम हृदय में परमेश्वर का चिन्तन करके धर्म और अर्थ का विचार किया करें और धर्म और अर्थ के अनुष्ठान वा उद्योग करने में यदि कभी पीड़ा भी हो तथापि धर्मयुक्त पुरुषार्थ को कभी न छोड़ें किन्तु सदा शरीर और आत्मा की रक्षा के लिये युक्त आहार-विहार औषध सेवन सुपथ्य आदि से निरन्तर उद्योग करके व्यावहारिक और पारमार्थिक कर्त्तव्य कर्म की सिद्धि के लिये ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना भी किया करें कि जिस परमेश्वर की कृपादृष्टि और सहाय से महा कठिन कार्य भी सुगमता से सिद्ध हो सकें।[2] कभी अधर्म का आचरण न करे। क्योंकि—

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्त्तमानस्तु कर्त्तुर्मूलानि कृन्तति॥ मनु० ४। १७२॥

किया हुआ अधर्म निष्फल कभी नहीं होता। परन्तु जिस समय अधर्म करता है, उसी समय फ़ल भी नहीं होता। इसलिये अज्ञानी लोग अधर्म से नहीं डरते। तथापि निश्चय जानो कि वह अधर्माचरण धीरे-धीरे तुम्हारे सुख के मूलों को काटता चला जाता है। इस क्रम से—

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति॥ मनु० ४। १७४॥

अधर्मात्मा मनुष्य धर्म की मर्यादा छोड़ (जैसा तालाब के बन्ध को तोड़ जल चारों ओर फैल जाता है, वैसे) मिथ्या भाषण, कपट, पाखण्ड अर्थात् रक्षा करनेवाले वेदों का खण्डन, और विश्वासघातादि कर्मों से पराये पदार्थों को लेकर प्रथम तो बढ़ता है। पश्चात् धनादि ऐश्वर्य से खान-पान, वस्त्र, आभूषण, यान, स्थान, मानप्रतिष्ठा, रूप, भद्र अर्थात् सुखों को प्राप्त होता है। फिर अन्याय से शत्रुओं को भी जीतता है। पश्चात् जैसे जड़ काटा हुआ वृक्ष नष्ट हो जाता है, वैसे अधर्मी मूल सहित नष्ट हो जाता है।

धर्मं शनैः सञ्चिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिकाः।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन्॥१॥ मनु० ४। २३८॥

---

१. यह ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका तथा पंचमहायज्ञ विधि में भी द्रष्टव्य।

२. संस्कार विधि पृ० २२२ से।

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारं न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥२॥ मनु० ४।२३९॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥३॥ मनु० ४।२४०॥
एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः ।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्त्ता दोषेण लिप्यते ॥४॥[1]
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥५॥ मनु० ४।२४१॥

स्त्री और पुरुष को चाहिये कि जैसे पुत्तिका अर्थात् दीमक वल्मीक अर्थात् बांबी को बनाती है; वैसे सब भूतों को पीड़ा न देकर परलोक अर्थात् परजन्म के सुखार्थ धीरे-धीरे धर्म का संचय करें ॥१॥

क्योंकि परलोक में न माता, न पिता, न पुत्र, न स्त्री, न ज्ञाति सहाय कर सकते हैं; किन्तु एक धर्म ही सहायक होता है ॥२॥

देखिये, अकेला ही जीव जन्म धारण करता है और अकेला ही मरण को प्राप्त होता है; एकाकी ही धर्म का फल सुख और अधर्म का जो दुःखरूप फल उसको भोगता है ॥३॥

यह भी समझ लो कि कुटुम्ब में एक पुरुष पाप करके पदार्थ लाता है, और महाजन अर्थात् सब कुटुम्ब उसको भोगता है। भोगनेवाले दोष-भागी नहीं होते अर्थात् पाप के फल से मुक्त रहते हैं; किन्तु अधर्म का कर्त्ता ही दोष का भागी होता है और दुःखरूप फल भोगता है ॥४॥

जब कोई किसी का सम्बन्धी मर जाता है, उसको काष्ठ व मिट्टी के ढेले के समान भूमि में छोड़कर, पीठ दे, बन्धुवर्ग विमुख होकर चले जाते हैं। कोई उसके साथ जाने वाला नहीं होता। किन्तु एक धर्म ही उसका सङ्गी होता है ॥५॥

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः ।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥१॥ मनु० ४।२४२॥
धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम् ।
परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम् ॥२॥ मनु० ४।२४३॥

उस हेतु से परलोक अर्थात् परजन्म में सुख और इस जन्म के सहा-

---

१. महा० उद्यो० पर्व ३३। ४७॥

यार्थं नित्य धर्म का संचय धीरे-धीरे करता जाय। क्योंकि धर्म ही के सहाय से वड़े-वड़े दुस्तर दुःख-सागर को जीव तर सकता है ॥१॥

किन्तु जो पुरुष धर्म ही को प्रधान समझता, जिसका धर्म के अनुष्ठान से कर्त्तव्य पाप दूर हो गया; उसको प्रकाश-स्वरूप और आकाश जिसका शरीरवत् है, उस परलोक अर्थात् परमदर्शनीय परमात्मा को, धर्म ही शीघ्र प्राप्त कराता है ॥२॥ इसलिये—

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ मनु० ४ । १५६॥

मिथ्याभाषणादिरूप अधर्म को छोड़ जो धर्माचार अर्थात् ब्रह्मचर्य्य जितेन्द्रियता से पूर्ण आयु, उत्तम प्रजा, तथा अक्षय धन को प्राप्त होता है, तथा जो पुरुष धर्माचार में वर्त्तकर दुष्ट लक्षणों का नाश करता है, उसके आचरण को सदा किया करे। क्योंकि—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥ मनु० ३७ । १५७॥

जो दुष्टाचारी पुरुष है, वह संसार में सज्जनों के मध्य में निन्दा को प्राप्त, दुःख-भागी, और निरन्तर व्याधियुक्त होकर अल्पायु का भी भोगनेहारा होता है। इसलिये ऐसा प्रयत्न करे—

यद्यत् परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् ।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत् सेवेत यत्नतः ॥१॥ मनु० ४।१५९॥
सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥२॥ मनु० ४।१६०॥

जो-जो पराधीन कर्म हो, उस-उसका प्रयत्न से त्याग, और जो-जो स्वाधीन कर्म हो, उस-उसका प्रयत्न के साथ सेवन करे ॥१॥

क्योंकि जो-जो पराधीनता है, वह-वह सब दुःख और जो-जो स्वाधीनता है, वह-वह सब सुख। यही संक्षेप से सुख और दुःख का लक्षण जानना चाहिये ॥२॥

परन्तु जो एक-दूसरे के आधीन काम है, वह-वह आधीनता से ही करना चाहिये। जैसा कि स्त्री और पुरुष का एक-दूसरे के आधीन व्यवहार, अर्थात् स्त्री-पुरुष का और पुरुष-स्त्री का परस्पर प्रियाचरण, अनुकूल रहना, व्यभिचार वा विरोध कभी न करना। पुरुष की आज्ञानुकूल घर के काम स्त्री और बाहर के काम पुरुष के आधीन रहना, दुष्ट व्यसन में फैलने से एक-दूसरे को रोकना। अर्थात् यही निश्चय जानना कि जब विवाह

होवे, तब स्त्री के साथ पुरुष, और पुरुष के साथ स्त्री विक चुकी। अर्थात् जो स्त्री और पुरुष के साथ हाव-भाव, नखशिखाग्रपर्यन्त जो कुछ हैं, वह वीर्य्यादि एक-दूसरे के आधीन हो जाता है। स्त्री वा पुरुष पारस्परिक प्रसन्नता के विना कोई भी व्यवहार न करें। इनमें वड़े अप्रियकारक व्यभिचार, वेश्या-परपुरुषगमनादि काम हैं। इनको छोड़के अपने पति के साथ स्त्री और स्त्री के साथ पति सदा प्रसन्न रहें।

जो ब्राह्मण वर्णस्थ हों, तो पुरुष लड़कों को पढ़ावे, तथा सुशिक्षिता स्त्री लड़कियों को पढ़ावे। नानाविधि उपदेश और वक्तृत्व करके उनको विद्वान् करें। स्त्रीका पूजनीय देव पति और पुरुषकी पूजनीय अर्थात् सत्कार करने योग्य देवी स्त्री है। जवतक गुरुकुल में रहें, तवतक माता पिताके समान अध्यापकों को समझे। और अध्यापक अपने सन्तानके समान शिष्य को समझें। इसलिये शुभ लक्षणयुक्त अध्यापक और विद्यार्थियों को होना चाहिये। ये ब्राह्मण वर्णस्थों के काम हैं। क्षत्रियों का कर्मषष्ठ प्रवाह में कहेंगे।

जो वैश्य हों, वे ब्रह्मचर्य्यादि से वेदादि विद्या पढ़ विवाह करके नाना देशों की भाषा, नाना प्रकार के व्यापार की रीति, उनके भाव जानना, बेचना-खरीदना, द्वीपद्वीपान्तर में जाना-आना लाभार्थ काम का आरम्भ करना, पशुपालन और खेती की उन्नति चतुराई से करनी-करानी, धन को बढ़ाना, विद्या और धर्म की उन्नति में व्यय करना, सत्यवादी निष्कपटी होकर सत्यता से सब व्यापार करना, सब वस्तुओं की रक्षा ऐसी करनी, जिससे कोई नष्ट न होने पावे। ये वैश्य वर्णस्थों के काम हैं।

शूद्र सब सेवाओ में चतुर, पाकविद्या में निपुण, अतिप्रेम से द्विजों की सेवा, और उन्हीं से अपनी उपजीविका करे। और द्विज लोग इसके खान-पान, वस्त्र, स्थान, विवाहादि में जो कुछ व्यय हो, सब-कुछ देवें; अथवा मासिक वृत्ति निश्चित कर देवें।

चारों वर्ण परस्पर प्रीति, उपकार, सज्जनता, सुख-दुःख हानि-लाभ में ऐक्यमत्य रहकर राज्य और प्रजा की उन्नति में तन मन धन का व्यय करते रहें।

स्त्री-पुरुष का वियोग कभी न होना चाहिए; क्योंकि—

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसन्दूषणानि षट्॥ मनु. ९।१३॥

मद्य भांग आदि मादक द्रव्यों का पीना, दुष्ट पुरुषों का संग, पति-वियोग, अकेली जहां तहां व्यर्थ पाखण्डी नामधारी साध गुरु आदि के दर्शन

मिस से फिरती रहना, प्रमादी हो असमय शयन करना और पराये घर में जाके वास, ये छः स्त्री को दूषित करने वाले दुर्गुण हैं। और ये पुरुषों के भी दुर्गुण दोष हैं।

पति और स्त्री का वियोग दो प्रकार का होता है—कहीं कार्यार्थ देशान्तर में जाना, और दूसरा मृत्यु से वियोग होना। इनमें से प्रथम का उपाय यही है कि दूर देश में यात्रार्थ जावे, तो स्त्री को भी साथ रक्खे।[1] इसका प्रयोजन यह है कि वहुत समय तक स्त्री पुरुष का वियोग न रहना चाहिये।[2]

प्रश्न—स्त्री और पुरुष का वहु-विवाह होना योग्य है, वा नहीं ?

उत्तर—युगपत् न, अर्थात् एक समय में नहीं।

प्रश्न—क्या समयान्तर में अनेक विवाह होना चाहिये ?

उत्तर—हां, जैसे—

या स्त्री त्वक्षतयोनिः स्यात् गतप्रत्यागतापि वा।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति॥ मनु. ९।१७६॥

जिस स्त्री वा पुरुष का पाणिग्रहणमात्र संस्कार हुआ हो, और संयोग [न हुआ हो,] अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री और अक्षतवीर्य्य पुरुष हो, उनका अन्य स्त्री वा पुरुष के साथ पुनर्विवाह होना चाहिये। किन्तु द्विज अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में क्षतयोनि स्त्री क्षतवीर्य्य पुरुष का पुनर्विवाह न होना चाहिये।

प्रश्न—पुनर्विवाह में क्या दोष है ?

उत्तर—(पहिला)—स्त्री-पुरुष में प्रेम न्यून होना। क्योंकि जब चाहे, तब पुरुष को स्त्री और स्त्री को पुरुष छोड़कर दूसरे के साथ सम्वन्ध करले।

(दूसरा)—जब स्त्री वा पुरुष, पति वा स्त्री के मरने के पश्चात् दूसरा विवाह करना चाहें, तव प्रथम स्त्री के द्वारा उसके पूर्व पति के पदार्थों को उड़ा ले जाना, और उनके कुटुम्व वालों का उनसे झगड़ा करना।[3]

---

१. यह लम्बी अवधि के लिये जानना चाहिये। द्र० उत्तर वाक्य।

२. अल्पायु में पति मर जावे, निस्सन्तान हो, तो पुनर्विवाह ही समयोचित धर्म है। अन्य दशाओं में ऋषि दयानन्द ने नियोग स्वीकार किया है।

३. इसी प्रकार प्रथमपति के द्वारा उसकी पूर्व पत्नी के पदार्थों का दवा लेना और उनके कुटुम्व वालों का उनसे झगड़ा करना।

(तीसरा)—वहुत से भद्रकुल का नाम वा चिह्न भी न रहकर उसके पदार्थ छिन्न-भिन्न हो जाना।

(चौथा)—पतिव्रत और स्त्रीव्रत धर्म नष्ट होना। इत्यादि दोषों के अर्थ द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में पुनर्विवाह वा अनेक विवाह कभी न होना चाहिये।

प्रश्न—जव वंशच्छेदन हो जाय, तब भी उसका कुल नष्ट हो जायेगा। और स्त्री-पुरुष व्यभिचारादि कर्म करके गर्भपातनादि बहुत दुंष्ट कर्म करेंगे। इसलिए पुनर्विवाह होना अच्छा है।

उत्तर—नहीं-नहीं; क्योंकि यदि स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य्य में स्थित रहना चाहें, तो कोई भी उपद्रव न होगा। और कुल की परम्परा रखने के लिए किसी अपने स्वजाति का लड़का गोद ले लेंगे। उससे कुल चलेगा, और व्यभिचार भी न होगा। और जो ब्रह्मचर्य्य न रख सकें, तो नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लें।

प्रश्न—पुनर्विवाह और नियोग में क्या भेद है?

उत्तर—(पहिला)—जैसे विवाह करने में कन्या अपने पिता का घर छोड़ पति के घर को प्राप्त होती है, और पिता के कुल से उसका विशेष सम्बन्ध नहीं रहता। और विधवा स्त्री उसी [पूर्व-] विवाहित पति के घर में रहती है।

(दूसरा)—उसी विवाहिता स्त्री के लड़के उसी विवाहित पति के दायभागी होते हैं। और विधवा स्त्री के लड़के वीर्य्यदाता के न पुत्र कहलाते, न उसका गोत्र होता, और न उसका स्वत्व उन लड़कों पर रहता है; किन्तु वे मृत पति के पुत्र वजते, उसी का गोत्र रहता, और उसी के पदार्थों के दायभागी होकर उसी घर में रहते हैं।

(तीसरा)—विवाहित स्त्री-पुरुष को परस्पर सेवा और पालन करना तथा अन्य धर्मकृत्य गृहाचारों का पालन करना आवश्यक होता है। और नियुक्त स्त्री-पुरुष का सन्तानोत्पादन के अतिरिक्त कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता।

(चौथा)—विवाहित स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध, मरणपर्यन्त रहता है। और नियुक्त स्त्री-पुरुष का, कार्य्य के पश्चात् छूट जाता है।

(पांचवां)—विवाहित स्त्री-पुरुष आपस में गृह के कार्यों की सिद्धि करने में यत्न किया करते हैं। और नियुक्त स्त्री-पुरुप अपने-अपने घर के काम किया करते हैं।

प्रश्न—विवाह और नियोगके नियम एक-से हैं, वा पृथक्-पृथक् ?

उत्तर—कुछ थोड़ा-सा भेद है। जितने पूर्व कह आये, उतने और आगे यह कि विवाहित स्त्री-पुरुष एक-पति और एक ही स्त्री मिलके दश सन्तान [तक[1]] उत्पन्न कर सकते हैं। और नियुक्त स्त्री-पुरुष दो वा चार से अधिक सन्तानोत्पत्ति नहीं कर सकते हैं। अर्थात् जैसा कुमार-कुमारी ही का विवाह होता है, वैसे जिसकी स्त्री वा पुरुष मर जाता है, उन्हीं व्यक्तियों का नियोग होता है, कुमार कुमारी का नहीं। जैसे विवाहित स्त्री-पुरुष सदा सङ्ग में रहते हैं, वैसे नियुक्त स्त्री-पुरुष का व्यवहार नहीं होता। किन्तु बिना ऋतुदान के समय के वे एकत्र नहीं होते। जो स्त्री अपने लिये नियोग करे, तो जब दूसरा गर्भ रहे, उसी दिन से नियुक्त स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध छूट जाय। और जो पुरुष अपने लिए करे, तो भी दूसरा गर्भ रहने से सम्बन्ध छूट जाय। परन्तु वही नियुक्त स्त्री दो-तीन वर्ष पर्यन्त उन लड़कों का पालन करके नियुक्त पुरुष को दे देवे। ऐसे एक विधवा स्त्री दो अपने लिये और दो-दो अन्य चार नियुक्त पुरुषों के लिये सन्तान कर सकती है। और एक मृतस्त्रीक पुरुष भी दो अपने लिए, और दो-दो अन्य अन्य चार विधवाओं के लिए पुत्र उत्पन्न कर सकता है। ऐसे मिलकर **दश दश सन्तानोत्पत्ति** की आज्ञा वेद में है (ऋग् १०।८५।४५)।

इस वेद की आज्ञा से ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यवर्णस्थ स्त्री और पुरुष दश-दश सन्तान से अधिक उत्पन्न न करें। क्योंकि अधिक करने से सन्तान निर्बल, निर्बुद्धि, अल्पायु होते हैं। और स्त्री तथा पुरुष भी निर्बल, अल्पायु और रोगी होकर वृद्धावस्था में बहुत-से दुःख पाते हैं।

प्रश्न—यह नियोग की बात व्यभिचार के समान दीखती है।

उत्तर—जैसे बिना विवाहितों का व्यभिचार होता है, वैसे बिना नियुक्तों का व्यभिचार कहाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसा नियम से विवाह होने पर व्यभिचार नहीं कहाता, तो नियम पूर्वक नियोग होने से व्यभिचार न कहावेगा। जैसे दूसरे की कन्या का दूसरे के कुमार के साथ शास्त्रोक्त विधिपूर्वक विवाह होने पर समागम में व्यभिचार वा पाप लज्जा नहीं होती; वैसे ही वेदशास्त्रोक्त नियोग में व्यभिचार वा पाप लज्जा न मानना चाहिये।

प्रश्न—है तो ठीक; परन्तु यह वेश्या के सदृश कर्म दीखता है।

उत्तर—नहीं, क्योंकि वेश्या के समागम में किसी निश्चित पुरुष

१. केवल ऋषि दयानन्द लिखित स. प्र. की मूल कापी में ।। भगवत् दत्त ।।

का कोई नियम नहीं है। और नियोग में विवाह के समान नियम हैं। जैसे दूसरे को लड़की देने दूसरे के साथ समागम करने में विवाहपूर्वक लज्जा नहीं होती; वैसे ही नियोग में भी न होनी चाहिए।

प्रश्न—हमको नियोग की बात में पाप मालूम पड़ता है।

उत्तर—जो नियोग की बात में पाप मानते हो, तो विवाह में पाप क्यों नहीं मानते ? पाप तो नियोग के रोकने में है। क्योंकि ईश्वर के सृष्टिक्रमानुकूल स्त्री-पुरुष का स्वाभाविक व्यवहार रुक ही नहीं सकता; सिवाय वैराग्यवान् पूर्ण विद्वान् योगियों के। क्या गर्भपातनरूप भ्रूणहत्या और विधवा स्त्री और मृत-स्त्रीक पुरुषों के महासन्ताप को पाप नहीं गिनते हो ? क्योंकि जब तक वे युवावस्था में हैं, मन में सन्तानोत्पत्ति और विषय की चाहना होने वालों को किसी राज्यव्यवहार वा जातिव्यवहार से रुकावट होने से गुप्त गुप्त कुकर्म बुरी चाल से होते रहते हैं।

इस व्यभिचार और कुकर्म के रोकने का एक यही श्रेष्ट उपाय है कि जो जितेन्द्रिय रह सकें, वे विवाह वा नियोग भी न करें, तो ठीक है। परन्तु जो ऐसे नहीं हैं, उनका विवाह और आपत्काल में नियोग अवश्य होना चाहिये। इससे व्यभिचार का न्यून होना, प्रेम से उत्तम सन्तान होकर मनुष्यों की वृद्धि होना सम्भव है और गर्भहत्या सर्वथा छूट जाती है।

नीच पुरुषों से उत्तम स्त्री और वेश्या आदि नीच स्त्रियों से उत्तम पुरुषों का व्यभिचाररूप कुकर्म, उत्तम कुल में कलङ्क, वंश का उच्छेद, स्त्री-पुरुषों को सन्ताप और गर्भहत्यादि कुकर्म विवाह और नियोग से ही निवृत्त होते हैं।

प्रश्न—नियोग में क्या-क्या बात होनी चाहिये ?

उत्तर—जैसे प्रसिद्धि से विवाह, वैसे ही प्रसिद्धि से नियोग। जिस प्रकार विवाह में भद्र पुरुषों की अनुमति और कन्या-वर की प्रसन्नता होती है, वैसे नियोग में भी। अर्थात् जब स्त्री-पुरुष का नियोग होना हो, तब अपने कुटुम्बमें पुरुष-स्त्रियों के सामने प्रकट करें कि "हमदोनों नियोग, सन्तानोत्पत्ति के लिए करते हैं। जब नियोग का नियम पूरा होगा, तब हम संयोग न करेंगे। जो अन्यथा करें, तो पापी और जाति वा राज-नियम के दण्डनीय हों। महीने-महीने में एक बार गर्भाधान का काम करेंगे। गर्भ रहे पश्चात् एक वर्ष-पर्यन्त पृथक् रहेंगे।"

प्रश्न—नियोग अपनेवर्ण में होना चाहिए वा अन्य वर्णोंके साथ भी ?

उत्तर—अपने वर्ण में, वा अपने से उत्तम वर्णस्थ पुरुष के साथ। अर्थात् वैश्या स्त्री, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण के साथ; क्षत्रिया, क्षत्रिय और ब्राह्मण के साथ; ब्राह्मणी, ब्राह्मण के साथ ही नियोग कर सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि वीर्य सम वा उत्तम वर्ण का चाहिये, अपने से नीचे वर्ण का नहीं। स्त्री और पुरुष की सृष्टि का यही प्रयोजन है कि धर्म से अर्थात् वेदोक्त रीति से विवाह वा नियोगसे सन्तानोत्पत्ति करना।

प्रश्न—पुरुष को नियोग करने की क्या आवश्यकता है, क्योंकि वह दूसरा विवाह करेगा?

उत्तर—हम लिख आये हैं कि द्विजों अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों में स्त्री और पुरुष का एक ही बार विवाह होना वेदादिशास्त्र में लिखा है; द्वितीय बार नहीं। कुमार और कुमारी का ही विवाह होने में न्याय और विधवा स्त्री के साथ कुमार पुरुष और कुमारी स्त्री के साथ मृतस्त्रीक पुरुषके विवाह होने में अन्याय अर्थात् अधर्म है। जैसे विधवा स्त्री के साथ कुमार पुरुष विवाह नहीं किया चाहता; वैसे ही विवाहित स्त्री से समागम किये हुए विधुर पुरुष के साथ विवाह करने की इच्छा कुमारी भी न करेगी। जब विवाह किये पुरुष को कोई कुमारी कन्या और विधवा स्त्री का ग्रहण कोई कुमार पुरुष न करेगा, तब पुरुष और स्त्री को नियोग करने की आवश्यकता होगी। और यही धर्म है कि जैसे के साथ वैसे ही का सम्बन्ध होना चाहिये।

प्रश्न—यदि किसी का छोटा भाई ही न हो, तो विधवा नियोग किसके साथ करे?

उत्तर—देवर के साथ। परन्तु देवर शब्द का अर्थ जैसा तुम समझते हो, वैसा नहीं। देखो निरुक्त में—

देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते। निरु० अ० ३। खं० १५॥

'देवर' उसको कहते हैं कि जो विधवा का दूसरा पति होता है। चाहे छोटा भाई वा बड़ा भाई, अथवा अपने वर्ण वा अपने से उत्तम वर्ण वाला हो। विधवा स्त्री जिससे नियोग करे, उसी का नाम 'देवर' है।

तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः॥ मनु० ९। ६९॥

जो अक्षतयोनि स्त्री विधवा हो जाय, तो पति का छोटा भाई भी उससे विवाह कर सकता है।

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया ।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥ मनु० ६।५६॥
ज्येष्ठो यवीयसो भार्या यवीयान् वाग्रजस्त्रियम् ।
पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥ मनु. ६।५८॥

मनु जी ने लिखा है कि सपिण्ड अर्थात् पति की छः पीढ़ियों में पति का छोटा भाई वा बड़ा भाई, अथवा स्वजातीय, तथा अपने से उत्तम जातिस्थ पुरुष से विधवा स्त्री का नियोग होना चाहिए। परन्तु जो वह मृतस्त्रीक पुरुष और विधवा स्त्री सन्तानोत्पत्ति की इच्छा करती हो, तो नियोग होना उचित है। और जब सन्तान का सर्वथा क्षय हो अर्थात् उत्पन्न होकर मर जावे, तव नियोग होवे।

जो आपत्काल अर्थात् सन्तानों के होने की इच्छा न होने में बड़े भाई की स्त्री से छोटे का, और छोटे की स्त्री से बड़े भाई का नियोग होकर सन्तानोत्पत्ति हो जाने पर भी, पुनः वे नियुक्त आपस में समागम करें, तो पतित हो जायें। अर्थात् एक नियोग में दूसरे पुत्र के गर्भ रहने तक नियोग की अवधि है। इसके पश्चात् समागम न करें। और जो दोनों के लिये नियोग हुआ हो, तो चौथे गर्भ तक होना चाहिये। पश्चात् विषयासक्ति गिनी जाती है; जिससे वे पतित गिने जाते हैं। और जो विवाहित स्त्री-पुरुष भी दशवें गर्भ से अधिक समागम करें, अर्थात् अधिक सन्तान पैदा करें, तो कामी और निन्दित होते हैं। अर्थात् विवाह वा नियोग सन्तानों ही के अर्थ किये जाते हैं, पशुवत् कामक्रीड़ा के लिए नहीं।

प्रश्न—नियोग मरे पीछे ही होता है, वा जीते पति के भी ?

उत्तर—जीते भी होता है—

अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥ ऋ. मं. १०। सू. १०। मं. १०॥

जव पति सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे, तब अपनी स्त्री को आज्ञा देवे कि हे (सुभगे) सौभाग्य की इच्छा करनेहारी स्त्री ! तू (मत्) मुझसे (अन्यम्) दूसरे पति की (इच्छस्व) इच्छा कर। क्योंकि अब मुझसे सन्तानोत्पति की आशा मत कर। तब स्त्री दूसरे से नियोग करके सन्तानोत्पति करे। परन्तु उस विवाहित महाशय पति की सेवा में ही तत्पर रहे।

वैसे ही स्त्री भी जब रोगादि दोषों से ग्रस्त होकर सन्तानोत्पति में असमर्थ होवे, तब अपने पति को आज्ञा देवे कि "हे स्वामी ! आप

सन्तानोत्पत्ति की इच्छा मुझसे छोड़के किसी दूसरी विधवा स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कीजिये।" जैसाकि पाण्डु राजा की स्त्री कुन्ती और माद्री आदि ने किया है। और जैसा व्यासजी ने चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य के मर जाने के पश्चात् उन अपने भाइयों+ की स्त्रियों से नियोग करके अम्बिका में धृतराष्ट्र और अम्बालिका में पाण्डु और दासी में विदुर की उत्पत्ति की। इत्यादि इतिहास भी इस बात में प्रमाण हैं।

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः।
विद्यार्थं षड् यशोर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥१॥ मनु. ९।७६॥
वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥२॥ मनु. ९।८१॥

विवाहित स्त्री यदि उसका विवाहित पति धर्म के अर्थ परदेश गया हो, तो आठ वर्ष; विद्या और कीर्ति के लिये गया हो, तो छः, और धनादि-कामना के लिये गया हो, तो तीन वर्ष तक बाट देखके पश्चात् नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करले। जब विवाहित पति आवे, तब नियुक्त पति छूट जावे ॥१॥

वैसे ही पुरुष के लिए भी नियम है कि यदि स्त्री वन्ध्या हो तो आठवें (विवाह से आठ वर्ष तक स्त्री को गर्भ न रहे), सन्तान होकर मर जाये, तो दशवें; जब-जब हों, तब-तब कन्या ही होवें, पुत्र न हो; तो ग्यारहवें वर्ष तक, और जो अप्रिय बोलनेवाली स्त्री हो, तो सद्यः उस स्त्री को छोड़के दूसरी स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लेवे ॥ २ ॥ वैसे ही जो पुरुष अत्यन्त दुःखदायक हो, तो स्त्री को भी उचित है कि उसको छोड़के दूसरे पुरुष से नियोग कर सन्तानोत्पत्ति करके उसी विवाहित पति के दायभागी सन्तान कर लेवे। इत्यादि प्रमाण और युक्तियों से स्वयंवर विवाह और नियोग से अपने-अपने कुल की उन्नति करें।

औरसः क्षेत्रजश्चैव०। मनु० ९।१५९॥

इसका अभिप्राय है कि जैसा **'औरस'** अर्थात् विवाहित पति से उत्पन्न हुआ पुत्र पिता के पदार्थों का स्वामी होता है, वैसे हो **'क्षेत्रज'** अर्थात् नियोग से उत्पन्न हुए पुत्र भी मृत पिता के दायभागी होते हैं।

+ महाभारत के अनुसार चित्राङ्गद अविवाहित मर गया था। विचित्रवीर्य का विवाह अम्बिका और अम्बालिका से हुआ था (आदि० प० १०२।६५)। अतः यहां विचित्रवीर्य की ही स्त्रियों से नियोग हुवा, ऐसा जानना चाहिये।

अब इस पर स्त्री और पुरुष को ध्यान रखना चाहिये कि वीर्य और रज को अमूल्य समझें। जो कोई इस अमूल्य पदार्थ को परस्त्री वेश्या वा दुष्ट पुरुषों के संग में खोते हैं, वे महामूर्ख होते हैं। क्योंकि जो किसान वा माली मूर्ख होकर भी अपने खेत वा वाटिका के विना अन्यत्र वीज नहीं बोते। जो कि साधारण वीज और मूर्ख का ऐसा वर्तमान है, तो जो सर्वोत्तम मनुष्य-शरीर-रूप वृक्ष के वीज को कुक्षेत्र में खोता है, वह महामूर्ख क्यों नहीं कहाता है। क्योंकि उसका फल उसको नहीं मिलता।

और **'आत्मा वै जायतेपुत्रः'**[1] यह ब्राह्मण ग्रन्थों का वचन है।

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मासि पुत्र मा मृथा स जीव शरदः शतम् ॥[2]

हे पुत्र! तू अङ्ग-अङ्ग से उत्पन्न हुए वीर्य से और हृदय से उत्पन्न होता है; इसलिये तू मेरा आत्मा है। मुझसे पूर्व मत मरे; किन्तु सौ वर्ष तक जी।

जिससे ऐसे-ऐसे महात्मा और महाशयों के शरीर उत्पन्न होते हैं, उस वीर्य को वेश्यादि दुष्टक्षेत्र में बोना, वा दुष्ट वीज का अच्छे क्षेत्र में बुवाना, महापाप का काम है।

प्रश्न—विवाह क्यों करना? क्योंकि इससे स्त्री-पुरुष को वन्धन में पड़के बहुत संकोच करना, और दुःख भोगना पड़ता है। इसलिए जिसके साथ [जव तक] जिसकी प्रीति हो, तब तक वे मिले रहें। जब प्रीति छूट जाय, तो छोड़ देवें।

उत्तर—यह पशु-पक्षियों का व्यवहार है, मनुष्यों का नहीं। जो मनुष्यों के विवाह का नियम न रहे, तो सव गृहाश्रम के अच्छे-अच्छे व्यवहार नष्ट-भ्रष्ट हो जायें। वृद्धावस्था में कोई किसी की सेवा भी न करे, और महाव्यभिचार वढ़कर सव रोगी निर्बल और अल्पायु होकर शीघ्र-मर जायें। और पुरुषों के कुल नष्ट हो जायें। कोई किसी से भय वा लज्जा न करे। कोई किसी के पदार्थों का स्वामी वा दायभागी भी न हो सके। और न किसी का किसी पदार्थ पर दीर्घकाल-पर्यन्त स्वत्व रहे। इत्यादि दोषों के निवारणार्थ विवाह ही होना सर्वथा योग्य है।

---

१. तु० **'आत्मा वै पुत्रनामासि'**। शत० ४।६।४।२६; निरुक्त ३।४॥
२. छान्दो० (मन्त्र) ब्राह्मण १।५।१७ का पूर्वार्ध और १८ का उत्तरार्ध।

यह[1] वन्धन भी नहीं। संसार के सब सुख और मोक्ष की इच्छा करने वालों को गृहाश्रम अवश्य धारण करना चाहिए। इसी से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप फल की प्राप्ति होती है।[1]

प्रश्न—जब एक विवाह होगा, एक पुरुष को एक स्त्री और एक स्त्री को एक पुरुष रहेगा। तब स्त्री गर्भवती स्थिररोगिणी अथवा पुरुष दीर्घरोगी हो, और दोनों की युवावस्था हो, रहा न जाय तो फिर क्या करें ?

उत्तर—इसका प्रत्युत्तर नियोग-विषय में दे चुके हैं। और गर्भवती स्त्री से एक वर्ष समागम न करने के समय में पुरुष वा दीर्घरोगी पुरुष की स्त्री से न रहा जाय, तो किसी से नियोग करके उसके लिए पुत्रोत्पत्ति कर दें। परन्तु वेश्यागमन वा व्यभिचार कभी न करें।

जहां तक हो, वहां तक अप्राप्त वस्तु की इच्छा, प्राप्त का रक्षण और रक्षित की वृद्धि, वढ़े हुए धन का व्यय देशोपकार करने में किया करें[2]। सब प्रकार के अर्थात् पूर्वोक्त रीति से अपने-अपने वर्णाश्रम के व्यवहारों को अत्युत्साहपूर्वक प्रयत्न से तन, मन, धन से सर्वदा परमार्थ किया करें।

अपने माता,पिता, शाशु, श्वशुर की अत्यन्त शुश्रूषा करें। मित्र और अड़ोसी-पड़ोसी, राजा, विद्वान्, वैद्य और सत्पुरुषों से प्रीति रखके, और जो दुष्ट अधर्मी [हों] उनसे उपेक्षा अर्थात् द्रोह छोड़कर उनके सुधारने का यत्न किया करें। जहां तक बने, वहां तक प्रेम से अपने सन्तानों के विद्वान् और सुशिक्षा करने-कराने में धनादि पदार्थों का व्यय करके उनको पूर्ण विद्वान् सुशिक्षायुक्त कर दें। और धर्मयुक्त व्यवहार करके मोक्ष का भी साधन किया करें, कि जिसकी प्राप्ति से परमानन्द भोगें।

(प्रश्न) कलियुग में तो पतित भी द्विज की पूजा करना, जितेन्द्रिय उत्तम विद्यावान् भी शूद्र का मान्य न करना धर्म है और संन्यास ग्रहण, देवर से पुत्रोत्पत्ति आदि कर्म निषिद्ध होने से अधर्म हैं। परन्तु पाँच आप-

---

१. यह पैरा संकलनकर्त्ता का लेख है।

२. अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत् प्रयत्नतः।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत्॥ मनु० ७।९९॥

३. प्रश्नोत्तर का रूप संकलन कर्त्ता ने बनाया है।

त्काल होने पर अन्य पति करने का विधान नारी के लिए विहित है; देवर से नियोग नहीं।

(उत्तर) तुम्हारी यह बात धर्म शास्त्र विरुद्ध होने से मान्य नहीं और बुद्धिमानों को योग्य है कि इनके कहे ऐसे-ऐसे श्लोकों को न मानें। जैसे—

पतितोऽपिद्विजः श्रेष्ठो न च शूद्रो जितेन्द्रियः।
निर्दुग्धा चापि गौः पूज्या न च दुग्धवती खरी ॥१॥
अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैत्रिकम्।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत् ॥२॥
नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥३॥

ये कपोलकल्पित पराशरी के श्लोक[1] हैं।

जो दुष्ट कर्मकारी द्विज को श्रेष्ठ और श्रेष्ठ कर्मकारी शूद्र को नीच मानें, तो इससे पक्षपात अन्याय अधर्म दूसरा अधिक क्या होगा? क्या जैसे दूध देने वाली वा न देने वाली गाय गोपालों को पालनीय होती है; वैसे कुम्हार आदि को दूध देने वाली गधही पालनीय नहीं होती? और यह दृष्टान्त भी विषम है। क्योंकि द्विज और शूद्र मनुष्य जाति, गाय और गदही भिन्न जाति हैं। कथञ्चित् पशुजाति से दृष्टान्त का एक देश दार्ष्टान्त में मिल भी जावे, तो भी इसका आशय अयुक्त होने से यह श्लोक विद्वानों के माननीय कभी नहीं हो सकते ॥१॥

जब अश्वालम्भ अर्थात् घोड़े को मारके[2] अथवा गवालम्भ गाय को मारके यज्ञ में होम करना ही वेदविहित नहीं है; तो उसका कलियुग में निषेध करना वेदविरुद्ध क्यों नहीं? जो कलियुग में इस नीच कर्म का निषेध माना जाय, तो त्रेता आदि में विधि आ जाय। ऐसे दुष्ट काम का श्रेष्ठयुग[3] में होना या किया जाना सर्वथा असम्भव है। और संन्यास की

---

१. पाराशरी स्मृति के लघु और वृद्ध (बृहत्) दो पाठ हैं। उपर्युक्त श्लोकों में से प्रथम श्लोक पाराशरी लघुपाठ ८।३३ में इस प्रकार मिलता है—'दुःशीलोऽपि द्विजः श्रेष्ठो न शूद्रो विजितेन्द्रियः। कः परित्यज गां दुष्टां दुहेच्छीलवतीं खरीम् ॥' शब्दभेद होने पर भी भाव एक ही है। दूसरा श्लोक हमें उपलब्ध नहीं हुआ। तृतीय श्लोक पराशरी लघुपाठ ४।२५ में है।

२. यह अर्थ पौराणिकों के मतानुसार है।

३. पौराणिकों के मतानुसार 'श्रेष्ठयुग' कहा है।

वेदादिशास्त्रों में विधि है; उसका कलियुग में निषेध करना निर्मूल है। जब मांस का निषेध है, तो सर्वदा ही निषेध है। जब देवर से पुत्रोत्पत्ति करना वेदों में लिखा है, तो श्लोककर्त्ता का इसका कलियुग में निषेध करना उचित नहीं ।।२।।

यदि नष्ट[1] अर्थात् पति किसी देश देशान्तर को चला गया हो, घर में स्त्री नियोग कर लेवे, उसी समय विवाहित पति आ जाय, तो वह किसकी स्त्री हो, कोई कहे कि विवाहित पति की। हमने माना, परन्तु ऐसी व्यवस्था पाराशरी में तो नहीं लिखी। क्या स्त्री के लिये, पति का गुम होना, मर जाना, संन्यासी बनना, नपुंसक होना और पतित हो जाना, ये पांच ही आपत्काल हैं? जो रोगी पड़ा हो, लड़ाई हो गई हो, इत्यादि आपत्काल पांच से भी अधिक हैं। इसीलिए ऐसे-ऐसे श्लोकों को कभी नहीं मानना चाहिए ।।३।।

प्रश्न—क्योंजी ! तुम पराशरमुनि के वचन को भी नहीं मानते ?

उत्तर—चाहे किसी का वचन हो; परन्तु वेदविरुद्ध होने से नहीं मानते। और यह तो पाराशर का वचन भी नहीं है। क्योंकि जैसे **ब्रह्मोवाच, वशिष्ठ उवाच, राम उवाच, शिव उवाच, विष्णुरुवाच, देव्युवाच** इत्याथि श्रेष्ठों का नाम लिखके ग्रन्थरचना इसलिए करते हैं कि सर्वमान्य के नाम से इन ग्रन्थों को सब संसार मान लेवे और हमारी पुष्कल जीविका भी हो। इसलिये अनर्थ-गाथायुक्त ग्रन्थ बनाते हैं। कुछ-कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़के मनुस्मृति ही वेदानुकूल है, अन्य स्मृति नहीं। ऐसे ही अन्य जाल ग्रन्थों की व्यवस्था समझनी।[2]

प्रश्न—गृहाश्रम सबसे छोटा वा बड़ा है ?

उत्तर—अपने-अपने कर्त्तव्य-कर्मों में सब बड़े हैं। परन्तु गृहस्थ का महत्व अधिक है। क्योंकि :

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ।।१।।
तथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ।।२।।

---

१. नष्ट होना=नस जाना, भाग जाना।

२. त्याज्य मिथ्याग्रन्थों की विवेचना तृतीय प्रवाह में देखें।

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्य्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ।।३।।
स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ।।४।। मनु०[1]

जैसे नदी और बड़े-बड़े नद तब तक भ्रमते ही रहते हैं, जब तक समुद्र को प्राप्त नहीं होते, वैसे ही सब आश्रमी गृहस्थ ही को प्राप्त होके स्थिर होते हैं ।।१।।

जैसे वायु के आश्रय से सब जीवों का वर्तमान अर्थात् जीवन सिद्ध होता है, वैसे गृहस्थ ही के आश्रय से सब आश्रम स्थिर रहते हैं। बिना इस आश्रम के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता ।।२।।

ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी इन तीन आश्रमों को दान और अन्नादि देके प्रतिदिन गृहस्थ ही धारण करता है, इससे गृहस्थ ज्येष्ठाश्रम है। अर्थात् सब व्यवहारों में धुरन्धर कहाता है ।।३।।

इसलिये जो पुरुष अक्षय मोक्ष और संसार के सुख की नित्य इच्छा करता हो, वह अच्छे प्रकार प्रयत्न से गृहाश्रम को धारण करें। गृहाश्रम दुर्बलेन्द्रिय अर्थात् भीरु और निर्बल पुरुषों से धारणकरने अयोग्य है ।।४।।

इसीलिये जितना कुछ व्यवहार संसार में है, उसका आधार गृहाश्रम है। जो यह गृहाश्रम न होता, तो सन्तानोत्पत्ति के न होने से ब्रह्मचर्य वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम कहाँ से हो सकते ? जो कोई गृहाश्रम की निन्दा करता है, वही निन्दनीय है। और जो प्रशंसा करता है, वही प्रशंसनीय है। परन्तु तभी गृहाश्रम में सुख होता है, जब स्त्री और पुरुष दोनों परस्पर प्रसन्न, विद्वान् पुरुषार्थी और सब प्रकार के व्यवहारों के ज्ञाता हों। इसीलिए गृहाश्रम में सुख का मुख्य कारण ब्रह्मचर्य और पूर्वोक्त स्वयंवर विवाह है।

यह संक्षेप से समावर्त्तन, विवाह और गृहाश्रम के विषय में शिक्षा लिख दी। इसके आगे वानप्रस्थ और संन्यास के विषय में लिखा जायेगा।

इति चतुर्थः प्रवाहः

---

१. ये श्लोक पूर्व भी इसी प्रवाह में उद्धृत हैं।

पंचमः प्रवाहः

अथ वर्णाश्रमविषये वानप्रस्थ संन्यास विधिं वक्ष्यामः

आर्य ऋषिमुनियों के विचार में मनुष्य जीवन के उत्थान के अभ्यास-क्रम में वर्णाश्रम का विषय मुख्य है (सं०क०)। अब वर्णाश्रम विषय लिखा जाता है।

इसमें[1] यह विशेष जानना चाहिए कि प्रथम मनुष्य जाति सबकी एक है, सो भी वेदों से सिद्ध है (२६९)। ...मनुष्य जाति के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये [चार] वर्ण कहाते हैं। ...इनका नाम वर्ण इसलिये है कि, जैसे जिस [पुरुष] के गुण कर्म हों, वैसा ही अधिकार उसको देना चाहिए (२७०)।...इसका निर्णय विद्याध्ययन की समाप्ति करने के पश्चात्, गृहाश्रम प्रवेश करते समय होता है और गृहाश्रम समाप्त कर वानप्रस्थ या संन्यासाश्रम ग्रहण करने तक रहता है (ग्र०क०)।

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम कहाते हैं। इनमें से प्रथम पांच वा आठ वर्ष की उमर से [चौवीस वर्ष तक निकृष्ट या कनिष्ट, छत्तीस वर्ष तक मध्यम तथा] अड़तालीस वर्ष पर्यन्त उत्तम ब्रह्मचर्य का समय है।...वह सुशिक्षा और सत्य विद्यादि गुण ग्रहण करने के लिए होता है (२७१)। इसका वर्णन दूसरे-तीसरे प्रवाह में किया है।

दूसरा गृहस्थाश्रम, जो कि उत्तम गुणों के प्रचार और श्रेष्ठ पदार्थों की उन्नति से सन्तानों की उत्पत्ति और [उनको] सुशिक्षित करने के लिए किया जाता है (२७१)। इसका भी विशेष वर्णन चौथे प्रवाह में कर दिया है।

अब [इस पञ्चम प्रवाह में] तीसरा वानप्रस्थ जिससे ब्रह्मविद्यादि के साक्षात् साधन करने के लिये [जप स्वाध्यायादि द्वारा] एकान्त में परमेश्वर का सेवन [अर्थात् स्तुति-प्रार्थना-उपासना] किया जाता है और चौथा संन्यास, जो कि परमेश्वर अर्थात् मोक्ष सुख की प्राप्ति और सत्योपदेश से सब संसार के उपकार के अर्थ किया जाता है (२७१)[1], का वर्णन

---

१. यह ऊपर लिखा विषय ऋषिदया० कृत ऋ०वे०भा० भूमिका पृ० २६२-२७१ वर्णाश्रम विषय के आधार पर लिखा है (द्र० रा० ला० कपूर ट्रस्ट प्रकाशन)॥

करते हैं।

ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेद्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ॥★

मनुष्यों को उचित है कि ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त करके गृहस्थ होकर वानप्रस्थ, और वानप्रस्थ होके संन्यासी होवें, अर्थात् यह अनुक्रम से आश्रम का विधान है। (स०प्र० २००)।[1]

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥१॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥२॥
संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्।
पुत्रेषु भार्यां निःक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा ॥३॥
अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥४॥
मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा।
एतानेव महायज्ञान् निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥५॥ मनु० ६।१-५॥

इस प्रकार स्नातक अर्थात् ब्रह्मचर्यपूर्वक गृहाश्रम का कर्त्ता द्विज, अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य गृहाश्रम में ठहरकर निश्चितात्मा और यथावत् इन्द्रियों को जीत, (१) जब गृहस्थ के शिर के केश श्वेत और त्वचा ढीली हो जाय, और लड़के का लड़का भी हो गया हो, तब (२) सब ग्राम के आहार और वस्त्रादि सब उत्तमोत्तम पदार्थों को छोड़, पुत्रों के पास स्त्री को रख, वा अपने साथ लेके (३) और साङ्गोपाङ्ग अग्निहोत्र [—साधन सामग्री] को लेके, ग्राम से निकल दृढ़ेन्द्रिय होकर अरण्य में जाके बसे (४) [अर्थात् वानप्रस्थ का ग्रहण करे]। नाना प्रकार के सामा[2] आदि अन्न, सुन्दर-सुन्दर शाक, मूल, फल, फूल, कन्दादि से पूर्वोक्त पञ्चमहायज्ञों को करे। और उसी से अतिथि-सेवा और आप भी निर्वाह करे ॥५॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥१॥

★प्रमाणसंकेत के विषय में द्र०, सं० वि० पृ० २६८। रा. ला. क. ट्रस्ट सं०॥

१. चतुर्थप्रवाह में भी थोड़ा वर्णन किया है।

२. 'सांवा' नाम से प्रसिद्ध चावल।

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः ।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥२॥
मनु०६।८,२६॥

वहां जङ्गल में स्वाध्याय अर्थात् वेदादि शास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने में नित्ययुक्त, जितात्मा, सब का मित्र, सावधान, इन्द्रियों का दमनशील, नित्य विद्यादि का दान देनेहारा, और सब प्राणिमात्र पर दयालु, किसी से कुछ भी पदार्थ न लेवे। इस प्रकार वहाँ सदा वर्तमान करे ॥१॥

शरीर के सुख के लिए अति प्रयत्न न करे। किन्तु ब्रह्मचारी रहे, अर्थात् अपनी स्त्री साथ हो, तथापि उससे सेवा के सिवाय विषय-चेष्टा कुछ न करे। भूमि में सोवे, आश्रित वा स्वकीय पदार्थों में ममता न करे, वृक्ष के मूल में वसे ॥२॥ तु०सं०वि० २७२,२७३ ॥स०प्र० २०१ ॥

तपः श्रद्धे ये ह्यु पवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्य्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्राऽमृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥
मुण्ड० १। खं० २। मं० ११॥

जो शान्त विद्वान् लोग वन में तप-धर्मानुष्ठान और सत्य की श्रद्धा करके भिक्षाचरण करते हुए जङ्गल में वसते हैं, वे जहां नाशरहित पूर्ण-पुरुष हानि-लाभ-रहित परमात्मा है, वहां निर्मल होकर प्राणद्वार से उस परमात्मा को प्राप्त होके आनन्दित हो जाते हैं ॥

अभ्या दधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि ।
व्रतञ्च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽ अहम् ॥ यजु० २०। २४॥

वानप्रस्थ को उचित है कि वह—"मैं अग्नि में होम कर, दीक्षित होकर, व्रत-सत्याचरण और श्रद्धा को प्राप्त होऊं," ऐसी इच्छा करके वानप्रस्थ हो और नाना प्रकार की तपश्चर्या, सत्संग, योगाभ्यास, सुविचार से ज्ञान और पवित्रता प्राप्त करे। पश्चात् जब संन्यास ग्रहण की इच्छा हो, तब स्त्री को पुत्रों के पास भेज देवे, फिर संन्यास ग्रहण करे (स०प्र० २०२)।

अथ संन्यासविधिः

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत् ॥मनु० ६।३३॥

इस प्रकार वन में आयु का तीसरा भाग, अर्थात् पचासवें वर्ष से

पचहत्तरवें वर्ष पर्यन्त वानप्रस्थ होके, आयु के चौथे भाग में संगों को छोड़के परिव्राट् अर्थात् संन्यासी हो जावे।

प्रश्न—जो गृहाश्रम और वानप्रस्थाश्रम न करके संन्यासाश्रम करे, उसको पाप होता है कि नहीं?

उत्तर—होता है, और नहीं भी होता।

प्रश्न—यह दो प्रकार की बात क्यों कहते हो?

उत्तर-दो प्रकार की नहीं, क्योंकि जो बाल्यावस्था में विरक्त होकर विषयों में फंसे, वह महापापी। और जो न फंसे, वह महापुण्यात्मा सत्पुरुष है।

यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद् वनाद्वा, गृहाद् वा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् ॥ ये ब्राह्मण ग्रन्थ के★ वचन हैं [इनका भाव है कि] जिस दिन वैराग्य प्राप्त हो, उसी दिन ब्रह्मचर्य, घर अर्थात् गृहस्थ वा वन अर्थात् वानप्रस्थ से संन्यास ग्रहण कर लेवे। पहले संन्यास का पक्षक्रम[1] कहा, और इसमें विकल्प अर्थात् वानप्रस्थ न करे, गृहस्थाश्रम ही से संन्यास ग्रहण करे, [यह द्वितीय पक्ष है] और तृतीय पक्ष यह है कि जो पूर्ण विद्वान् जितेन्द्रिय विषयभोग की कामना से रहित परोपकार करने की इच्छा से युक्त पुरुष हो, वह ब्रह्मचर्याश्रम ही से संन्यास ग्रहण कर लेवे॥ परन्तु—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ कठोप० २। २४॥

जो पुरुष संसार से विरत नहीं, जो दुराचार से पृथक् नहीं, जिसको शान्ति नहीं, जिसका आत्मा योगी नहीं, और जिसका मन शांत नहीं है, वह संन्यास लेके भी [केवल] प्रज्ञान से परमात्मा को प्राप्त नहीं होता स० प्र० २०३॥ इसलिए—

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेद् ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

कठोप० ३। १३॥

संन्यासी बुद्धिमान् वाणी और मन को अधर्म से रोके, उनको ज्ञान

---

१. यहां 'क्रमपक्ष' पाठ हो तो अच्छा है। अथवा 'संन्यासग्रहण के पक्ष का क्रम' ऐसा भाव समझें।

★छाबालोपनि० खं० ४ में आगे-पीछे पाठ मिलता है।

और आत्मा में लगावे। और उस ज्ञान-स्वात्मा को परमात्मा में लगावे। और उस विज्ञान को शान्तस्वरूप आत्मा में स्थिर करे।

परन्तु सदा इनका संग छोड़ देवे, कि

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥
अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते॥
मुण्ड० १। खं० २। मं० ८,९॥

जो अविद्या के भीतर खेल रहे हैं, अपने को धीर और पण्डित मानते हैं, वे नीच गति को जानेहारे मूढ़, जैसे अंधे के पीछे अंधे दुर्दशा को प्राप्त होते हैं, वैसे दुःखों को पाते हैं। जो वहुधा अविद्या में रमण करने वाले, वाल बुद्धि, हम कृतार्थ हैं ऐसा मानते हैं, जिसको केवल कर्मकाण्डी लोग राग से मोहित होकर नहीं जान और जना सकते, वे आतुर[1] होके जन्म-मरणरूप दुःख में गिरे रहते हैं। स० प्र० २०४॥ इसलिये—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतात्[2] परिमुच्यन्ति सर्वे॥
मुण्ड० ३। खं० २। मं० ६॥

जो वेदान्त अर्थात् परमेश्वर-प्रतिपादक वेदमन्त्रों के अर्थज्ञान और आचार में अच्छे प्रकार निश्चित, संन्यासयोग से शुद्धान्तःकरण संन्यासी होते हैं, वे परमेश्वर में मुक्तिसुख को प्राप्त हो, भोग के पश्चात् जव मुक्ति में सुख की अवधि पूरी हो जाती है, तव वहां से छूटकर संसार

---

१. अर्थात् स्वर्गादि की कामना से यज्ञादि सकाम कर्मों में आतुर।

२. यहां 'परामृताः' पाठ सत्यार्थ प्रकाश में है। परन्तु आगे स० प्र० के नवम समुल्लास में 'परामृतात्' पाठ उद्धृत किया गया है। और यहां भी भाषा इसी पाठ के अनुसार है। मुण्डकोप० में प्रायः ऊपर मुद्रित पाठ ही मिलता है, तथापि 'परामृतात्' पाठ भी वहुत मिलता है। सन् १९२५ के निर्णयसागर प्रेस में छपे १०८ उपनिषदों के गुटके में मुण्डक का यही पाठ (पृष्ठ १८) छपा है। सूतसंहिता की तात्पर्य टीका (बालमनोरमा प्रेस माइलापुर, मद्रास संस्करण) में पृष्ठ १७२ पर माधव ने इस मन्त्र के उद्धरण में 'परामृतात्' पाठ ही उद्धृत किया है। तै० आ० १०।१०।३; नारायणोप० (द्वितीय पाठ पृष्ठ १४०, निर्णयसागर बम्बई संस्करण सन् १९२५) में भी यही पाठ छपा है। (यु. मी.)।

में आते हैं। क्योंकि—

न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ।। छान्दोप० १४।६।१।।

मुक्ति के विना दुःख का नाश नहीं होता। इसलिए जो देहधारी है, वह दुःख सुख की प्राप्ति से पृथक् कभी नहीं रह सकता। और जो शरीररहित जीवात्मा मुक्ति में सर्वव्यापक परमेश्वर के साथ शुद्ध होकर रहता है, तव उसको सांसारिक सुख-दुःख प्राप्त नहीं होता। इसलिए—

लोकैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च पुत्रैषणायाश्चोत्थायाऽथ भैक्षचर्यं चरन्ति ।। तु० शत० कां० १४।६।४।१।।

लोक में प्रतिष्ठा वा लाभ, धन से भोग वा मान्य, पुत्रादि के मोह से अलग होके संन्यासी लोग भिक्षुक होकर रात-दिन मोक्ष के साधनों में तत्पर रहते हैं।

जो[1] सत्पुरुष ब्रह्मचर्य, धर्मानुष्ठान, श्रद्धा, यज्ञ और ज्ञान से परमेश्वर को जानके मुनि अर्थात् विचारशील होते हैं, वे ही ब्रह्मलोक अर्थात् [ब्रह्मवित्] संन्यासियों के प्राप्ति स्थान को प्राप्त होने के लिए संन्यास लेते हैं। जो उनमें उत्तम पूर्ण विद्वान् हैं, वे गृहाश्रम और वानप्रस्थ के विना ब्रह्मचर्य आश्रम से ही संन्यासी हो जाते हैं। और उनके उपदेश से [उनके शिष्यरूप] पुत्र होते हैं, उन्हीं को सवसे उत्तम मानकर, **'पुत्रैषणा'** अर्थात् सन्तानोत्पत्ति की इच्छा, **'वित्तैषणा'** अर्थात् धन का लोभ और **'लोकैषणा'** अर्थात् लोक में प्रतिष्ठा की इच्छा करना, इन तीन प्रकार की इच्छा को छोड़के भिक्षाचरण करते हैं। अर्थात् सर्वगुरु, सबके अतिथि होके विचरते हुए, संसार को अज्ञानरूपी अन्धकार से छुड़ाके सत्यविद्या के उपदेश रूप प्रकाश से प्रकाशित करते हैं।[1]

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं तस्यां सर्ववेदसम् हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेत् ।।१।।
यजुर्वेदब्राह्मणे[2]

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ।।२।।

---

१. द्र० ऋग्वे० भा० भू०। वर्णाश्रम विषय पृ० २८० ।।

२. द्र० न्याय० ४।१।६१-६२ वात्स्या० भाष्य में उद्धृत—'प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेत्'।

यो दत्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् ।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥३॥

मनु० ६।३८,३९॥

प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति के अर्थ इष्टि अर्थात् यज्ञ करके, उसमें यज्ञोपवीत शिखादि चिह्नों को छोड़, आहवनीयादि पांच अग्नियों[1] को अपनें आत्मा अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पांच प्राणों में आरोपण करके, ब्राह्मण ब्रह्मवित् गृहाश्रम से ही संन्यासी हो जावे[2] ॥ १, २ ॥

जो सब भूत प्राणिमात्र को अभयदान सत्योपदेश देकर, गृहाश्रम से अर्थात् घर से निकलके संन्यासी होता है, उस ब्रह्मवादी अर्थात् परमेश्वर-प्रकाशित वेदोक्त धर्मादि विद्याओं के उपदेश करने वाले संन्यासी के लिए प्रकाशमय, अर्थात् मुक्ति का आनन्दस्वरूप लोक और सब लोक-लोकान्तर तेजोमय (ज्ञान से प्रकाशमय हो) प्राप्त होते हैं ॥

तु० स० वि० २८२ । स० प्र० २०५-२०७ ॥

प्रश्न—संन्यासियों का क्या धर्म है ?

उत्तर—धर्म तो पक्षपातरहित-न्यायाचरण, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग, वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा का पालन, परोपकार, सत्यभाषणादि लक्षण सब आश्रमियों का अर्थात् सब मनुष्यमात्र का एक ही है। परन्तु **संन्यासी का विशेष धर्म**[3] यह है कि—

जब संन्यासी मार्ग में चले, तब इधर-उधर न देख कर नीचे पृथिवी पर दृष्टि रखके चले । सदा वस्त्र से छान के जल पिये । निरन्तर सत्य ही बोले । सर्वदा मन से विचार के सत्य का ग्रहण कर असत्य को छोड़ देवे । (४६)॥

जब कहीं उपदेश वा संवादादि में कोई व्यक्ति संन्यासी पर क्रोध करे अथवा उसपर आक्षेप निन्दा करे, तो संन्यासी को उचित है कि उस पर आप कभी क्रोध न करे; किन्तु सदा उसके कल्याणार्थ उपदेश ही करे । और एक मुख के, दो नासिका के, दो आंख के, और दो कान के छिद्रों

---

१. आहवनीय, गार्हपत्य दक्षिणाग्नि, आवसथ्य और सभ्य इन पांच श्रौत स्मार्त अग्नियों की ओर संकेत है ।

२. यह भाषार्थ संख्या १,२ के दोनों प्रमाणों का सम्मिलित है ।

३, आगे मनु० अ० ६ में आये श्लोकों का भाषानुवाद मात्र लिखते हैं । भाषानुवाद के आगे संकेतार्थ श्लोक संख्या दे दी है । यह विषय स० वि० में भी देखें ॥

में बिखरी हुई वाणी को किसी कारण से मिथ्या कभी न बोले। (४८)।।

अपने आत्मा और परमात्मा में स्थिर, अपेक्षारहित, मद्यमांसादि का त्याग कर, आत्मा ही के सहाय से सुखार्थी होकर, इस संसार में धर्म और विद्या के बढ़ाने में उपदेश के लिए सदा विचरता रहे। (४९)।।

केश, नख, दाढ़ी, मूंछ को छेदन करवावे। सुन्दर पात्र, दण्ड और कुसुम्भ [कषाय रंग] आदि से रंगे हुए वस्त्रों को ग्रहण करके, निश्चितात्मा, सब भूतों को पीड़ा न देकर सर्वत्र विचरे। (५२)।।

इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोक, रागद्वेष को छोड़, सब प्राणियों से निर्वैर वर्त्तकर मोक्ष के लिए सामर्थ्य बढ़ाया करे। (६०)।।

किसी भी आश्रमी से वर्तने पर, कोई संसार में उसको दूषित वा वा भूषित करे, तो भी संन्यासी सब प्राणियों में पक्षपातरहित होकर, स्वयं धर्मात्मा और अन्यों को धर्मात्मा करने में प्रयत्न किया करे। और यह अपने मन में निश्चित जाने कि दण्ड कमण्डलु और काषायवस्त्र आदि चिह्न-धारण करना ही धर्म का कारण नहीं है। किन्तु सब मनुष्यादि प्राणियों की सत्योपदेश और विद्यादान से उन्नति करना, संन्यासी का मुख्य कर्म है (६६) ।।

ब्रह्मवित् संन्यासी को उचित है कि ओंकारपूर्वक सप्त व्याहृतियों से विधिपूर्वक प्राणायाम, जितनी शक्ति हो उतने सदा करे। परन्तु वह तीन से तो न्यून प्राणायाम कभी न करे। यही संन्यासी का परम तप है। (७०) ।।

इस प्रकार संन्यासी नित्यप्रति प्राणायामों से आत्मा अन्तःकरण और इन्द्रियों के दोष, धारणाओं से पाप, प्रत्याहार से संगदोष, ध्यान से अनीश्वर के गुणों अर्थात् हर्ष-शोक और अविद्यादि जीव के दोषों को भस्मीभूत करे (७२) ।।

इसी ध्यानयोग से जो अयोगी अविद्वानों के दुःख से जानने योग्य छोटे-बड़े पदार्थों में परमात्मा की व्याप्ति, उसको और अपने आत्मा और अन्तर्यामी परमेश्वर की गति को देखे (७३) ।।

सब भूतों से निर्वैर, इन्द्रियों के विषयों का त्याग, वेदोक्त कर्म और अत्युग्र तपश्चरण से इस संसार में मोक्ष-पद को पूर्वोक्त संन्यासी ही सिद्ध कर और करा सकते हैं, अन्य [कोई] नहीं (७५) ।।

जब संन्यासी सब भावों में अर्थात् पदार्थों में निःस्पृह कांक्षारहित,

और सब बाहर-भीतर के व्यवहारों में भाव से पवित्र होता है, तभी इस देह में और मरण पाके निरन्तर सुख को प्राप्त होता है (८०) ।।

स. प्र. २०८-२१० ।।

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा संगाञ्शनैः शनैः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ।।

मनु० ६ । ८१ ।।

इस प्रकार से धीरे-धीरे सब संग दोषों को छोड़, हर्ष-शोक, राग-द्वेष, हानि-लाभ, शीतोष्ण रूप सब द्वन्द्वों से विमुक्त होकर संन्यासी ब्रह्म ही में अवस्थित होता है।

इस प्रकार संन्यासियों का मुख्य कर्म यही है कि सब गृहस्थादि आश्रमों को सब प्रकार के धर्म व्यवहारों के सत्य [स्वरूप का] निश्चय करा, अधर्म-व्यवहारों से छुड़ा, सब संशयों का छेदन कर, सत्य-धर्मयुक्त व्यवहारों में [निरपेक्ष निर्भय हो सदा सबको] प्रवृत्त कराया करे।

प्रश्न—संन्यास ग्रहण करना ब्राह्मण ही का धर्म है वा क्षत्रियादि का भी ?

उत्तर—[मुख्यतः] ब्राह्मण ही को अधिकार है। क्योंकि जो सब वर्णों में पूर्ण विद्वान् धार्मिक परोपकारप्रिय मनुष्य है, उसी का **ब्राह्मण** नाम है। विना पूर्ण विद्या के, धर्म परमेश्वर की निष्ठा और वैराग्य के संन्यास ग्रहण करने में संसार का विशेष उपकार नहीं हो सकता। इसीलिए लोकश्रुति है कि ब्राह्मण को [ही] संन्यास का अधिकार है। मनु महाराज कहते हैं कि—

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राजधर्मं निबोधत ।। मनु० ।६।९७।।

हे ऋषियो ! यह चार प्रकार अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम करना ब्राह्मण का धर्म है। यह, यहां वर्तमान में पुण्य-स्वरूप, और शरीर छोड़े पश्चात् मुक्तिरूप अक्षय आनन्द का देनेवाला संन्यास धर्म है। स. प्र. २११।।

प्रश्न—संन्यास-ग्रहण की आवश्यकता ही क्या है ?

उत्तर—जैसे शरीर में शिर की आवश्यकता है, वैसे ही आश्रमों में संन्यासाश्रम की आवश्यकता है। क्योंकि इसके विना विद्या और धर्म कभी नहीं बढ़ सकता। क्योंकि इसके विना सत्योपदेश भी कोई नहीं कर

सका और दूसरे आश्रमों को विद्याग्रहण गृहकृत्य और तपश्चर्यादि का सम्बन्ध होने से अवकाश बहुत कम मिलता है। पक्षपात छोड़कर वर्त्तना दूसरे आश्रमों को दुष्कर है।

जैसा संन्यासी सर्वतोमुक्त होकर जगत् का उपकार करता है, वैसा अन्य आश्रमी नहीं कर सकता। क्योंकि संन्यासी को सत्यविद्या से पदार्थों के विज्ञान की उन्नति का जितना अवकाश मिलता है, उतना अन्य आश्रमी को नहीं मिल सकता। परन्तु जो ब्रह्मचर्य से संन्यासी होकर जगत् को सत्य-शिक्षा करके जितनी उन्नति कर सकता है, उतनी गृहस्थ वा वान-प्रस्थ आश्रम करके संन्यासाश्रमी नहीं कर सकता।[1]

प्रश्न—संन्यास-ग्रहण करना ईश्वर के अभिप्राय से विरुद्ध है। क्योंकि ईश्वर का अभिप्राय मनुष्यों की बढ़ती करने में है। जब गृहाश्रम नहीं करेगा, तो उससे सन्तान ही न होंगी। जब संन्यासाश्रम ही मुख्य है, और सब मनुष्य करें, तो मनुष्यों का मूलच्छेदन हो जाएगा।

उत्तर—अच्छा, विवाह करके भी बहुतों के सन्तान नहीं होते, अथवा होकर शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। फिर वह भी ईश्वर के अभिप्राय से विरुद्ध करने वाला हुआ। जो तुम कहो कि **'यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः'**[2] जो यत्न करने से भी कार्य सिद्ध न हो, तो इसमें किसका क्या दोष है? अर्थात् कोई भी नहीं। तो हम तुमसे पूछते हैं कि गृहा-श्रम से बहुत सन्तान होकर आपस में विरुद्धाचरण कर लड़ मरें, तो हानि कितनी बड़ी होती है? समझ के विरोध से लड़ाई बहुत होती है। जब संन्यासी एक वेदोक्तधर्म के उपदेश से सबमें परस्पर प्रीति उत्पन्न करा-वेगा, तो लाखों मनुष्यों को बचा देगा। गृहस्थ के समान [ही ईश्वर के अभिप्राय के अनुकूल] सहस्रों मनुष्यों की बढ़ती करेगा।

और सब मनुष्य संन्यास-ग्रहण कर ही नहीं सकते। क्योंकि सबकी विषयासक्ति कभी नहीं छूट सकेगी। [सबको पूर्ण विवेक और वैराग्य होना कठिन है। दूसरे, इस प्रकार] जो-जो संन्यासियों के उपदेश से धार्मिक मनुष्य होंगे, वे सब जानो संन्यासियों के पुत्र तुल्य ही हैं।

प्रश्न—संन्यासी लोग कहते हैं कि हमको कुछ कर्त्तव्य नहीं। अन्न-वस्त्र लेकर आनन्द में रहना। अविद्यारूप संसार में माथापच्ची क्यों

---

१. इस प्रश्न पर सविस्तर विचार गौतम न्याय दर्शन के ४। १। ५८-६१ के वात्स्यायन भाष्य में भी किया है॥

२. द्र० पञ्चतन्त्र, मित्रभेद कथा ४, श्लोक २१७॥

करना ? अपने को ब्रह्म मानकर सन्तुष्ट रहना। कोई आकर पूछे, तो उसको भी वैसा ही उपदेश कि—"तू भी ब्रह्म है, तुझको पाप-पुण्य नहीं लगता। क्योंकि शीतोष्ण धर्म, शरीर का; क्षुधा-तृषा, प्राण का और सुख-दुःख, मन का धर्म है। जगत् मिथ्या और जगत् के व्यवहार भी सब कल्पित अर्थात् झूठे हैं। इसलिए इसमें फंसना बुद्धिमानों का काम नहीं। जो कुछ पाप-पुण्य होता है, वह देह और इन्द्रियों का धर्म है; आत्मा का नहीं," इत्यादि करते रहते हैं। और आपने तो कुछ विलक्षण ही संन्यास का धर्म कहा है। अब हम किसकी बात सच्ची और किसकी झूठी मानें ?

उत्तर—क्या उनको अच्छे कर्म भी कर्त्तव्य नहीं ? देखो—**वैदिकैश्चैव कर्मभिः**' [मनु० ३। ७५] में मनुजी ने वैदिक कर्म, जो धर्मयुक्त सत्य कर्म हैं, संन्यासियों को भी अवश्य करना लिखा है। क्या भोजन-छादनादि कर्म वे छोड़ सकेंगे ? जो ये कर्म नहीं छूट सकते, तो उत्तम कर्म छोड़ने से वे पतित और पापभागी क्यों नहीं होंगे ? जब गृहस्थो से अन्न वस्त्रादि लेते हैं, और उनका प्रत्युपकार नहीं करते, तो क्या वे महा-पापी नहीं होंगे ? (स० प्र० २१२,२१३)

जैसे आँख से देखना, कान से सुनना न हो, तो आंख और कान का होना व्यर्थ है; वैसे ही जो संन्यासी सत्योपदेश और वेदादि-सत्य-शास्त्रों का विचार-प्रचार नहीं करते, तो वे भी जगत् में व्यर्थ भाररूप हैं। और जो अविद्यारूप संसार से माथापच्ची क्यों करना आदि लिखते और कहते हैं, वैसे उपदेश करने वाले ही मिथ्यारूप और पाप के बढ़ानेहारे पापी हैं। जो कुछ शरीरादि से कर्म किया जाता है, वह सब आत्मा ही का [किया होता है] और उसके फल को भोगनेवाला भी आत्मा है।

जो जीव को ब्रह्म बतलाते हैं, वे अविद्या-निद्रा में सोते हैं। क्योंकि जीव अल्प [अर्थात् एकदेशी], अल्पज्ञ,और ब्रह्म सर्वव्यापक सर्वज्ञ है। ब्रह्म नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभावयुक्त है, और जीव कभी बद्ध व कभी मुक्त रहता है। ब्रह्म को सर्व व्यापक सर्वज्ञ होने से भ्रम वा अविद्या कभी नहीं हो सकती, और जीव को [एकदेशी अल्पज्ञ होने से] कभी विद्या और कभी अविद्या होती है। ब्रह्म जन्म-मरण-दु.ख को कभी नहीं प्राप्त होता, और जीव प्राप्त होता है। इसलिए वह उनका उपदेश मिथ्या है।

प्रश्न—संन्यासी सर्वकर्म-विनाशी, होता है, यह बात सच्ची है वा नहीं ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि जो ब्रह्म और उसकी आज्ञा में उपविष्ट अर्थात् स्थित होना और जिससे दुष्ट कर्मों का त्याग किया जाय, वह संन्यास कहाता है। वैसा, 'ब्रह्म की आज्ञा में स्थिर हो, दुष्ट कर्मों के त्याग' का उत्तम स्वभाव जिसमें हो वह सुकर्म का कर्त्ता और दुष्ट कर्मों का नाश करनेवाला 'संन्यासी' कहाता है। [इसलिये संन्यासी को 'सर्वकर्म विनाशी' मानना ठीक नहीं]। स. प्र. २१४॥

प्रश्न अध्यापन और उपदेश तो द्विजों में विद्वान् ब्राह्मण गृहस्थ किया करते हैं। पुनः संन्यासी का क्या प्रयोजन है?

उत्तर—सत्योपदेश सब आश्रमी करें और सुनें। परन्तु जितना अवकाश और निष्पक्षपातता संन्यासी को होती है, उतनी गृहस्थों को नहीं। हां, जो ब्राह्मण हैं, उनका यही काम है कि पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को सदा सत्योपदेश किया और पढ़ाया करें। जितना भ्रमण का अवकाश संन्यासी को मिलता है, उतना गृहस्थ ब्राह्मणादिकों को कभी नहीं मिल सकता। और जब ब्राह्मण वेदविरुद्ध आचरण करें, तब उन का नियन्ता संन्यासी होता है। इसलिये संन्यास का होना उचित है।

प्रश्न—'एकरात्रिं वसेद् ग्रामे'[1] इत्यादि वचनों से संन्यासी को एकत्र अर्थात् एक स्थान में एक रात्रिमात्र रहना, अधिक निवास न करना चाहिए, ऐसा ज्ञात होता है। यह बात अच्छी है वा नहीं?

उत्तर—यह बात थोड़े से अंश में तो अच्छी है कि संन्यासी के एकत्र वास करने से जगत् का उपकार अधिक नहीं हो सकता। और स्थानान्तर का भी अभिमान होता है, राग-द्वेष भी अधिक होता है। परन्तु यदि कभी विशेष उपकार एकत्र अर्थात् कहीं एक स्थान में रहने से होता हो, तो रहे। जैसे जनक राजा के यहां, चार-चार महीने तक पञ्चशिखादि और अन्य संन्यासी कितने ही वर्षों तक निवास करते थे। और 'एकत्र न रहना' यह बात आजकल के पाखण्डी, स्वार्थी सम्प्रदायियों ने बनाई है। क्योंकि जो संन्यासी एकत्र अधिक रहेगा, तो हमारा पाखण्ड खण्डित होकर अधिक न वढ़ सकेगा (स. प्र. २१५)॥

प्रश्न—संन्यासी अग्नि तथा धातु को स्पर्श नहीं करते, यह बात सच्ची है वा नहीं? क्योंकि—

---

१. द्र. नारद-परिव्राजकोपनिषद्—**'एकरात्रं वसेद् ग्रामे'** उपदेश ४।१४॥ ऐसा ही गौतम धर्मसूत्र ३।११; संन्यासोपनिषद् अ. १; परमहंसपरिव्राजकोपनिषद् में है।

यतीनां काञ्चनं दद्यात्ताम्बूलं ब्रह्मचारिणाम् ।
चौराणामभयं दद्यात् स नरो नरकं व्रजेत् ।।[1]

इत्यादि वचनों का अभिप्राय यह है कि संन्यासियों को जो सुवर्ण धातु दान दे, तो दाता नरक को प्राप्त होवे ।

उत्तर—यह बात भी वर्णाश्रमविरोधी सम्प्रदायी और स्वार्थसिन्धु-वाले पौराणिकों की कल्पी अर्थात् बनाई हुई है। क्योंकि संन्यासियों को धन मिलेगा, तो वे हमारा खण्डन बहुत कर सकेंगे। और हमारी हानि होगी, तथा वे हमारे आधीन भी न रहेंगे। और जब भिक्षादि व्यवहार हमारे आधीन रहेगा, तो हमसे डरते रहेंगे। जब मूर्ख और स्वार्थियों को दान देने में अच्छा समझते हैं, तो विद्वान् और परोपकारी संन्यासियों को देने में कुछ भी दोष नहीं हो सकता। देखो—

विविधानि च रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत् । मनु० ।[2]

नाना प्रकार के रत्न सुवर्णादि धन 'विविक्त' अर्थात् संन्यासियों को देवें। और वह 'यतीनां काञ्चनं' श्लोक भी अनर्थक है। क्योंकि संन्यासियों को सुवर्ण देने से यदि यजमान नरकको जावे; तो क्या चाँदी, मोती, हीरा आदि देने से स्वर्ग को जायेगा ?

प्रश्न—यह पाठ ठीक नहीं। ऐसा है कि—**'यतिहस्ते धनं दद्यात्'** अर्थात् जो संन्यासियों के हाथ में धन देता है, वह नरक में जाता है।

(स. प्र. २१६) ।

उत्तर—यह भी वचन किसी अविद्वान् ने कपोलकल्पना से रचा है। क्योंकि जो हाथ में धन देने से दाता नरक को जाय, तो पग पर धरने वा गठरी बांधकर देने से स्वर्ग को जायगा। इसलिये ऐसी कल्पना मानने योग्य नहीं। हां, यह बात तो अवश्य है कि जो संन्यासी योगक्षेम से अर्थात् अपने जीवन धारण की आवश्यकता से अधिक धन रक्खेगा, तो चौरादि से पीड़ित और मोहित भी हो जायगा। परन्तु जो संन्यासी विद्वान् है, वह अयुक्त व्यवहार कभी न करेगा; न मोह में फंसेगा। क्योंकि वह प्रथम गृहाश्रम में अथवा ब्रह्मचर्य में सब भोग कर वा सब देख चुका है। और जो ब्रह्मचर्य से, संन्यासी होता है, वह पूर्ण वैराग्ययुक्त

१, **यतये काञ्चनं दत्त्वा ताम्बूलं ब्रह्मचारिणे ।**
चौरेभ्योऽप्यभयं दत्त्वा दाताऽपि नरकं व्रजेत् ।।लघुपरा. स्मृ १।५१।।

२. तुलना करो, मनु० ११ । ६—**धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत् । वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ।।**

होने से कभी मोह में नहीं फंसता। और कभी अयुक्त व्यवहार नहीं करेगा।

ऐसे ही संन्यासी के अग्नि को स्पर्श न करने की बात है। यह भी मिथ्या है। मनु० स्मृति [६। ४३] में संन्यासी को **'अनग्निरनिकेतः-स्यात्'** अर्थात् आहवनीयादि पांच अग्नियों से रहित और स्वाभिमत घर न बांधने वाला कहा है। इसका भाव 'अग्नि को स्पर्श न करने वाला' तथा 'विना छत के आतपवर्षा में रहने वाला' नहीं है।

(स. वि. पृ. २८४ के आधार पर)।[1]

इसी 'अनग्नि' पद से भ्रान्ति से पड़ के संन्यासियों का भी दाह नहीं करते और संन्यासी लोग अग्नि को नहीं छूते, यह पाप संन्यासियों के पीछे लग गया। यहां आहवनीयादि संज्ञक अग्नियों को छोड़ना है, स्पर्श वा दाहकर्म छोड़ना नहीं है॥ (स. वि. पृ. २८४ में ऋषिदया० प्रदत्त टिप्पणी)॥

प्रश्न—लोग कहते हैं कि श्राद्ध में यदि संन्यासी आवे वा उसको जो जिमावे, तो उसके पितर भाग जायें और नरक में गिरें।

उत्तर—प्रथम तो मरे हुए पितरों का आना, और किया हुआ श्राद्ध मरे हुए पितरों को पहुंचना ही असम्भव, वेद और युक्तिविरुद्ध होने से मिथ्या है। और जब वे आते ही नहीं, तो भाग कौन जायेंगे? जब अपने पाप-पुण्य के अनुसार ईश्वर की व्यवस्था से मरण के पश्चात् जीव जन्म लेते हैं, तो उनका आना कैसे हो सकता है? इसलिए यह भी बात पेटार्थी पुराणी और स्वार्थी वैरागियों की मिथ्या कल्पी हुई है। हां यह तो ठीक है, जहां संन्यासी जायेंगे, वहां यह मृतकश्राद्ध का पाखण्ड, वेदादि-शास्त्रों से विरुद्ध होने से दूर भाग जायेगा। (स० प्र० २१७)।

प्रश्न—जो ब्रह्मचर्य से संन्यास लेवेगा, उसका निर्वाह कठिनता से होगा, और काम वासना का रोकना भी अति कठिन है। इसलिये गृहाश्रम, वानप्रस्थ होकर जब वृद्ध हो जाय, तभी संन्यास लेना अच्छा है।

उत्तर—जो जीवन निर्वाह न कर सके, इन्द्रियों के वेग को न रोक सके, वह पुरुष ब्रह्मचर्य से संन्यास न लेवे। परन्तु जो रोक सके, वह संन्यास क्यों न लेवे? जिस पुरुष ने विषय के दोष और वीर्य-संरक्षण के गुण जाने हैं, वह विषयासक्त कभी नहीं होता। और उनका वीर्य विचार-

---

१, सत्यार्थ प्रकाश (पृ० २१४) में 'अग्नि स्पर्श न करें' प्रश्न का उत्तर आगे नहीं है। यह हमने सं, वि. के आधार पर बनाया है।

अग्नि का इन्धनवत् है, अर्थात् उसी में व्यय हो जाता है। जैसे वैद्य और औषधों की आवश्यकता रोगी के लिए होती है, निरोगी के लिए नहीं; इसी प्रकार जिस पुरुष वा स्त्री का विद्या-धर्मवृद्धि और सब संसार का उपकार करना ही प्रयोजन हो, वह विवाह न करे। जैसे पञ्चशिखादि पुरुष और गार्गी आदि स्त्रियां हुई थीं। इसलिए संन्यासी का होना अधिकारियों को उचित है। और जो अनधिकारी संन्यास ग्रहण करेगा, तो आप डूबेगा, औरों को भी डुबावेगा।

जैसे 'सम्राट्' चक्रवर्ती राजा होता है, वैसे 'परिव्राट्' संन्यासी होता है। प्रत्युत राजा अपने देश में वा स्वसम्बन्धियों में सत्कार पाता है, और संन्यासी सर्वत्र पूजित होता है (स. प्र. २१७,२१८)—

विद्वत्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ।।१।।

यह चाणक्य नीतिशास्त्र का श्लोक है।[1]

आप्त विद्वान् धार्मिक पुरुष और राजा की कभी तुल्यता नहीं हो सकती। क्योंकि राजा अपने राज्य ही में मान और सत्कार पाता है, और विद्वान् सर्वत्र मान और प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है।

इसलिये विद्या पढ़ने, सुशिक्षा लेने, और बलवान् होने आदि के लिए **ब्रह्मचर्य**; सब प्रकार के उत्तम व्यवहार सिद्ध करनेके अर्थ **गृहस्थ**; विचार ध्यान और विज्ञान बढ़ाने, तपश्चर्या करने के लिए **वानप्रस्थ**; और वेदादि सत्यशास्त्रों का प्रचार, धर्म-व्यवहार का ग्रहण और दुष्ट व्यवहार के त्याग, सत्योपदेश और सबको निःसन्देह करने आदि के लिए **संन्यासाश्रम** है।

प्रश्न—सब आश्रमियों का समान धर्म क्या है?[2]

उत्तर—धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।।

मनु० ६। ९२।।

इसलिए ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासियों को योग्य है कि प्रयत्न से दशलक्षणयुक्त निम्नलिखित धर्म का सेवन करें।

मनु० ६। ९१।।

---

१. चाणक्य-शतक ३, जीवानन्द विद्यासागर (कलकत्ता) मुद्रित संस्करण। चाणक्य नीति के लघु और वृद्ध दो प्रकार के पाठ तथा विविध संस्करणों में भिन्नता उपलब्ध होती है।

२. प्रसंग मिलाने के लिए प्रश्न का रूप हमने बनाया है।

पहिला लक्षण—(धृतिः) सदा धैर्य रखना। दूसरा—(क्षमा) जो कि निन्दा-स्तुति, मानापमान, हानि-लाभ आदि दुःखों में भी सहनशील रहना। तीसरा—(दमः) मन को सदा धर्म में प्रवृत्त कर अधर्म से रोक देना, अर्थात् अधर्म करने की इच्छा भी न उठे। चौथा—(अस्तेयं) चोरी त्याग, अर्थात् विना आज्ञा, वा छल कपट-विश्वासघात, वा किसी व्यवहार तथा वेदविरुद्ध उपदेश से परपदार्थ का ग्रहण करना चोरी, और उसको छोड़ देना साहूकारी कहाती है। पांचवां—(शौचं) राग-द्वेष पक्षपात छोड़के भीतर, और जल मृत्तिका मार्जन आदि से बाहर की पवित्रता रखनी। छठा—(इन्द्रियनिग्रहः) अधर्माचरणों से रोकके इन्द्रियों को धर्म ही में सदा चलाना। सातवां—(धीः) मादकद्रव्य, बुद्धिनाशक अन्य पदार्थ दुष्टों का संग, आलस्य-प्रमाद आदि को छोड़के श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन, सत्पुरुषों का संग, योगाभ्यास से बुद्धि का बढ़ाना। आठवां—(विद्या) पृथिवी से लेके परमेश्वर-पर्यन्त यथार्थज्ञान और उनसे यथायोग्य उपकार लेना विद्या, इससे विपरीत अविद्या है। नववां—(सत्यं) जैसा आत्मा में वैसा मन में, जैसा [मन में वैसा वाणी में, जैसा] वाणी में वैसा कर्म में वर्त्तना, अर्थात् जो पदार्थ जैसा हो, उसको वैसा ही समझना, वैसा ही बोलना और वैसा ही करना भी। तथा दशवां—(अक्रोधः) क्रोधादि दोषों को छोड़के शान्त्यादि गुणों को ग्रहण करना **धर्म का लक्षण है**। इस दश लक्षणयुक्त पक्षपातरहित न्यायाचरण धर्म का सेवन चारों आश्रम वाले करें। और इसी वेदोक्त धर्म ही में आप चलना, और दूसरों को समझा-कर चलाना संन्यासियों का विशेष धर्म है। स. प्र. २१०,२११॥

परन्तु जो इस संन्यास के मुख्य-धर्म सत्योपदेशादि नहीं करते, वे पतित और नरकगामी हैं। इससे संन्यासियों को उचित है कि वे सत्योपदेश शङ्कासमाधान, वेदादि-सत्यशास्त्रों का अध्यापन, और वेदोक्त धर्म की वृद्धि, अत्यन्त प्रयत्न अर्थात् पुरुषार्थ से करके, सब संसार की उन्नति किया करें (स. प्र. २१८)।

जो[1] वेद से विरुद्ध मतमतान्तर के ग्रन्थ बायबिल, कुरान, पुराण मिथ्याभिलाप तथा काव्यालङ्कार कि जिनके पढ़ने सुनने से मनुष्य विषयी और पतित हो जाते हैं, उन सबका निषेध करता रहे। विद्वानों और परमे-श्वर से भिन्न, न किसी देव तथा विद्या, योगाभ्यास, सत्सङ्ग और सत्यभा-षणादि से भिन्न, न किसी तीर्थ और विद्वानों की मूर्तियों से भिन्न पाषा-

१. यह वाक्य सं. वि. पृ. २८७ से लिया है।

णादि मूर्तियों को न माने, न मनवावे। वैसे ही गृहस्थों को माता, पिता, आचार्य, अतिथि, स्त्री के लिये विवाहित पुरुष और पुरुष के लिये विवाहित स्त्री की मूर्ति से भिन्न किसी मूर्ति को पूज्य न समझावे; किन्तु वैदिकमत की उन्नति और वेदविरुद्ध पाखण्डमतों के खण्डन करने में सदा तत्पर रहे।

प्रश्न—जो संन्यासी से अन्य साधु, वैरागी, गुसाईं, खाखी आदि हैं, वे भी संन्यासाश्रम में गिने जायेंगे वा नहीं ?

उत्तर—नहीं। क्योंकि उनमें संन्यास का एक भी लक्षण नहीं। वे वेदविरुद्ध मार्ग में प्रवृत्त होकर वेद से अधिक अपने सम्प्रदाय के आचार्यों के वचन मानते, और अपने ही मत की प्रशंसा करते, मिथ्या-प्रपञ्च में फंसकर अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को अपने-अपने मत में फंसाते हैं। सुधार करना तो दूर रहा, उसके बदले में संसार को वहका कर अधोगति को प्राप्त कराते, और अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। इसलिए इनको संन्यासाश्रम में नहीं गिन सकते। किन्तु ये स्वार्थाश्रमी तो पक्के हैं; इसमें कुछ संदेह नहीं।

ये चारों आश्रम वेदों और युक्तियों से सिद्ध हैं। क्योंकि सब मनुष्यों को अपनी आयु का प्रथम भाग [ब्रह्मचर्य व्रताभ्यास पूर्वक] विद्या पढ़ने में व्यतीत करना चाहिए और पूर्ण विद्या को पढ़कर उससे संसार की उन्नति करने के लिए [अपनी आयु के द्वितीय भाग में] गृहाश्रम भी अवश्य करें। तथा विद्या और संसार के उपकार के लिए एकान्त में बैठकर जगत् का अधिष्ठाता जो ईश्वर है, उसका ज्ञान [अपनी आयु के तृतीय भाग में वानप्रस्थ वन] अच्छी प्रकार करें। और मनुष्यों को सब धर्म व्यवहारों का उपदेश करें। फिर [अपनी आयु के चतुर्थ भाग में] उन मनुष्यों के सब सन्देहों का छेदन-संशय-निवारण और सत्य बातों के निश्चय कराने के लिए संन्यासाश्रम भी अवश्य ग्रहण करें। क्योंकि इसके विना सम्पूर्ण पक्षपात छूटना कठिन है (द्र.। ऋग्. वे. भा. भू, वर्णाश्रम-विषय)॥

जो स्वयं धर्म में चलकर सब संसार को चलाते हैं, जो आप और सब संसार को इस लोक अर्थात् वर्त्तमान जन्म में, परलोक अर्थात् दूसरे जन्म में स्वर्ग अर्थात् सुख का भोग करते-कराते हैं, वे ही धर्मात्मा-जन संन्यासी और महात्मा [कहाने के योग्य] हैं (स. प्र. २१९)॥

हे जगदीश्वर सर्वशक्तिमन् ! सर्वान्तर्यामिन् ! दयालो ! न्यायकारिन् ! सच्चिदानन्दानन्त नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव ! अजर, अमर पवित्र परमात्मन् ! आप अपनी कृपा से संन्यासियों को पूर्वोक्त कर्मों में प्रवृत्त रखके परम मुक्ति सुख को प्राप्त कराते रहिये (सं. वि. २८८) ॥

यह संक्षेप से संन्यासाश्रम की शिक्षा लिखी । अब इसके आगे राज-प्रजाधर्म विषय लिखा जायेगा ।

इति पञ्चमः प्रवाहः

षष्ठः प्रवाहः

अथ राजधर्मान् व्याख्यास्यामः

अब चारों वर्णों और चारों आश्रमों के व्यवहार-कथन के पश्चात् राजधर्मों को कहेंगे कि राजा अर्थात् सभाध्यक्ष कैसा होना चाहिए। इसका संभव,[1] तथा इसको परमसिद्धि[2] कैसे प्राप्त होवे ?

'ब्राह्म' अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति के आधाररूप संस्कार से युक्त[3] विद्वान् सुशिक्षित होकर क्षत्रिय को योग्य है कि वह इस सब राज्य की पूर्ण रक्षा, न्याय से यथावत् करे। 'मनुः ७।१,२ के अनुसार स. प्र. ६ समु. २२०)।

राजा—उस 'क्षत्रिय वर्ण' के पुरुष को कहते हैं—"जो शुभ गुण कर्म स्वभाव से प्रकाशमान, पक्षपात रहित न्याय धर्म का सेवी, प्रजाओं में पितृवत् वर्ते और उनको पुत्रवत् मान के उनकी उन्नति और सुख बढ़ाने में सदा यत्न किया करे (स्व. म. प्र. १७)।

प्रजा—उसको कहते हैं कि "जो पवित्र गुण-कर्म-स्वभाव का धारण करके, पक्षपात रहित न्याय-धर्म के सेवन से राजा और प्रजा की उन्नति चाहती हुई, राजविद्रोह रहित राजा को पिता मान उसके साथ पुत्रवत् वर्ते"। (स्व. म. प्र. १८)।

आगे वेद मन्त्रों से राजधर्म के प्रकार का विधान किया जाता है।

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि ॥

ऋ० ३।३८।६।

(राजाना) जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र सब मूर्त्त द्रव्यों के प्रकाशक होते हैं, उसी प्रकार सूर्य चन्द्र स्वभाव वाले राजा और प्रजा के भद्र पुरुष दोनों मिलके तथा प्रकाश और न्याय से युक्त दो प्रकार के व्यवहार, (विदथे) सुखप्राप्ति और विज्ञानवृद्धिकारक राजा-प्रजा के सम्बन्ध रूप व्यवहार में अथवा संग्रामादि कार्यों में (त्रीणि सदांसि) तीन सभा, अर्थात्

---

१. अर्थात् निर्वाचन व अभिषिञ्चन=नियुक्ति की प्रक्रिया

२. राज्य प्रशासन की सफलता

३. 'ब्रह्म' व 'ब्राह्मी' पद के लिए द्र. स. प्र.। ३ समु.। 'ब्राह्मीयं क्रियते तनुः'।

विद्यार्यसभा, धर्मार्यसभा, राजार्यसभा नियत करके (पुरूणि) बहुत प्रकार के (विश्वानि) समग्र प्रजा-सम्बन्धी मनुष्यादि प्राणियों को और सब पदार्थों को (परिभूषथः) सब ओर से विद्या स्वातन्त्र्य धर्म सुशिक्षा और धनादि से अलंकृत करें। [तथा पर्याप्त रूप से सिद्ध करें]। अर्थात् तीन प्रकार की सभा नियत कर, इन्हीं से संसार की सब प्रकार उन्नति करें।[1]

(प्रश्न) राष्ट्र में शासन व्यवस्था के संचालन के लिए कितने प्रकार की सभाएं होना योग्य है?

(उत्तर) सभायें तीन प्रकार की होती हैं। पहली—'राजार्यसभा'; इसमें विशेषकर राजकार्य ही होते हैं। तीनोंमें यह राजार्यसभा ही मुख्य होती है (उप. म. व्या. ६)। दूसरी—'विद्यार्यसभा'; इसमें विशेषतः विद्या के प्रचार और उसकी उन्नति के कार्य ही होते हैं। और तीसरी—'धमार्यसभा'; इसमें विशेषकर, उपदेश द्वारा [राज्य] में धर्म की उन्नति और अधर्म का नाश किया जाना चाहिए। ये तीन सभायें मिल कर ही प्रजाओं में सब उत्तम व्यवहारों का प्रचार व [प्रचलन] करें। ऋ. वे. भा. भू.। राजप्रजाधर्म विषये)।

महाविद्वानों को विद्यासभाधिकारी, धार्मिक विद्वानों को धर्मसभाधिकारी, प्रशंसनीय धार्मिक पुरुषों को राजसभा के सभासद्, और जो उन सबमें सर्वोत्तम गुणकर्म-स्वभावयुक्त महान् पुरुष हो, उसको राजसभा का पतिरूप मानके सब प्रकार से उन्नति करें। तीनों सभाओं की सम्मति राजनीति के उत्तम नियम और नियमों के अधीन सब लोग वर्तें। सबके हितकारक कामों में सम्मति करें। सर्वहित करने के लिए परतन्त्र, और धर्मयुक्त कामों में अर्थात् जो-जो निज के काम हैं, उन-उन में स्वतन्त्र रहें। (स. पु. २२३)॥

तं सभा च समितिश्च सेना च ॥१॥ अथर्व १५।९।२॥
सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ॥२॥
अथर्व १९।५५।६॥

(तम्) उस राजधर्म अर्थात् जो कि 'संसार में न्याय धर्म के साथ राज्य-पालनादि किया जाता है, उस व्यवहार' को (सभा च) तीनों सभा

१. यह सारा विषय ऋषिदया. कृत सत्या. प्र.; सं. वि.; ऋ. वे. भा. भू. व पूना-प्रवचन=उप. मं. की एतद्विषयक सामग्री के आधार पर मिलाकर लिखा है, स्पष्टार्थता के लिए ॥

(समितिश्च)[1] संग्रामादि की व्यवस्था और (सेना च) सेना मिलकर पालन करें। राजा अर्थात् राजसभाध्यक्ष सब सभासदों को आज्ञा देवे कि–हे (सभ्य) सभा के योग्य मुख्य सभासद्! तू (मे) मेरी (सभाम्) तीन सभा, विशेषतः राजसभा की धर्मयुक्त व्यवस्था का (पाहि) पालन अर्थात् रक्षा और उन्नति किया कर। और (ये च) जो आप (सभ्याः) सभा के योग्य धार्मिक आप्त विद्वान् (सभासदः) सभासद् हैं, वे भी सभा की धर्मयुक्त व्यवस्था का पालन अर्थात् सभा की योजना रक्षा और उससे सब की उन्नति किया करें।

इसका अभिप्राय यह है कि एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देना चाहिए। किन्तु राजा जो सभापति, तदाधीन सभा; समाधीन राजा; राजा और सभा दोनों प्रजा के आधीन, और प्रजा, राजसभा के आधीन रहे।

(प्रश्न) यदि ऐसा न करोगे, तो क्या होगा?

(उत्तर) राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः। विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशुं मन्यत इति॥

शत० कां० १३ अनु० २। ब्रा०।३॥

जो प्रजा से स्वतन्त्र स्वाधीन राजवर्ग रहे, तो (राष्ट्रमेव विश्याहन्ति) राज्य में प्रवेश करके वे प्रजा का नाश किया करें। क्योंकि अकेला राजा स्वाधीन वा उन्मत्त होके (राष्ट्री विशं घातुकः) प्रजा का नाशक होता है, अर्थात् (विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति) वह राजा प्रजा को खाये जाता (अत्यन्त पीड़ित करता) है। इसलिए किसी एक को राज्य में स्वाधीन न करना चाहिए। (न पुष्टं पशुं मन्यते) जैसे सिंह वा मांसाहारी हृष्ट-पुष्ट पशु को मार कर खा लेते हैं, वैसे (राष्ट्री) स्वतन्त्र राजा (विशमत्ति) प्रजा का नाश करता है, अर्थात् किसी को अपने से अधिक न होने देता। श्रीमान् धनीमानी व्यभिचारी वर्ग को लूट-खूंट अन्याय से दण्ड लेके अपना प्रयोजन पूरा करेगा।

(प्रश्न) किन गुणों से युक्त पुरुष को राजा अर्थात् सभाध्यक्ष स्वीकार करना चाहिए।

---

१. अथवा भिन्न-भिन्न विभागों की समितियाँ—शासकमण्डल या आयोग।
२. अर्थात् विधानसभाओं के मुख्य अधिकारी अध्यक्ष आदि।

(उत्तर) 'इसलिए, हे शूरवीर मनुष्यों, विद्वानों राजप्रजाजनों ? जो परम तेजस्वी व ऐश्वर्य का कर्त्ता, शत्रु-विरोधी को जीत सके, पर स्वयं उनसे पराजित=पराभूत न हो, माण्डलिक राजा=शासकों में अपने सत्य तेज और न्याय के साथ सर्वोपरि विराजमान होकर सदा प्रकाशमान प्रसिद्ध हो, सभापति होने के योग्य, प्रशंसनीय गुण-कर्म-स्वभाव युक्त, सत्करणीय, प्रजा द्वारा समीप आने तथा शरण लेने योग्य, सबके 'अन्न' व 'दण्ड'=न्याय व्यवस्था' करने के कारण सबके मान-नमस्कार के योग्य हो'[2] तुम इस प्रकार के पुरुष को, (महते क्षत्राय)[3] बड़े चक्रवर्त्ती राज्य और सर्वोत्तम राज्य प्रबन्ध, (महते ज्यैष्ठाय) सबसे बड़े=प्रभावशाली होने (महते जानराज्याय) सब प्रजा=जन समुदाय को विद्वान् करके उन्हें ठीक ठीक राज्य व्यवस्था में चलाने अथवा बड़े-बड़े विद्वानों द्वारा राज्यपालन के लिए और (इन्द्रस्य, इन्द्रियाय) सूर्य के प्रकाश के समान बड़े ऐश्वर्य सत्य न्याय व्यवहार के प्रकाश करने के अर्थ और [अज्ञान, अभाव तथा] अन्यायान्धकार के विनाश के लिए अथवा (इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्ययुक्त राज्य एवं धनैश्वर्य के (इन्द्रियाय) [चक्षु आदि इन्द्रियों के रूप आदि विषयों के ग्रहण करने के समान, संग्रह कर] पालने के लिए, इस प्रजा के लिए, प्रसिद्ध नाम वाले पुरुष व प्रख्यातनाम स्त्री के पुत्र को, सम्मति करके सर्वत्र पक्षपात रहित, पूर्ण विद्यायुक्त, सबके मित्र सभापति राजा को, राज्य पर अभिषिक्त करो और अध्यक्ष स्वीकार कर, ऐसे अच्छे-अच्छे राज्य सम्बन्धी प्रबन्ध करो; जिससे कि सब मनुष्यों का उत्तम सुख बढ़ता जाय और राजा को सर्वाधीश मान सब भूगोल को शत्रुरहित करो। हे सभासदो ! तुम सब भी ऐसा जानो और सब प्रजा के लोगों को भी यही बात सुनानी चाहिए कि यह जो हम वेदज्ञसभासदों में से, सौम्य गुण से

---

१. ऋषि दयानन्द द्वारा उद्धृत मंत्रों के आधार पर यह लेख लिखा है। मंत्र नीचे मुद्रित हैं। ऋषि दयानन्द ने स. प्र. ६ समु. पृ. (२२२) तथा ऋग्वेद. भा. भू, दोनों में ये दोनों मन्त्र दिये हैं। हमने दोनों स्थलों को मिलाकर यह प्रकरण लिखा है। इससे विषय अधिक स्पष्ट व सुबोध व एकात्मक हो गया है।

२. इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयातै।
चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह ॥१॥ अथर्व० ६।९८।१॥

३. इमं देवा असपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठयाय।
महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा॥ यजु० ९।४०॥

सम्पन्न होकर सम्पूर्ण विद्याओं से युक्त सभाध्यक्ष रूप से जो स्वीकृत हुआ है, वह '**सभासद्** हमारा और तुम्हारा '**राजसभा व्यवहार में राजा**' है।

(प्रश्न)—कैसे पुरुष को राजा अध्यक्ष स्वीकार नहीं करना चाहिए?

(उत्तर)—इस विषय में वेद में लिखा है कि—

हे सबको उत्तम राज्यप्रबन्ध व सत्य न्याय व्यवहार में प्रेरित करने हारे सर्वाधीश राजन्! (इषे) सब प्रजा के लिए अन्नादि उत्तम उत्तम इष्ट जीवन साधनों और (ऊर्जे) उनके उत्पादन, रक्षण व भोग के जुटाने के निमित्त बलयुक्त क्रिया के लिए (त्वा) तेरे पास (वायवः) सब क्रियाओं को सिद्ध कराने हारे वायु की तरह सबका स्पर्श कर प्राण देने वाले सभासद् (स्थ) हैं। यह जो प्रजाजनों का (देवः) सब सुख-सुविधाओं का देने हारा तथा सब विद्या का प्रसिद्ध करने वाला (सविता) सम्पूर्ण ऐश्वर्य युक्त, सबको उत्तम राज्य व्यवस्था में प्रेरित करने वाला 'राजा' है, वह इन वायुवत् प्रजा में घूमने वाले सभासदों द्वारा 'इष्' और 'ऊर्ज' को (प्रार्पयतु) अच्छी प्रकार से प्रजा से संयुक्त करावे, सबको लाभ पहुंचावे, हे प्रजाजनो! तुम (श्रेष्ठतमाय कर्मणे) अत्युत्तम सर्वोपकारक कर्मों के लिए (आप्यायध्वम्) फैल जाओ, उन्नति को प्राप्त होवो तथा हम भी हों। ये (अघ्न्याः) कभी हिंसा न करने योग्य उन्नतिकारक गो आदि पशु व 'तमाखू, भाँग आदि बोकर विकृत न किये जाने योग्य भूखण्ड' हैं, जो कि (प्रजावतीः) उत्पादन सामर्थ्ययुक्त (अनमीवाः) व्याधि तथा हिंसक प्राणीरहित (अयक्ष्माः) राजयक्ष्मारोग रहित अथवा उपज के नाशक कीटाणुरहित हैं, ये (इन्द्राय) इस राजा के (भागं) सेवा करने योग्य धन और ज्ञान हैं अर्थात् षड्विध ऐश्वर्य को देने हारे हैं। **हम और तुम, सबको दुःख देने के लिए (स्तेनः) चोर, डाकू, दस्यु, अनार्य तथा (अघशंसः) पाप कर्मों व दुष्कर्मियों की प्रशंसा करने अर्थात् साथ देने वाला पुरुष (मा ईशत) कभी शासन न करे, अर्थात् ऐसा पुरुष हमारा राजा सभाध्यक्ष सर्वाधीश कभी न बने।** (अस्मिन् गोपतौ) इस धार्मिक गो पृथिवी आदि पदार्थों की रक्षा चाहने वाले एवं वेदविद्या के पालने हारे सज्जन राजा के समीप यह 'अघ्न्या गौ' (बह्वीः) विशाल संख्यायुक्त और (ध्रुवाः) निश्चल सुख की हेतु (स्यात) हों। हे राजन्! आप (यजमानस्य) परमेश्वर और सर्वोपकारक सत्य न्याययुक्त धर्म के सेवन करने हारे जन-गण के (पशून्) प्रजा सन्तान, गवादि पशु तथा लक्ष्मी को (पाहि) निरन्तर

रक्षा कीजिए, जिससे इन पदार्थों के हरने को पूर्वोक्त दुष्ट पुरुष समर्थ न हों।[१]

प्रश्न पुनः उस सभापति के गुण व कर्म कैसे होने चाहिए—

उत्तर—इन्द्राऽनिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥

मनु० ७।४॥

वह [राष्ट्र का सर्वोच्च शासक] सभेश राजा, इन्द्र अर्थात् **'विद्युत्'** के समान शीघ्र ऐश्वर्यकर्त्ता, अनिल अर्थात् **'वायु'** के समान सबके प्राणवत् प्रिय, और हृदय की बात जानने हारा, यम अर्थात् **'मृत्यु'**, उस पक्षपातरहित न्यायाधीश के [सदृश सब प्रजा से] समान वर्त्तनेवाला, अर्क अर्थात् **'सूर्य'** के समान न्याय धर्म विद्या का प्रकाशक तथा अन्धकार अर्थात् अविद्या अन्याय का निरोधक, [तथा नियमपूर्वक गति-व्यवहार करने वाला], **'अग्नि'** के समान दुष्टों [व प्रजापीड़कों] को भस्म करनेहारा, **'वरुण'** अर्थात् बांधनेवाले के सदृश दुष्टों को अनेक प्रकार से बांधने वाला, **'चन्द्र'** के तुल्य श्रेष्ठ पुरुषों को आनन्ददाता, कुबेर=**'धनाध्यक्ष'** के समान कोशों का पूर्ण करनेवाला होवे। धर्मप्रकाशक, धनवर्द्धक, दुष्टों का बन्धनकर्त्ता, बड़े ऐश्वर्यवाला होवे, वही पुरुष सभाध्यक्ष सभेश होने के योग्य है। (स. प्र. २२४)॥

प्रश्न—सच्चा राजा अर्थात् शासन करनेहारा कौन है?[२]

उत्तर—यथार्थ में जो दण्ड[३] है, वही पुरुष राजा, वही न्याय का प्रचारकर्त्ता, और सबका शासनकर्त्ता; वही चारवर्ण और चार आश्रमों के धर्म का प्रतिभू अर्थात् जामिन कहा गया है।

वह दण्ड ही, प्रजा का शासनकर्त्ता है, वही सब प्रजा का रक्षक है। वही सोते हुए प्रजास्थ मनुष्यों में उनकी रक्षा करता, जागता है। इसीलिए बुद्धिमान लोग दण्ड ही को धर्म कहते हैं।

---

१. विषय को वैदिक आधार देने व प्रकरण मिलाने के लिए यह प्रकरणानुकूल अर्थ हमने कल्पित किया है।

इषे त्वोर्ज्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा वः स्तेन ईशत माघशᳬंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि। यजुः १।१॥

२. मनु० ७।१७,१९,२४–२८,३०,३१ के आधार पर॥

३. दण्ड अर्थात् दृढ़ सुस्थिर पक्षपातरहित न्याययुक्त सीधा कठोर शासन।

यदि दण्ड अच्छे प्रकार विचार से धारण=प्रयुक्त किया जाय, तो वह सब प्रजा को आनन्दित कर देता है। और जो विना विचारे चलाया जाय, तो सब ओर से राजा और प्रजा का विनाश कर देता है।

विना दण्ड के सब वर्ण दूषित भ्रष्ट और धर्म की सब मर्यादा छिन्न-भिन्न हो जाती है। दण्ड के यथावत् न होने से, सब लोगों का प्रकोप हो जावे [अर्थात् जनता में असन्तोष व अशान्ति होने से उपद्रव होने लगते हैं] ॥

जहां यह कृष्णवर्ण रक्तनेत्र भयंकर पुरुष के समान [दिखने वाला] पापों का नाश करनेहारा दण्ड विचरता है, वहां प्रजा मोह को प्राप्त न होके आनन्दित होती है। परन्तु ऐसा तभी होता है, यदि दण्ड का चलाने वाला पक्षपातरहित विद्वान् हो।

जो सत्यवादी, यथायोग्य विचार करके राज्यव्यवहार करनेहारा, बुद्धिमान्, और धर्म अर्थ और काम की सिद्धि करने में चतुर राजा है, उसी को उस दण्ड का सम्यग् चलानेहारा अर्थात् समुचित प्रयोक्ता विद्वान् लोग कहते हैं।

दण्ड को अच्छे प्रकार जो राजा चलाता है, वह त्रिवर्ग अर्थात् धर्म अर्थ और काम की सिद्धि से राज्यश्री व प्रजा सुख को बढ़ाता है। और जो विषय में लम्पट, विषम अर्थात् कुटिल ईर्ष्या करनेहारा, क्षुद्र अर्थात् नीचबुद्धि, राजा और न्यायाधीश होता है, वह दण्ड से ही मारा जाता है।

यह दण्ड बड़ा तेजोमय है; अकृतात्मा अर्थात् अविद्वान् अधर्मात्मा पुरुष इसको धारण नहीं कर सकता; वह दण्ड धर्म से रहित न्यायमार्ग से विचलित राजा ही का [कुटुम्ब सहित] नाश कर देता है।

जो पुरुष आप्त पुरुषों के सहाय व विद्या-सुशिक्षा से रहित है, मूढ़ लोभी और अधर्मात्मा, विषयों में आसक्त है, वह न्याय से दण्ड को चलाने में समर्थ कभी नहीं हो सकता।

और जो पवित्र आत्मा, सत्याचार और सत्पुरुषों का सङ्गी, यथावत् नीतिशास्त्र के अनुकूल चलनेहारा, श्रेष्ठ पुरुषों के सहाय से व विद्या-सुशिक्षा से युक्त बुद्धिमान् राजा है, वही न्यायरूपी दण्ड के चलाने में समर्थ होता है। स. प्र. २२६ ॥

इसलिये—

(सैनापत्यं) सब सेना और इनकी व्यवस्था के लिये सेनापतियों की नियुक्ति, (राज्यं) इस सेना-मण्डल के ऊपर राज्याधिकार, (दण्डने-

तृत्वं) दण्ड देने की व्यवस्था के सब कार्यों का आधिपत्य, और (सर्वलोकाधिपत्यं) सबके ऊपर वर्तमान सर्वाधीश राज्याधिकार, इन चारों अधिकारों में सम्पूर्ण वेद-शास्त्रों में प्रवीण, पूर्ण विद्यावाले धर्मात्मा जितेन्द्रिय सुशील जनों को स्थापित करना चाहिये। अर्थात् मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य न्यायाधीश और प्रधान राजा ये चार सब विद्याओं में पूर्ण विद्वान् होने चाहिये।[1]

(दशावरा) न्यून से न्यून दश विद्वानों, अथवा (त्र्यवरा) बहुत न्यून हों, तो तीन विद्वानों की परिषद्=सभा[2] जैसी व्यवस्था करे, उस धर्म अर्थात् व्यवस्था का उल्लंघन कोई भी न करे (स. प्र.) जो इससे निश्चित कर्म हों, उनका भी आचरण सब लोग करें। (सं. वि.)॥

इस सभा में चारों वेद, न्यायशास्त्र, निरुक्त, धर्मशास्त्र आदि के वेत्ता दश विद्वान् सभासद् हों; परन्तु वे ब्रह्मचारी गृहस्थ और वानप्रस्थ हों। तब वह सभा कहाती है उन दशों में इस प्रकार के विद्वान् होवें—तीन-चारों वेदों के विद्वान्, चौथा हैतुक अर्थात् कारण-अकारण का ज्ञाता, पांचवां तर्की न्यायशास्त्रवित्, छठा निरुक्त का जानने हारा, सातवां धर्मशास्त्रवित् आठवां ब्रह्मचारी, नववां गृहस्थ और दशवां वानप्रस्थ इन महात्माओं की सभा होवे। इसका नाम 'दशावरापरिषद्' है।

तथा ऋग्वेदवित् यजुर्वेदवित् और सामवेदवित् इन तीनों विद्वानों की भी सभा धर्मसंशय अर्थात् सब व्यवहारों के निर्णय के लिए होनी चाहिए; इसका नाम 'त्र्यवरापरिषद्' है।

द्विजों में उत्तम अर्थात् चतुर्थाश्रमी संन्यासी अकेला भी, जिस धर्म व्यवहार के करने का निश्चय व्यवस्था करे, वही परम धर्म समझना

---

१. मनु० १२।१००,११०-११५ के आधार पर।

क. ऋषियों के उपदेशानुसार कोई राजा अर्थात् शासक प्रधान-मन्त्री वा राष्ट्रपति व अन्य राज्य अधिकारी वेदविद्या-विहीन न होने चाहिए।

ख. उप० मंजरी व्या० ७ में—"राज्य में चार प्रकार के होते थे—राज्याधिकारी (=शासन व प्रबन्ध), सेनाधिकारी (=सैनिक व्यवस्था)' न्याया- (=न्यायव्यवस्था) और कोषाधिकारी (=अर्थव्यवस्था) ऐसे चार महकर्मे के चार अधिकारी" होने की बात ऋषि दयानन्द ने लिखी है।

२. अर्थात् कार्यवाहक मण्डल रूप समितियाँ।

३. इतना भाग स. वि. से लिखा है। स. प्र. में भी है।

चाहिए। किन्तु अज्ञानियों के सहस्रों लाखों और क्रोड़ह पुरुष मिलकर जो धर्म व्यवस्था करें, उसको धर्मव्यवहार कभी न मानना चाहिए। किन्तु धर्मात्मा विद्वानों और विशेष परमविद्वान् संन्यासी का वेदादि प्रमाणों से कहा हुआ धर्म ही सबको मानने योग्य है। भाव यह है कि—

यदि सभा में मतभेद हो, तो बहुपक्षानुसार मानना और समपक्ष में उत्तमों की बात स्वीकार करनी और दोनों पक्ष वाले बराबर उत्तम हों, तो वहां संन्यासियों की सम्मति लेनी। जिधर पक्षपात रहित सर्व हितैषी संन्यासियों की सम्मति होवे, वही व्यवस्था उत्तम समझनी चाहिए।[1]

जो ब्रह्मचर्य-सत्यभाषणादि, व्रत, वेदविद्या वा विचार से रहित जन्ममात्र से शूद्रवत् वर्तमान है, उन सहस्रों मनुष्यों के मिलने से भी कोई सभा, वस्तुतः सभा नहीं कहाती॥

जो अविद्या अन्धकार से युक्त मूर्ख, वेदों के धर्म को कहें, उसको कभी न मानना चाहिए। क्योंकि जो मूर्खों के कहे हुए धर्म के अनुसार चलते हैं, उनके पीछे सैकड़ों प्रकार के पाप लग जाते हैं।

इसलिए तीनों अर्थात् विद्यासभा, धर्मसभा और राजसभाओं में मूर्खों को कभी भरती न करें[1]; किन्तु सदा विद्वान् और धार्मिक पुरुषों का स्थापन करें। स. प्र. २२७,२२८॥

(प्रश्न)—कोई पुरुष राजा और राजसभा के सभासद् कब हो सकते हैं?

(उत्तर)—राजा और राजसभा के सभासद् तब हो सकते हैं, कि जब वे चारों वेदों की कर्मोपासना-ज्ञान विद्याओं के जानने वाले विद्वानों से, तीनों विद्या, सनातन दण्डनीति, न्यायविद्या, आत्मविद्या अर्थात् परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव रूप को यथावत् जानने रूप ब्रह्मविद्या और लोक [-व्यवहार लोकाचार व जनसम्पर्क] से वार्ताओं का आरम्भ (कहना और पूछना) सीख कर योग्य बन जावें॥

उनको चाहिए कि इन्द्रियों को जीत अपने वश में रखके सदा धर्म में वर्तें, और अधर्म से हटे-हटाए रहें। नियत समय में योगाभ्यास कर जितेन्द्रिव कि अपनी इन्द्रियों (जो मन, प्राण और शरीर रूप प्रजा है, इस) को जीतने वाला ही प्रजा को वश में कर सकता है। क्योंकि अपने

---

१. मनु० के श्लोक तथा ग्रन्थकार के निर्देश से स्पष्ट है कि राज्यसभाओं आदि के लिए साम्प्रतिक लोकतान्त्रिक मानी जाने वाली चुनाव पद्धति अयुक्त है। इससे अयोग्य व्यक्ति भी राजसभाओं में पहुंच जाते हैं।

अन्दर की इस प्रजा को जीते विना बाहर की प्रजा को अपने वश में स्थापन करने को समर्थ कभी नही हो सकता।

इनको चाहिए कि दृढ़ोत्साही होकर, जो **'काम'** से दस और **'क्रोध'** से आठ अन्त में दुःख देने वाले दुष्ट व्यसन हैं कि जिनमें फंसा हुआ मनुष्य इनसे कठिनता से निकलता है, उनको प्रयत्न से छोड़ और छुड़ा देवे।

क्योंकि जो राजा काम से उत्पन्न हुए दश दुष्ट व्यसनों में फंसता है, वह अर्थ अर्थात् राज्य धनादि और धर्म अर्थात् न्याय करने से रहित हो जाता है। और जो क्रोध से उत्पन्न हुए आठ बुरे व्यसनों में फंसता है, वह शरीर से भी रहित हो जाता है। स. प्र. २२९॥

काम से उत्पन्न हुए व्यसन गिनाते हैं। देखो—मृगया अर्थात् शिकार खेलना, अक्ष अर्थात् चोपड़ खेलना, जुवा खेलनादि[1], दिनमें सोना, परीवाद=कामकथा अर्थात् व्यर्थ हंसी ठट्ठा व मिथ्यावाद दूसरे की निन्दा किया करना, स्त्रियों का अति संग कर उनमें मोहित रहना, मादक द्रव्य अर्थात् मद्य अफीम, गांजा, भांग, चरस आदि का सेवन, गाना-वजाना, नाचना वा नाच कराना, सुनना और इनको देखना, वृथा इधर-उधर घूमते रहना, ये दश कामोत्पन्न व्यसन हैं। अर्थात् ये दश दुर्गुण काम से होते हैं।

क्रोध से उत्पन्न व्यसनों को गिनाते हैं—'पैशुन्य' अर्थात् चुगली करना, 'साहस' बिना विचारे वलात्कार से किसी की स्त्री से बुरा काम करना या बिना विचारे काम कर बैठना, 'द्रोह' जिस किसी से वृथा बैर बांधे रखना, 'ईर्ष्या' अर्थात् दूसरे की बड़ाई वा उन्नति देखकर स्तुति सुन कर हृदय में जला करना, 'असूया' दूसरों के दोषों में गुण, गुणों में दोषारोपण करना, 'अर्थदूषण' अर्थात् अधर्मयुक्त बुरे कर्मों में धन आदि का व्यय करना, 'वाग्दण्ड' कठोर वचन बोलना, और 'पारुष्य' बिना विचारे या बिना अपराध किसी को कड़ा वचन कहना वा विशेष कड़ा दण्ड देना, ये आठ दुर्गुण क्रोध से उत्पन्न होते हैं।

जिसको[1], सब विद्वान् लोग इन कामज और क्रोधज अठारह

---

१. इसलिए, चाहे वह राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही क्यों न हो, परन्तु ऐसे 'काम-क्रोध-लोभ' से युक्त दोष वाले मनुष्य को राजा अर्थात् सभाध्यक्ष कभी न करना चाहिए। यदि भूल से हुआ भी हो, तो उसको राज्य अर्थात् शासनाधिकार से च्युत करके किसी योग्य पुरुष को, जो कि क्षत्रिय अर्थात् राजा के कुल का हो, राज्याधिकारी नियुक्त करना चाहिए, तभी प्रजा में आनन्द मङ्गल सदा बढ़ता रहेगा। (सं. वि. पृ. २२० के अनुसार)।

दुर्व्यसनों, दोषों का मूल जानते हैं कि जिससे ये सब दुर्गुण मनुष्य को लग जाते हैं, उस लोभ को प्रयत्न से राजा जीते, अर्थात् लोभ को छोड़े ।।

काम के व्यसनों में बड़े दुर्गुण—(पान) एक—मद्यादि अर्थात् मदकारक द्रव्यों का सेवन, (अक्ष) दूसरा—पासों आदि से जुवा खेलना, (स्त्री) तीसरा—स्त्रियों का विशेष संग, और (मृगया) चौथा—शिकार खेलना, ये चार महादुष्ट व्यसन हैं ।।

और क्रोध के व्यसनों में बड़े दुर्गुण–(दण्डपातन) विना अपराध दण्ड देना, (वाक्पारुष्य) कठोर वचन वोलना, और (अर्थदूषण) धनादि का अन्याय अधर्म से संचय और अन्याय दुराचार में खर्च करना, ये तीन क्रोध से उत्पन्न हुए वड़े दुःखदायक दोष हैं।

जो ये सात दुर्गुण, कामज और क्रोधज दोनों दोषों में गिने हैं, इनमें से पूर्व-पूर्व अर्थात् व्यर्थ व्यय से, कठोर वचन; कठोर वचन से, अन्याय से दण्ड देना; इससे मृगया खेलना, इससे स्त्रियों का अत्यन्त संग, इससे जुवा अर्थात् द्यूत करना और इससे भी मद्यादि सेवन करना बड़ा दुष्ट व्यसन है।

इसमें यह निश्चय है कि दुष्ट व्यसन में फंसने से मर जाना अच्छा है। क्योंकि जो व्यसनी दुष्टाचारी पुरुष है, वह यदि अधिक जियेगा, तो अधिक-अधिक पाप करके नीच-नीच गति अर्थात् अधिक-अधिक दुःख को प्राप्त होता जायेगा। और जो किसी व्यसन में नहीं फंसा, वह मर भी जायेगा, तो भी सुख को प्राप्त होता जायेगा। इसलिए विशेष राजा और [सामान्यतः] सब मनुष्यों को उचित है कि—कभी मृगया और मद्यपानादि दुष्ट कामों में न फंसें। और दुष्ट व्यसनों से पृथक् होकर धर्मयुक्त गुण-कर्म-स्वभावों में सदा वर्तके अच्छे-अच्छे [परोपकार के] काम किया करें। स. प्र. २३०-२३१ ।।

राज-सभासद् और मन्त्री कैसे होने चाहियें—

मौलान् शास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान् कुलोद्गतान् ।[1]
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ।। मनु. ७।५४।।

स्वराज्य स्वदेश में उत्पन्न हुए वेदशास्त्रों के जानने वाले, शूरवीर, जिन्हों का लक्ष्य अर्थात् विचार निष्फल न हो, कुलीन, धर्मात्मा और स्वराज्य भक्त अच्छे प्रकार सुपरीक्षित, सात वा आठ उत्तम चतुर (सचिवान्) मन्त्री नियत करे (स. प्र.)। और इन्हीं की सभा में आठवां वा नववां राजा हो। ये सब मिल के कर्त्तव्याकर्त्तव्य कामों का विचार किया करें (सं. वि.)।

क्योंकि विशेष सहाय के बिना तो जो सुगम कर्म है, वह भी एक पुरुष द्वारा करने में कठिन हो जाता है। जब ऐसा है, तो महान् राज्य-कर्म

एक से कैसे हो सकता है ? इसलिए एक को राजा, और एक की बुद्धि पर राज्य के कार्य्य का निर्भर रखना वहुत ही वुरा काम है।

इससे राजासभापति को उचित है कि नित्यप्रति उन राज्यकर्मों में कुशल विद्वान् मंत्रियों के साथ सामान्य करके किसी से (सन्धि) मित्रता, किसी से (विग्रह) विरोध, (स्थान) स्थिति-समय को देख के चुपचाप रहना, अपने राज्य की रक्षा करके वैठे रहना, (समुदयम्) जव अपना उदय अर्थात् वृद्धि हो, तव दुष्ट शत्रु पर चढ़ाई करना, (गुप्तिम्) मूल राजसेना कोश आदि की रक्षा, (लब्धप्रशमनानि) जो-जो देश प्राप्त हो, उस-उसमें शान्ति-स्थापन उपद्रवरहित करना, इन छः गुणों का विचार नित्यप्रति किया करे।

विचार इस प्रकार से करना कि उन सभासदों का पृथक्-पृथक् अपना-अपना विचार और सामूहिक सवके सम्मिलित अभिप्राय को सुनकर वहुपक्षानुसार कार्यों में जो कार्य अपना और अन्य का हितकारक हो, वह करना।

इसी प्रकार अन्य भी राज्य और सेना के अधिकारी जितने पुरुषों से राज्य कार्य सिद्ध हो सके, उतने हीं, पवित्रात्मा, धार्मिक, बुद्धिमान्, चतुर, निश्चितबुद्धि, पदार्थों के संग्रह करने में अति चतुर, सुपरीक्षित मन्त्री करे।

जितने मनुष्यों से राज कार्य्य सिद्ध हो सके, उतने आलस्य-रहित, वलवान्, और वड़े-वड़े चतुर प्रधान पुरुषों को अधिकारी अर्थात् नौकर करे।

इनके आधीन [उत्तम राज्य प्रवन्ध के लिए] शूरवीर, चतुर, वलवान् उत्तम कुलोत्पन्न, पवित्र आचार-विचार वाले भृत्यों को वड़े-वड़े विदेश-व्यवहारादि कर्मों में, और भीरु=डरने वालों को राज्य के भीतर की व्यवस्था के कर्मों में नियुक्त करे॥[1]

जो प्रशंसित कुल में उत्पन्न, चतुर, पवित्र अर्थात् युक्ताहार-विहार वाला, हाव-भाव और चेष्टा से भीतर हृदय, और भविष्यत् में होने वाली बात को जानने हारा[2], सव शास्त्रों में विशारद=चतुर है, उस दूत को भी रक्खे।

वह ऐसा हो कि जो राजकार्य में अत्यन्त उत्साह-प्रीतियुक्त [तथा राजा और सभा में प्रीति रखने हारा] निष्कपटी, पवित्रात्मा, चतुर,

१. मनु० ७।५४-५७,६०-६४॥
२. नेत्रादि के संकेत स्वरूप तथा चेष्टा से दूसरे के हृदय की बात को जाननेहारा।

वहुत समय की बात को भी न भूलने वाला, देश और कालानुकूल वर्त्तमान का ज्ञाता और कर्त्ता, सुन्दर रूपयुक्त, निर्भय और वड़ा वक्ता हो। वही राजा का दूत होने में प्रशस्त है। (स. प्र. २३२-२३३) । उस और स्वराज्य और परराज्य के समाचार देने हारे अन्य दूतों को भी नियत करे। (सं. वि.) ॥६॥

किस-किस को क्या-क्या अधिकार देना योग्य है—

नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते सन्धिविपर्ययौ ॥१॥
दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान् ।
दूतस्तत् कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन वा न वा ॥२॥मनु० ७।६५, ६६॥

जिससे अन्याय रूप दण्ड न होने पावे, इसलिये राजा के अधीन कोश और राजकार्य, तथा सभा के आधीन राज्य के सव कार्य्य और दूत के आधीन किसी विदेश से मेल वा विरोध करने का अधिकार होना चाहिए ॥१॥

दूत उसको कहते हैं—जो फूटे मण्डलों वा राष्ट्रों में मेल करा देता है और मिले हुए दुष्टों व अपने विरोधियों को फोड़-तोड़ देवे। दूत वह कर्म करे, जिससे शत्रुओं में फूट पड़ी रहे ॥२॥

वह सभापति और सव सभासद् वा दूत आदि यथार्थ से दूसरे विरोधी राजा के राज्य का अभिप्राय तत्त्वतः जानके वैसा यत्न करें कि जिससे कभी अपने को पीड़ा न हो। (स. प्र. २३४) ॥

जिस राजा के गूढ़ विचार को अन्य जन मिल कर नहीं जान सकते, अर्थात् जिसका विचार गम्भीर शुद्ध परोपकारार्थ सदा गुप्त रहे, वह धन-हीन भी राजा सव पृथिवी के राज्य करने में समर्थ होता है। इसलिए अपने मन से एक भी काम न करे कि जब तक सभासदों की अनुमति न हो।[1] (मनु. ७।४८। स. प्र. २४७)।

इतना अर्थात् ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़के, यहां तक राजकाम करके, पश्चात् सौंदर्य-रूप गुणयुक्त, हृदय को अतिप्रिय, बड़े उत्तम कुल में उत्पन्न सुन्दर लक्षणयुक्त अपने क्षत्रिय कुल की कन्या, जो कि अपनेसदृश विद्यादि गुण-कर्म-स्वभाव में हो, उस एक ही स्त्री के साथ विवाह करे। दूसरी सब स्त्रियों को अगम्य समझ कर दृष्टि से भी न देखे।

---

१. वर्तमान काल में अधिनायकों=डिक्टेटरों का यही बड़ा दोष है। इतना भाग आगे के प्रकरण से निकाल संदर्भ मिलान के लिये यहां रक्खा है।

पुरोहित और ऋत्विज् का स्वीकार इसलिए करे कि वे अग्निहोत्र और पक्षेष्टि आदि सब राजघर के यज्ञ-कर्म किया करें। और आप सर्वदा राजकार्य में तत्पर रहे। अर्थात् यही राजा का सन्ध्योपासनादि कर्म है, जो रातदिन राजकार्य में प्रवृत्त रहना, और कोई राजकाम बिगड़ने न देना। (स. प्र. २३५)

वार्षिक कर आप्त पुरुषों के द्वारा ग्रहण करे। और जो सभापति-रूप राजा आदि प्रधान पुरुष हैं, वे सब और सभा वेदानुकूल राजकार्य चलाने वाले होकर, प्रजा के साथ पिता के समान वर्तें।

उस राज्यकार्य में विविध प्रकार के अध्यक्षों को सभा नियत करे। इनका यही काम है कि देखें कि जितने-जितने जिस-जिस काम में अनुभवी राजपुरुष हों, वे नियमानुसार वर्त्तकर यथावत् काम करते हैं वा नहीं। जो यथावत् करें, तो उनका सत्कार, और जो विरुद्ध करें, तो उनको यथावत् दण्ड किया करें॥

सदा जो राजाओं का वेदप्रचार रूप अक्षय कोष है, इसके प्रचार के लिए जो कोई विद्वान् यथावत् ब्रह्मचर्य से वेदादिशास्त्रों को पढ़ कर गुरुकुल से आवे, उसका सत्कार राजा और सभा यथावत् करें। तथा उन आचार्यों का भी जिनके पढ़ाए हुए विद्वान् होते हैं। इस बात के करने से राज्य में विद्या की उन्नति होकर अत्यन्त उन्नति होती है॥

जब कभी प्रजा का पालन करने वाले राजा को कोई अपने से छोटा तुल्य और उत्तम संग्राम में आह्वान करे, तो क्षत्रियों के धर्म का स्मरण करके संग्राम में जाने से कभी निवृत्त न हो, अर्थात् बड़ी चतुराई के साथ उनसे युद्ध करे, जिससे अपना ही विजय हो। स. प्र. २३६॥

जो संग्रामों में एक दूसरे को हनन करने की इच्छा करते हुए राजा लोग, जितना अपना सामर्थ्य हो बिना डर पीठ न दिखा युद्ध करते हैं, वे सुख को प्राप्त होते हैं। इससे विमुख कभी न हो, किन्तु कभी-कभी शत्रु को जीतने के लिये उनके सामने से छिप जाना उचित है। क्योंकि जिस प्रकार से शत्रु को जीत सकें, वैसे काम करें। जैसा सिंह क्रोध से सामने शस्त्राग्नि में शीघ्र भस्म हो जाता है, वैसे मूर्खता से नष्ट-भ्रष्ट न हो जावें।

[1]युद्ध-समय में न इधर-उधर खड़े, न नपुंसक, न हाथ जोड़े हुए, न

१. अभिप्राय यह है कि निर्बल असहाय दीन दुःखी आर्त्त वृद्ध व स्त्रीजन पर कभी किसी को हाथ नहीं उठाना चाहिये।

जिसके बाल खुल गये हों, न बैठे हुए, न 'मैं तेरे शरण हूं' ऐसे [बोलने वाले] को, न सोते हुए, न मुर्छा को प्राप्त हुए, न नग्न हुए,; न आयुध से रहित, न युद्ध करते हुओं को देखने वालों, न शत्रु के साथी; न आयुध के प्रहार से पीड़ा को प्राप्त हुए, न दुःखी, न अत्यन्त घायल, न डरे हुए न पलायन करते हुए पुरुष को सत्पुरुषों के धर्म का स्मरण करते हुए योद्धा लोग कभी मारें ॥

किन्तु उनको पकड़ के जो अच्छे हों, वन्दीगृह में रख दे, और भोजन आच्छादन यथावत् देवे। और जो घायल हुए हों, उनकी औषधादि विधि-पूर्वक करे। न उनको चिड़ावे, न दुःख देवे। जो उनके योग्य काम हो करावे। विशेष इस पर ध्यान रखे कि स्त्री बालक वृद्ध और आतुर तथा शोकयुक्त पुरुषों पर शस्त्र कभी न चलावे। उनके लड़के-बालों को अपने सन्तानवत् पाले, और स्त्रियों को भी पाले, उनको अपनी बहिन और कन्या के समान समझे, कभी विषयासक्ति की दृष्टि से भी न देखे। जब राज्य अच्छे प्रकार जम जाय और जिनमें पुनः-पुनः युद्ध करने की शंका न हो, उनको सत्कारपूर्वक छोड़कर अपने-अपने घर वा देश को भेज देवे। और जिनसे भविष्यत् काल में विघ्न होना सम्भव हो, उनको सदा कारागार में रक्खे। (स. प्र. २३७) ॥

रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून् स्त्रियः।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत् ॥मनु. ७।९६॥
राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः[१]।
राजा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ॥ मनु० ७।९७॥

इस व्यवस्था को कभी न तोड़े कि जो-जो लड़ाई में जिस-जिस भृत्य वा अध्यक्ष ने रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन-धान्य, गाय आदि पशु और स्त्रियां[१], तथा अन्य प्रकार के सब द्रव्य और घी, तेल आदि के कुप्पे[२] जीते

१: जीती हुई स्त्रियों पर विजयी का अधिकार देना ग्रन्थकार के मन्तव्य एवं वैदिक संस्कृति के विपरीत है। इसी कारण वैदिक संस्कृति के पालक महाराणा प्रताप एवं छत्रपति शिवाजी प्रभृति नरेशों ने सेना के द्वारा बन्दीकृत स्त्रियों को ससम्मान लौटा दिया था। अतः यहां केवल श्लोक पद की व्याख्या में ग्रन्थकार का तात्पर्य जानना चाहिये।

२. कुप्य का साधारण अर्थ 'सोना-चांदी व्यतिरिक्त अन्य धातु आदि पदार्थ हैं'। कौटिल्य अर्थशास्त्र (२।१७) में कुप्यवर्ग में अनेक पदार्थ गिनाए हैं। लोक में प्रसिद्ध 'कुप्पा' शब्द को 'कुप्य' शब्द का अपभ्रंश मानकर उनमें रखे गये घी, तेल आदि अर्थ किया है। कुप्पा=ढेर, राशि।

हों, वही उस-उसका ग्रहण करे ।।

परन्तु सेनास्थ जन भी उन जीते हुए पदार्थों में से सोलहवां भाग राजा को देवें । और राजा भी सेनास्थ योद्धाओं को उस धन में से, जो सबने मिलके जीता हो, सोलहवां भाग देवे । और जो कोई युद्ध में मर गया हो, उसकी स्त्री और सन्तान को उसका भाग देवे । और उसकी स्त्री तथा असमर्थ लड़कों का यथावत् पालन करे । जब उसके लड़के समर्थ हो जायें, तब उनको यथायोग्य अधिकार देवे । जो कोई अपने राज्य की वृद्धि, प्रतिष्ठा, विजय और आनन्द-वृद्धि की इच्छा रखता हो, वह इस मर्यादा का उल्लंघन कभी न करे ।। स- प्र. २३८।।

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत् प्रयत्नतः ।
रक्षितं वर्द्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ।।१।।
एतच्चतुर्विधं विद्यात् पुरुषार्थप्रयोजनम् ।
अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक् कुर्यादतन्द्रितः ।।२।।
अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया ।
रक्षितं वर्द्धयेद् वृद्धया वृद्धं दानेन[1] निःक्षिपेत् ।।३।।
अमाययैव वर्त्तेत न कथंचन मायया ।
बुध्येतारिप्रयुक्तां च मायान्नित्यं स्वसंवृतः ।।४।।
नास्य छिद्रं परो विद्याच्छिद्रं विद्यात् परस्य तु ।
गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ।।५।।

राजा और राजसभा अलब्ध राज्य की प्राप्ति की इच्छा, प्राप्त की प्रयत्न से रक्षा करे । रक्षित को बढ़ावे, और बढ़े हुए धन को सुपात्रों के द्वारा सत्य वेदविद्या और सत्य धर्म का प्रचार, विद्यार्थी, वेदमार्गोपदेशक तथा असमर्थ अनाथों के पालन में लगावे ।।१।।

इस चार प्रकार के पुरुषार्थ के प्रयोजन को जाने । आलस्य छोड़कर इसका भलीभांति नित्य अनुष्ठान करे ।।२।।

राजा आदि राजपुरुष दण्ड से अप्राप्त की प्राप्ति की इच्छा, नित्य देखने से अर्थात् संभाल से प्राप्त राज्य की रक्षा, रक्षितराज्य और धन की वृद्धि करे अर्थात् व्यापार व्याजादि से धन बढ़ावे, और बढ़े हुए धन आदि पदार्थों को पूर्वोक्त उत्तम व्यवहारों में नित्य व्यय करके सबकी उन्नति सदा किया करें ।।३।।

---

१. मनुस्मृति में 'पात्रेषु' पाठभेद भी है । अर्थात् 'योग्य पात्रों में'

कदापि किसी के साथ छल से न वर्तें; किन्तु निष्कपट होकर सबसे साफ वर्ताव रक्खे। और नित्य-प्रति अपनी रक्षा तथा अपने राज्य के व्यवहारों की गोपनीयता करके शत्रु के किये हुए छल को जान के उसको निवृत्त करे ।।४।।

कोई विरोधी शत्रु अपने छिद्र अर्थात् निर्बलता को न जान सके, और स्वयं शत्रु के छिद्रों को जानता रहे। जैसे कछुआ अपने अंगों को गुप्त रखता है, वैसे ही शत्रु के प्रवेश करने के छिद्र को गुप्त रक्खे ।।५।।
मनु. ७।९९, १००, १०१, १०४, १०५।स. प्र. २४१।।

जैसे बगुला ध्यानावस्थित होकर मच्छी पकड़ने को ताकता है, वैसे अर्थ-संग्रह का विचार किया करे। द्रव्यादि पदार्थ और बल की वृद्धि कर शत्रु को जीतने के लिए सिंह के समान पराक्रम करे। चीता के समान छिपकर शत्रुओं को पकड़े। और समीप में आये बलवान् शत्रुओं से सस्सा[1] के समान दूर भाग जाय, और पश्चात् उनको छल-चातुर्य से पकड़े।

इस प्रकार विजय करने वाले सभापति के राज्य में परिपन्थी अर्थात् डाकू लुटेरे हों, तो उनको (साम) मिला लेना, (दान) कुछ दाम देकर, (भेद) फोड़-तोड़ करके और जो ये इन तीन उपायों से वश में न हों, तो अति दण्ड से इनको वश में करे।।

जैसे धान्य का निकालने वाला छिलकों को अलग कर धान्य की की रक्षा करता अर्थात् टूटने नहीं देता है, वैसे सभाध्यक्ष राजा डाकू-चोरों को मारे, और राज्य की रक्षा करे।।

जो राजा मोह से अविचार अर्थात् ठीक देखभाल न करने से अपने राज्य को दुर्बल करता है, वह राज्य और अपने जीवन से पूर्व ही बन्धु-सहित शीघ्र ही नष्ट भ्रष्ट हो जाता है।। स. प्र. २४१।।

जैसे प्राणियों के प्राण शरीरों को कृशित करने से क्षीण हो जाते हैं, वैसे ही प्रजाओं को पीड़ित कर दुर्बल करने से राजाओं के प्राण अर्थात् बलादि बन्धु सहित नष्ट हो जाते हैं।।

इसलिए राजा और राजसभा राजकार्य की सिद्धि के लिए ऐसा प्रयत्न विधान करें कि जिससे राजकार्य यथावत् सिद्ध हों। जो राजा राज्य-पालन में सब प्रकार तत्पर रहता है, उसको सुख सदा बढ़ता है।

---

१. अर्थात् खरगोश।

इसलिए दो तीन पाँच और सौ ग्रामों के बीच में एक राज-स्थान[1] रक्खे, जिसमें यथायोग्य भृत्य अर्थात् कामदार आदि राजपुरुषों को रखकर सब राज्य के कार्यों को पूर्ण करे ।।

एक-एक ग्राम में एक-एक प्रधान पुरुष को शासक रक्खे। उन्हीं दश ग्रामों के ऊपर दूसरा, उन्हीं बीस ग्रामों के ऊपर तीसरा, उन्हीं सौ ग्रामों के ऊपर चौथा, और उन्हीं सहस्र ग्रामों के ऊपर पांचवां पुरुष रक्खे। अर्थात् जैसे आजकल एक ग्राम में एक पटवारी, उन्हीं दश ग्रामों में एक थाना, और दो थानों पर एक बड़ा थाना, और उन पाँच थानों पर एक तहसील, और दश तहसीलों पर एक जिला नियत किया है, यह, वही अपने मनु आदि धर्मशास्त्र से राजनीति का प्रकार लिया है ।।

इसी प्रकार प्रबन्ध करे, और आज्ञा देवे कि वह एक-एक ग्रामों का पति ग्रामों में नित्यप्रति जो-जो दोष अर्थात् समस्यायें उत्पन्न हों, उन-उनको गुप्तता [अर्थात् रहस्य चारी दूतों के गुप्त व्यवहार] से दशग्राम के पति को विदित कर दे। और वह दशग्रामाधिपति उसी प्रकार बीस ग्राम के स्वामी को दश ग्रामों का वर्तमान नित्यप्रति जना देवे। स. प्र. २४२।

और बीस ग्रामों का अधिपति बीस ग्रामों के वर्तमान को शतग्रामाधिपति को नित्यप्रति निवेदन करे। वैसे सौ-सौ ग्रामों के पति, आप सहस्राधिपति अर्थात् हजार ग्रामों के स्वामी को सौ-सौ ग्रामों के वर्तमान को प्रतिदिन जनाया करें। और वे सहस्र-सहस्र के दश अधिपति दश सहस्र के अधिपति को, और दश सहस्र के अधिपति = लक्षग्रामों की राजसभा को, प्रतिदिन का वर्तमान [अर्थात् प्रशासन व्यवहार को,] जनाया करें। और वे सब एक देश की राजसभा [और पृथक् देशों की राजसभा], महाराजसभा अर्थात् 'सार्वभौम चक्रवर्ति महाराज सभा' में सब भूगोल का वर्तमान[2] जनाया करें।

और एक-एक दश-दश सहस्र ग्रामों पर दो सभापति वैसे करें, जिनमें एक राजसभा में और दूसरा अध्यक्ष, आलस्य छोड़ कर सब न्यायाधीशादि राजपुरुषों के कामों को सबसे मधुर व्यवहार करते, सदा घूमकर देखते रहें।

बड़े-बड़े नगरों में एक-एक विचार करने वाली सभा का सुन्दर

---

१. जिला मुख्यकार्यालय

२. अर्थात् विश्व में होने वाले घटना चक्र का समाचार

उच्च और विशाल जैसा कि चन्द्रमा है, वैसा एक-एक घर बनावे। उसमें बड़े-बड़े विद्यावृद्ध कि जिन्होंने विद्या से सब प्रकार की परीक्षा की हो, वे बैठ कर विचार किया करें। जिन नियमों से राजा और प्रजा की उन्नति हो, वैसे-वैसे नियम और विद्या प्रकाशित किया करें।

जो नित्य घूमने वाला सभापति हो, उसके आधीन सब गुप्तचर अर्थात् दूतों को रक्खे, जो राजपुरुष [अर्थात् राज्य सेवा में नियुक्त क्षत्रिय कुल के हों] और भिन्न-भिन्न जाति के रहें। उनसे सब राज और प्रजा-पुरुषों के सब दोष और गुण गुप्त रीति से जाना करे। जिनका अपराध हो उनको दण्ड, और जिनका गुण हो, उनकी प्रतिष्ठा सदा किया करे।

स. प्र. २४३॥

राजा जिनको प्रजा की रक्षा का अधिकार देवे, वे धार्मिक, सुपरीक्षित विद्वान् कुलीन हों। उनके आधीन प्राय शठ और पर-पदार्थ हरने वाले चोर-डाकुओं को भी नौकर रख के उनको दुष्टकर्म से बचाने के लिए राजा के नौकर करके उन्हीं रक्षा करने वाले विद्वानों के स्वाधीन करके उनसे इस प्रजा की रक्षा यथावत् करे।[1]

जो पापबुद्धि राजपुरुष अन्याय से, वादी-प्रतिवादी से गुप्त धन ले पक्षपात से अन्याय करे, उसका सर्वस्व हरण करके यथायोग्य दण्ड देकर देश से निर्वासित कर, ऐसे देश में रक्खे कि जहां से पुनः लौट कर न आ सके। क्योंकि यदि उसको दण्ड न दिया जाय, तो उसको देखके अन्य राजपुरुष भी ऐसे दुष्ट काम करें, और दण्ड दिया जाय, तो अन्य राजपुरुष ऐसे दुष्ट कर्म करने से बचे रहें। परन्तु जितने से उन राजपुरुषों का योगक्षेम भलीभाँति हो, और वे भलीभांति धनाढ्य भी हों, उतना धन वा भूमि राज की ओर से मासिक वा वार्षिक अथवा एक वार मिला करे। परन्तु यह ध्यान में रक्खे कि जब तक वे जियें, तब तक वह जीविका बनी रहे; पश्चात् नहीं। परन्तु इनको सन्तानों का सत्कार वा नौकरी उनके गुण के अनुसार अवश्य देवे। और जिसके बालक जबतक समर्थ हों और उसकी स्त्री जीती हो, तो उन सबके निर्वाहार्थ राज की ओर से यथायोग्य धन

---

१. यह भाषार्थ अपराध करने वाले लोगों के सुधार की भावना से किया गया प्रतीत होता है। श्लोक का शब्दार्थ—'राजा के द्वारा प्रजा की रक्षा के लिए रखे गये अधिकारी प्रायः करके पर-धन को ग्रहण करने वाले वञ्चक होते हैं। उनसे प्रजा की रक्षा सदा करनी चाहिए।' और रक्षा का उपाय आगे दर्शाया है।

मिला करे। परन्तु जो उसकी स्त्री वा लड़के कुकर्मी हो जायें, तो उनको कुछ भी न मिले। ऐसी नीति राजा बनाकर रक्खे ।। स. प्र. २४४।।

यथाल्पाऽल्पमदन्त्याऽऽद्यं वार्योकोवत्सषटपदाः ।
तथाऽल्पाऽल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः ।।२।।
नोच्छिन्द्यादात्मानो मूलं परेषां चातितृष्णया ।
उच्छिन्दन् ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत् ।।३।।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव स्यात् कार्यं वीक्ष्य महीपतिः ।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति सम्मतः ।।४।।
एवं सर्वं विधायेदमितिकर्त्तव्यमात्मनः ।
युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः ।।५।।
विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद् ध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः ।
सम्पश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ।।६।।
क्षत्रियस्य परोधर्मः प्रजानामेव पालनम् ।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ।।७।।

जैसे जोंक, वछड़ा और भँवरा थोड़े-थोड़े भोग्य पदार्थ को ग्रहण करते हैं, वैसे राजा प्रजा से थोड़ा-थोड़ा कर लेवे ।।

अतिलोभ से अपने वा दूसरों के सुख के मूल को उच्छिन्न अर्थात् नष्ट कदापि न करे। क्योंकि जो [राजा सभाध्यक्ष अपने उत्तम] व्यवहार और सुख के मूल का छेदन-विनाश करता है, वह अपने को और उन प्रजाओं को पीड़ा ही देता है ।।

जो राजा सभेश कार्य को देख के तीक्ष्ण और कोमल भी होवे, वह दुष्टों पर तीक्ष्ण और श्रेष्ठों पर कोमल रहने से, अतिमाननीय तथा स्वीकरणीय होता है। अर्थात् सब उसका अनुमोदन करते हैं ।।

इस प्रकार सब राज्य का प्रवन्ध करके सदा इसमें युक्त और प्रमाद-रहित होकर अपनी प्रजा का पालन निरन्तर करे ।।

जिस भृत्य सहित देखते हुए राजा के राज्य में से[1] डाकू लोग रोती विलाप करती प्रजा के पदार्थ और प्राणों को हरते रहते हैं, वह राजा जानो भृत्य अमात्य सहित मृतक है, जीता नहीं; और महा-दुःख का पानेवाला है।

१. सीमान्त में स्थित डाकू लोग, अथवा राजा से रक्षित राज्य स्थान नगरादि से गहन अरण्य स्थित डाकू लोग अथया दुष्टाचारी राजसभासद् व अन्य दुष्टाचारी ठग तस्कर कालाबाजारी आदि।

इसलिए राजाओं का प्रजापालन ही करना परम धर्म है और जो मनुस्मृति के सप्तमाध्याय में कर लेने का विधान लिखा है, और जैसा सभा[1] नियत करे, वैसा उसका भोक्ता[2] राजा धर्म से युक्त होकर सुख पाता है। इससे विपरीत दुःख को प्राप्त होता है। मनु. ७।१२६, १३६, १४०, १४२-१४४। स. प्र. २४५, २४६।।

सब राजादि राजपुरुषों को यह बात लक्ष्य में रखने योग्य है—जो (आसन) स्थिरता, (यान) शत्रु से लड़ने के लिए जाना, (सन्धि) उनसे मेल कर लेना, (विग्रह) दुष्ट शत्रुओं से लड़ाई करना, (द्वैध) दो प्रकार की सेना करके स्वविजय कर लेना, (संश्रय) और निर्बलता में, दूसरे प्रबल राजा का आश्रय लेना, ये छः प्रकार के कर्म [परिस्थिति के अनुसार] कार्य को विचार कर प्रयुक्त करने चाहिएँ।

(सन्धि) शत्रु से मेल अथवा उससे विपरीतता करे; परन्तु वर्तमान और भविष्यत् में करने के काम बराबर करता जाय, यह दो प्रकार का 'मेल कहाता है।

(विग्रह) कार्यसिद्धि के लिए उचित समय वा अनुचित समय में स्वयं किया, वा मित्र के निमित्त उसका अपकार-अपराध करने वाले शत्रु के साथ किया, दो प्रकार का 'विरोध' कहाता है।

(यान) अकस्मात् कोई कार्य प्राप्त होने में एकाकी वा मित्र के साथ मिल के शत्रु की ओर जाना, यह दो प्रकार का 'गमन' कहाता है।।

(आसन) स्वयं दैवात् या पूर्वकृत कर्म के कारण किसी प्रकार क्रम से क्षीण हो जाय अर्थात् निर्बल हो जाय, अथवा मित्र के रोकने से अपने स्थान में चुप बैठे रहना, यह दो प्रकार का 'आसन' कहाता है।।

(द्वैध) कार्यसिद्धि के लिए सेनापति और सेना के दो विभाग करके विजय करना, दो प्रकार का 'द्वैध' कहाता है।।

(संश्रय) शत्रु से पीड़ित हुआ, एक किसी अर्थ की सिद्धि के लिए

---

१. इससे देश काल के अनुरूप 'अधिक कर लगाने या अधिक कर को घटाने' का भी सभा को अधिकार है, यह सूचित किया है।

२. भोक्ता का अर्थ 'स्वयं इच्छानुसार उसका भोक्ता' नहीं है; परन्तु 'धर्मानुसार, राजसभा द्वारा निर्धारित कर द्वारा उपलब्ध राज्य श्री' का प्रजाहित में 'प्रयोक्ता' यह अर्थ है।

किसी बलवान् राजा वा किसी महात्मा का शरण लेना, जिससे शत्रु से पीड़ित न हो, दो प्रकार का 'आश्रय', लेना कहाता है ॥

जिसका आश्रय लेवे, उस पुरुष के कर्मों में दोष देखे, तो वहाँ भी अच्छे प्रकार युद्ध ही को निःशङ्क होकर करे।

जो धार्मिक राजा हो, उससे विरोध कभी न करे; किन्तु उससे सदा मेल रक्खे। और जो दुष्ट प्रबल हो, उसी के जीतने के लिए ये पूर्वोक्त प्रयोग उचित है (स. प्र. २४८, २४९) ॥

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः ।
यथास्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥[1]

नीति का जानने वाला पृथिवीपति राजा जिस प्रकार इसके मित्र, उदासीन (=मध्यस्थ) और शत्रु अधिक न हों, ऐसे सब उपायों से वर्ते।

सब प्रकार से राजपुरुष, विशेष सभापति राजा ऐसा प्रयत्न करे, कि जिस प्रकार उन राजादि जनों के मित्र उदासीन और शत्रु, उनको वश में करके अन्यथा न करावें। ऐसे मोह में कभी न फंसे। यही संक्षेप से नय अर्थात् राजनीति कहाती है। स. प्र. २५० ॥

हिरण्यभूमिसंप्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते ।
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् ॥
धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च ।
अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते ॥
प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च ।
कृतज्ञं धृतिमन्तञ्च कष्टमाहुररिं बुधाः ॥
आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता ।
स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥

मित्र का लक्षण—राजा सुवर्ण और भूमि की संप्राप्ति से वैसा नहीं बढ़ता कि जैसे निश्चल-प्रेमयुक्त, भविष्यत् की बातों को सोचने, और कार्य सिद्ध करने वाले ध्रुव=समर्थ मित्र अथवा कृश=दुर्बल मित्र को भी प्राप्त होकर बढ़ता है। धर्म को जानने और कृतज्ञ अर्थात् किये हुये उपकार को सदा मानने वाले, प्रसन्न स्वभाव, अनुरागी, स्थिरारम्भी लघु=छोटे भी मित्र को प्राप्त होकर प्रशंसित होता है ॥

---

१. मनु० ७।११७ ॥

शत्रु का लक्षण—सदा इस बात को दृढ़ रक्खे कि—बुद्धिमान्, कुलीन, शूरवीर, चतुर, दाता, किये हुए को जाननेहारा और धैर्यवान् पुरुष यदि शत्रु हो जावे, तो वह कष्टदायक है। इसलिये ऐसे पुरुष को शत्रु न बनावे। क्योंकि जो राजा ऐसे पुरुष को शत्रु-विरोधी बनावेगा, वह सदा दुःख पावेगा।

उदासीन का लक्षण—जिसमें प्रशंसित गुणयुक्तता, अच्छे, बुरे मनुष्यों का ज्ञान, शूरवीरता और करुणा भी हो, स्थूललक्ष्य अर्थात् ऊपर-ऊपर की बातों को निरन्तर सुनाया करे, वह 'उदासीन' कहाता है॥ मनु. ७।२०८-२११।स. प्र. २५५॥

प्रजा से कर लेने का प्रकार—

पञ्चाशद् भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादशः एव वा॥ मनु० ७।१३०॥

जो व्यापार करने वाले वा शिल्पी को सुवर्ण और चांदी का जितना लाभ हो, उसमें से पचासवाँ भाग; चावल आदि अन्नों में छठा आठवां वा बारहवां भाग लिया करें। और जो [कर रूप में अन्न के बदले] धन लेवे, तो भी उस प्रकार से लेवे कि जिससे किसान आदि, खाने-पीने और धन से रहित होकर दुःख न पावें। क्योंकि प्रजा के धनाढ्य जन के, आरोग्य, खान-पान आदि से सम्पन्न रहने पर राजा की बड़ी उन्नति होती है। प्रजा को अपने सन्तान के सदृश सुख देवे। और प्रजा अपने पिता के सदृश राजा और राजपुरुषों को जाने।

यह बात ठीक है कि **राजाओं के राजा किसान आदि[1] परिश्रम करने वाले हैं, और राजा उनका रक्षक है।** जो प्रजा न हो, तो राजा किसका? और राजा न हो, तो प्रजा किसकी कहावे? दोनों अपने-अपने काम में स्वतन्त्र, और मिले हुए प्रीतियुक्त काम में परतन्त्र रहें। प्रजा की साधारण[2] सम्मति के विरुद्ध राजा वा राजपुरुष न हों, राजा की आज्ञा के विरुद्ध राजपुरुष वा प्रजा न चले। यह राज का राजकीय निज काम अर्थात् जिसको 'पोलिटिकल' कहते हैं, संक्षेप से कह दिया। अब जो विशेष देखना चाहे, वह **चारों वेद, मनुस्मृति, शुक्रनीति, महाभारतादि** में देखकर निश्चय करे। और जो प्रजा का न्याय करना है, वह व्यवहार मनुस्मृति के अष्टम

---

१. यहां आदि पद से ऊपर संकेतित धनाढ्य, शिल्पकार ग्राह्य हैं।
२. अर्थात् सर्वसम्मत निर्णय।

और नवमाध्याय आदि की रीति से करना चाहिये। परन्तु यहां भी बहुत संक्षेप में लिखते हैं (स. प्र. २५६, २५७)—

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः ।
अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक्-पृथक् ।। मनु. ८।३।।
धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ।। मनु. ८।१२।।
सभा वा न प्रवेष्टव्या[३] वक्तव्यं वा समंजसम् ।
अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्विषी ।।मनु. ८।१३।।
यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ।। मनु. ८।१४।।
धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ।। मनु ८।१५।।
वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ।। मनु. ८।१६।।
एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समन्नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ।। मनु. ८।१७।।
पादोऽधर्मस्य[×] कर्तारं पादः साक्षिणमिच्छति ।
पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति ।। मनु. ८।१८।।

सभा, राजा और राजपुरुष सब लोग देशाचार और शास्त्रव्यवहार हेतुओं से निम्नलिखित अठारह विवादास्पद मार्गों में विवादयुक्त कर्मों का निर्णय प्रतिदिन किया करें। और जो-जो नियम शास्त्रोक्त न पावें अर्थात् जिनका निर्णयात्मक संकेत शास्त्रों में न मिले, और उनके होने की

३. यही पाठ मनुस्मृति के मेधातिथि के भाष्य में है। अन्य संस्क. में **'सभां वा न प्रवेष्टव्यम्'** पाठ है। यही पाठ सं० विधि पृष्ठ २५२ (सं. ३, रालाकट्र०) में उद्धृत है। मेधातिथि ने उक्त पाठ की जो व्याख्या की है, उसका भाव इस प्रकार है—"राजसभा के व्यवहार देखने के अधिकार किसी को नहीं देना चाहिये। अर्थात् भाषण में अनधिकृत को भी अयुक्त विचार प्रकट करने वाले सभ्यों के मध्य मौन नहीं रहना चाहिये। यह आदेश नारदीय मनुस्मृति (३।२) में दिया है—
'नियुक्तोऽनियुक्तो वा धर्मज्ञो वक्तुमर्हति।"

× अगला प्रकरण मनु. अ. ८ के अनुसार है।

आवश्यकता जानें, तो उत्तमोत्तम नियम सभा, सभासद् बांधें कि जिससे राजा और प्रजा की उन्नति हो ।।

अठारह मार्ग ये हैं—१. (ऋण/दान) किसी से ऋण लेने-देने का विवाद । २. (निक्षेप) धरावट, अर्थात् किसी ने किसी के पास पदार्थ धरा हो और मांगे पर न देना । ३. (अस्वामिविक्रय) दूसरे के पदार्थ को दूसरा बेच लेवे [अथवा एक के नाम पर रक्खी वस्तु को दूसरे को बेच देना] । ४. (संभूय च समुत्थानम्) मिल-मिलाके किसी पर अत्याचार करना । ५. (दत्तस्यानपकर्म्म च) दिये हुए पदार्थ का न देना । ६. (वेतनस्यैव चादानम्) वेतन अर्थात् किसी की नौकरी में से ले लेना वा कम देना अथवा न देना । ७. (संविदश्च व्यतिक्रमः) प्रतिज्ञा से विरुद्ध वर्तना । ८. (क्रयविक्रयानुशयः) अर्थात् लेन-देन में झगड़ा होना । ६. (विवादः स्वामि पालयोः) पशु के स्वामी और पशु पालने वाले भृत्य का झगड़ा । १०. (सीमा विवादः) सीमा का विवाद । ११. (दण्डवाचिकं) किसी को कठोर डण्ड देना । १२. (पारुष्यं) कठोर वाणी बोलना । १३. (स्तेयं) चोरी-डाका मारना । १४. (साहसं) किसी काम को बलात्कार से करना । १५. (स्त्रीसंग्रहणम्) किसी स्त्री वा पुरुष का व्यभिचार दोषवाला होना । [अथवा किसी स्त्री को जबर्दस्ती रोक रखना] । १६. (स्त्रीपुंधर्मः) स्त्री और पुरुष के धर्म में व्यतिक्रम होना । १७. (विभागः) विभाग अर्थात् दायभाग के बंटवारे में वाद उठाना । १८. (द्यूतं) अर्थात् जड़ पदार्थ और (समाह्वयं) अर्थात् चेतन को दांव में धर के जूवा खेलना । ये अठारह प्रकार के परस्पर विरुद्ध अर्थात् पारस्परिक विवाद के स्थान हैं ।

इन व्यवहारों में बहुत से विवाद करने वाले पुरुषों के न्याय को, सनातन धर्म के आश्रय करके किया करे, अर्थात् किसी का पक्षपात कभी न करे । (मनु. ८।४-८) । स.प्र,२५६ ।।

जिस सभा में अधर्म से घायल होकर धर्म उपस्थित होता है, उस धर्म के शल्य अर्थात् तीरवत् कलङ्क को यदि सभासद् निकाल उसके घाव को नहीं पूर देते और अधर्म का छेदन नहीं करते, अर्थातृ धर्मी को मान और अधर्मी को दण्ड नहीं मिलता, तो निश्चय जानो कि उस सभा में जितने सभासद् हैं, वे सब घायल ही के समान पड़े हैं ।

धार्मिक मनुष्य को योग्य है कि सभा में कभी प्रवेश न करे । और जो प्रवेश किया हो, तो सत्य ही बोले । जो कोई सभा में बैठा हुआ अन्याय होते हुए को देखकर या असत्य बात को सुन के, मौन रहे; अथवा सत्य

न्याय के विरुद्ध बोले, वह महापापी होता है। स. प्र. २५९ ॥

जिस सभा में अधर्म से धर्म, असत्य से सत्य सब सभासदों के देखते हुए मारा जाता है, उस सभा में सब मृतक के समान हैं। जानो उनमें कोई भी नहीं जीता।

मारा हुआ धर्म मारने वाले का नाश, और रक्षित किया हुआ धर्म रक्षक की रक्षा करता है। अर्थात् जो पुरुष धर्म का नाश करता है, उसका नाश धर्म कर देता है। और जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी धर्म भी रक्षा करता है। इसलिये धर्म का हनन अर्थात् त्याग कभी न करना, इस डर से कि मारा हुआ धर्म कभी हमको न मार डाले।

जो सब ऐश्वर्यों के देने और सुखों की वर्षा करने वाला धर्म है, उसका जो पुरुष लोप करता है, उसी को विद्वान् लोग वृषल अर्थात् शूद्र और नीच जानते हैं। इसलिए किसी मनुष्य को धर्म का लोप करना उचित नहीं।

इस संसार में एक धर्म ही सुहृद है, जो मृत्यु के पश्चात् भी साथ चलता है। और सब पदार्थ वा संगी शरीर के नाश के साथ ही नाश को प्राप्त होते हैं। अर्थात् सबका संग छूट जाता है, परन्तु धर्म का संग कभी नहीं छूटता।

जब राजसभा में पक्षपात से अन्याय किया जाता है, वहां अधर्म के चार विभाग हो जाते हैं। उनमें से एक अधर्म के कर्त्ता, दूसरा साक्षी, तीसरा सभासदों, और चौथा पाद सभा के अधर्मी सभापति राजा को प्राप्त होता है। (मनु. ८।१२-१८) स. प्र. २६०॥

जिस सभा में निन्दा के योग्य की निन्दा, स्तुति के योग्य की स्तुति, दण्ड के योग्य को दण्ड, और मान्य के योग्य पुरुष का मान्य होता है, वहां राजा और सब सभासद् पाप से रहित और पवित्र हो जाते हैं। पाप के कर्त्ता ही को पाप प्राप्त होता है॥ स. प्र. २६० ॥

(प्रश्न) साक्षी[1] कैसे करने चाहियें ?—

(उत्तर)—आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥

---

१. हिन्दी में 'साक्ष्य'=गवाही अर्थ में 'साक्षी' शब्द का प्रयोग अशुद्ध है। साक्षी=गवाह।

स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः ।
शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ।।

सब वर्णों में धार्मिक, विद्वान्, निष्कपटी, सब प्रकार धर्म को जानने वाले, लोभरहित, सत्यवादी को न्यायव्यवस्था में साक्षी करे। इससे विपरीतों को कभी न करे ।।

स्त्रियों की साक्षी स्त्री, द्विजों के समान वर्ण के द्विज, शूद्रों के शूद्र, और अन्त्यजों के अन्त्यज साक्षी हों ।। मनु. ८।६३,६८।स. प्र. २६२।।

जितने बलात्कार अर्थात् जोर-जुल्म, डराने-धमकाने के काम, चोरी, व्यभिचार, कठोर-वचन, दण्डनिपातनरूप अपराध हैं, उनमें साक्षी की परीक्षा न करे। और इन अपराधों को अत्यावश्यक अर्थात् तत्काल निर्णी-तव्य भी समझें, क्योंकि ये काम सब गुप्त अर्थात् प्रायः रहस्य में होते हैं ।।

दोनों ओर के साक्षियों में से बहुपक्षानुसार, तुल्य साक्षियों में उत्तम गुणी और तुल्य हों तो द्विजोत्तम, अर्थात् ऋषि-महर्षि और यतियों=संन्यासियों अथवा प्रत्येक वर्ण के श्रेष्ठ आप्त पुरुषों के साक्ष्य के अनुसार न्याय करे ।।

दो प्रकार से साक्षी होना सिद्ध होता है—एक घटना को साक्षात् देखने से और दूसरा उस विषय को सुनने से। जब सभा में पूछें, तब जो साक्षी सत्य बोलें, वे धर्महीन और दण्ड के योग्य न होवें। और जो साक्षी मिथ्या बोलें, वे यथायोग्य दण्डनीय अर्थात् 'धर्म अर्थ से रहित हों।

क्योंकि न्यायसभा में पूछे जाने पर, सत्य बोलने वाला साक्षी धर्म और अर्थ से कभी रहित व वंचित नहीं रहता ।।५।।

जो राजसभा वा किसी उत्तम पुरुषों की सभा में साक्षी देखने और सुनने से विरुद्ध बोले, तो वह अवाङ्नरक अर्थात् जिह्वा के छेदन से दुःख रूप नरक वर्तमान समय में प्राप्त होवे और मरे पश्चात् सुख से हीन हो जाय।

साक्षी के उस वचन को मानना कि जो स्वभाव ही से व्यवहार सम्बन्धी बोले और सिखाये हुए साक्षी इससे भिन्न जो-जो वचन बोले, उस-उस को न्यायाधीश व्यर्थ अर्थात् अप्रामाणिक होने से अमान्य समझे ।।
स. प्र. २६२

सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान् ।
इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ।।
सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्द्धते ।
तस्मात् सत्यं हि वक्तव्यं सर्वं वर्णेषु साक्षिभिः ।।

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः ।
मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ।।
यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते ।
तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ।
एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे ।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येषः पुण्यपापेक्षिता मुनिः ।।

जो साक्षी सत्य बोलता है, वह जन्मान्तर में उत्तम जन्म और उत्तम लोकान्तरों में जन्म को प्राप्त होके, सुख भोगता है। और इस जन्म वा परजन्म में उत्तम कीर्ति को प्राप्त होता है। क्योंकि जो यह वाणी है, वही वेदों में सत्कार और तिरस्कार का कारण लिखी है। जो सत्य बोलता है, वह प्रतिष्ठित और जो मिथ्यावादी है, वह निन्दित होता है ।।

सत्य बोलने से साक्षी पवित्र होता, और सत्य ही बोलने से धर्म बढ़ता है। इससे सब वर्णों में साक्षियों को सत्य ही बोलना योग्य है ।।

आत्मा का साक्षी आत्मा ही होता है और आत्मा की गति आत्मा है। इसको जानके हे पुरुष ! तू सब मनुष्यों का उत्तम साक्षी अपने आत्मा का [असत्य बोल कर] अपमान मत कर। अर्थात् सत्य भाषण जो कि तेरे आत्मा-मन-वाणी में है, वह सत्य, और जो इससे विपरीत है, वह मिथ्याभाषण है ।।

जिस बोलते हुए पुरुष का विद्वान् क्षेत्रज्ञ अर्थात् शरीर का जानने-हारा आत्मा, भीतर शंका, भय व लज्जा को प्राप्त नहीं होता, विद्वान् लोग उससे भिन्न किसी को उत्तम पुरुष नहीं जानते अर्थात् ऐसा 'सत्य-साक्षी' पुरुष ही श्रेष्ठ पुरुष माना जाता है ।।

हे कल्याण की इच्छा करनेहारे पुरुष ? जो तू 'मैं अकेला हूं' ऐसा अपने आत्मा में जानकर मिथ्या बोलता है, सो ठीक नहीं है। क्योंकि यह दूसरा तेरे हृदय में अन्तर्यामीरूप से, परमेश्वर पुण्य-पाप का देखने वाला मुनि स्थित है; उस परमात्मा से डर कर सदा सत्य बोला कर ।।

मनु० ८१, ८३, ८४, ९६, ९१। स. प्र. २९२ ।।

लोभान्मोहाद् भयान्मैत्रात् कामात् क्रोधात्तथैव च ।
अज्ञानाद् बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ।। मनु. ८।११८।।

एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ।
तस्य दण्डविशेषांस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ।। मनु. ८।११९।।

उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् ।
चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ॥ मनु. ८।१२५॥
अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः ।
साराऽपराधौ चालोक्य दण्डं दण्डयेषु पातयेत् ॥ मनु. ८।१२६॥
अधर्म दण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्त्तिनाशनम् ।
अस्वर्ग्यञ्च परत्रापि तस्मात्तत् परिवर्जयेत् ॥ मनु. ८।१२७॥
अदण्डयान् दण्डयन् राजा दण्डयांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥ मनु. ८।१२८॥

जो लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध, अज्ञान और बालकपन अर्थात् बच्चा होने से साक्ष्य देवे, वह सब मिथ्या समझी जावे ।

इनमें से भिन्न स्थान अर्थात् अपनी उपस्थिति, विद्यमानता से पृथक् स्थान में तद्विषय में यदि साक्षी झूठ बोले, उसको मनुस्मृति अष्टम अध्याय में वक्ष्यमाण अनेक विधि दण्ड किया करे ।[1] स. प्र. २६४ ॥

दण्ड के उपस्थेन्द्रिय, उदर, जिह्वा, हाथ, पग. आँख, नाक, कान, धन और देह ये दश स्थान हैं, कि जिनपर दण्ड दिया जाता है ।

परन्तु जो-जो दण्ड लिखा है और लिखेंगे, जैसे लोभ से साक्ष्य देने में पन्द्रह रुपये दश आने दण्ड लिखा है; परन्तु जो अत्यन्त निर्धन हो, तो उससे कम और धनाढ्य हो, तो उससे दूना, तिगुना और चौगुना तक भी धन दण्ड रूप में ले लेवे । अर्थात् जैसा देश, जैसा काल और जैसा पुरुष हो, और उसका जैसा अपराध हो, वैसा ही दण्ड करे ।

क्योंकि इस संसार में जो अधर्म से दण्ड करना है, वह पूर्व प्रतिष्ठा वर्तमान और भविष्यत् में होने वाली कीर्ति का नाश करनेहारा है । और पर-जन्म में भी दुःखदायक होता है; इसलिये अधर्मयुक्त दण्ड किसी पर न करे ।

जो राजा दण्डनीयों को दण्ड नहीं देता और अदण्डनीयों को दण्ड देता है अर्थात् दण्ड देने योग्य को छोड़ देता, और जिसको दण्ड देना न चाहिए, उसको दण्ड देता है, वह जीता हुआ बड़ी निन्दा को, और मरे पीछे बड़े दुःख को प्राप्त होता है । इसलिये जो अपराध करे, उसको सदा दण्ड देवे, और अनपराधी निर्दोष को दण्ड कभी न देवे ॥

स. प्र. २६५, २६६ ॥

---

१. वहाँ द्र. मनु. ८।१२०-१२१ ॥ स. प्र. २६४-२६५॥

येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते ।
तत्तदेव हरेदस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥१॥

पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः ।
नादण्डयो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥२॥

कार्षापणं भवेद् दण्डयो यत्रान्यः प्राकृतो जनः ।
तत्र राजा भवेद् दण्डयः सहस्रमिति धारणा ॥३॥

अष्टापाद्यन्तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्विषम् ।
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत् क्षत्रियस्य च ॥४॥

ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापि शतं भवेत् ।
द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः ॥५॥

ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम् ।
नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ॥६॥

वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः ।
साहसस्य नरः कर्त्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥७॥

साहसे वर्तमानन्तु यो मर्षयति पार्थिवः ।
स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥८॥

न मित्रकारणाद्राजा बिपुलाद्वा धनागमात् ।
समुत्सृजेत् साहसिकान् सर्वभूतभयावहान् ॥९॥

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥१०॥

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तन्मन्युमृच्छति ॥११॥

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक् ।
न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक् ॥१२॥

मनु. ८।३३४-३३८, ३४४, ३४७, ३५०, ३५१, ३८६ ॥

चोर जिस प्रकार जिस-जिस अङ्ग से मनुष्यों में विरुद्ध चेष्टा अर्थात् प्रजा को दुःख देने वाले व्यवहार करता है, उस-उस अङ्ग को सब मनुष्यों की शिक्षा के लिए राजा हरण अर्थात् छेदन कर दे ॥१॥

चाहे पिता, आचार्य, मित्र, स्त्री, पुत्र और पुरोहित क्यों न हो, यदि स्वधर्म में स्थित नहीं रहता अर्थात् नियत कर्म का पालन नहीं करता, वह

राजा का अदण्डच नहीं अर्थात् अवश्य दण्डनीय होता है। अर्थात् जब राजा न्यायासन पर बैठ न्याय करे, तब किसी का भी पक्षपात न करे; किन्तु बिना पक्षपात यथोचित दण्ड देवे ॥ स. प्र. २६८ ॥

जिस अपराध में साधारण मनुष्य पर एक पैसा दण्ड हो, उसी अपराध में राजा को सहस्र पैसा दण्ड होवे। अर्थात् साधारण मनुष्य से राजा को सहस्र गुणा दण्ड होना चाहिये।[1]

मन्त्री अर्थात् राजा के दीवान को आठ सौ गुणा, उससे न्यून अधिकारी राजपुरुष को सात सौ गुणा, और उससे भी न्यून को छः सौ गुणा। इसी प्रकार उत्तर-उत्तर, अर्थात् जो एक छोटे-से-छोटा भृत्य अर्थात् चपरासी है, उसको आठ गुणे दण्ड से कम न होना चाहिए। क्योंकि यदि प्रजापुरुषों से राजपुरुषों को अधिक दण्ड न होवे, तो राजपुरुष प्रजापुरुषों का नाश कर देवे। जैसे सिंह अधिक और बकरी थोड़े दण्ड से ही वश में आ जाती है। इसलिए राजा से लेकर छोटे-छोटे भृत्य-पर्यन्त राजपुरुषों को एक जैसे अपराध में प्रजापुरुषों से अधिक दण्ड देना चाहिये ॥३॥

वैसे ही जो चोरी का अपराध हो, तो शूद्र को उस चोरी से आठ गुणा, वैश्य को सोलह गुणा और क्षत्रिय को बत्तीस गुणा तथा ब्राह्मण को चौंसठ गुणा वा सौ गुणा, अथवा एक सौ अट्ठाईस गुणा दण्ड होना चाहिये। अर्थात् जिसका जितना ज्ञान और जितनी प्रतिष्ठा अधिक हो, उसको उतना ही अधिक दण्ड होना चाहिये ॥४+५॥

राज्य के अधिकारी, धर्म और ऐश्वर्य की इच्छा करने वाला राजा को चाहिये कि बलात्कार के काम करने वाले डाकुओं को दण्ड देने में एक क्षण भी देर न करे। क्योंकि जो दुष्ट वचन बोलने, चोरी करने, बिना अपराध के दण्ड देने वाले से भी [अपेक्षाकृत अधिक] साहस-बलात्कार करने वाला पुरुष है, वह अतीव पापी दुष्ट है ॥६+७॥

जो राजा साहस में वर्तमान पुरुष को दण्ड न देकर [उपेक्षा या भय से उसको] सहन करता है, वह राजा शीघ्र ही नाश को प्राप्त होता है, और राज में द्वेष उठता है अर्थात् प्रजा से विरोध को प्राप्त करता है ॥८॥

न मित्रता और न पुष्कल धन की प्राप्ति से भी राजा सब प्राणियों को दुःख देने वाले साहसिक [महादुष्टाचारी क्रूर] मनुष्य को बन्धन किये बिना कभी न छोड़े ॥९॥ स. प्र. २६८ ॥

---

१. यहां से आगे का लेख मनु के भाव को स्पष्ट करने के लिये लिखा है।

चाहे गुरु हो, चाहे पुत्रादि बालक और पिता आदि वृद्ध हों, और चाहे बहुत शास्त्रों का श्रोता ब्राह्मण क्यों न हो, जो वह आततायी अर्थात् धर्म को छोड़ कर अधर्म में वर्तमान, दूसरे को विना अपराध मारने वाले दुष्ट पुरुष हैं, उनको सामने आते ही, विन विचारे मार डालना चाहिये अर्थात् मार के पश्चात् विचार करना चाहिये ।।१०।।

आततायी=दुष्ट पुरुषों के मारने में हन्ता को कोई पाप नहीं होता, चाहे प्रसिद्ध अर्थात् समक्ष मारे, चाहे अप्रसिद्ध। क्योंकि क्रोधी को क्रोध से मारना, जानो क्रोध से क्रोध की लड़ाई है ।।११।।

जिस राजा के राज्य में न चोर, न परस्त्रीगामी, न दुष्ट वचन का बोलनेहारा, न साहसिक डाकू, और न दण्डघ्न अर्थात् राजा की आज्ञा का भंग करने वाला है, वह राजा अतीव श्रेष्ठ है ।।१२।। स. प्र. २६९।।

प्रश्न—जो राजा वा राणी अथवा न्यायाधीश वा उसकी स्त्री व्यभिचारादि कुकर्म करे, तो उसको कौन दण्ड देवे ?

उत्तर—सभा; और उनको तो साधारण राजपुरुषों से भी अधिक दण्ड होना चाहिये।

प्रश्न—राजादि उनसे दण्ड क्यों ग्रहण करेंगे ?

उत्तर—राजा अर्थात् सर्वाधीश शासक भी एक पुण्यात्मा भाग्यशाली मनुष्य है। जब उसी को दण्ड न दिया जाय, और वह दण्ड ग्रहण न करे, तो दूसरे मनुष्य राज्य के दण्ड को क्यों मानेंगे ? और जब सब प्रजा और प्रधान राज्याधिकारी और सभा धार्मिकता से दण्ड देना चाहें, तो अकेला राजा क्या कर सकता है ? जो ऐसी व्यवस्था न हो, तो राजा प्रधान और सब समर्थ पुरुष अन्याय में डूब कर, न्याय-धर्म को डुबाके, सब प्रजा का नाश कर आप भी नष्ट हो जायें। स्मरण करो कि—'न्याययुक्त दण्ड ही का नाम राजा और धर्म है। जो उसका लोप करता है, उससे नीच पुरुष दूसरा कौन होगा ?' (मनु. ७।१७।। स. २७०)।

प्रश्न—यह शरीर छेदन या अङ्ग-भङ्ग जैसा कड़ा दण्ड होना उचित नहीं। क्योंकि मनुष्य किसी अङ्ग का बनानेहारा वा जिलाने वाला नहीं है। इसलिये ऐसा दण्ड न देना चाहिए।

उत्तर—जो इसको कड़ा दण्ड जानते हैं, वे राजनीति को नहीं समझते। क्योंकि एक पुरुष को इस प्रकार दण्ड होने से सब लोग बुरे काम करने से अलग रहेंगे, और बुरे काम को छोड़ कर धर्म-मार्ग में स्थित

रहेंगे। (स. प्र. २७०)। सच पूछो तो यही है कि एक राई-भर भी यह दण्ड सबके भाग में न आवेगा। और जो सुगम दण्ड [=हल्की सजा] दिया जाय, तो दुष्ट काम बहुत बढ़ कर होने लगें। वह जिसको तुम सुगम दण्ड कहते हो, वह क्रोड़ों गुणा अधिक होने से क्रोड़ों गुणा कठिन होता है। क्योंकि जब बहुत मनुष्य दुष्ट कर्म करेंगे, तब थोड़ा-थोड़ा दण्ड भी [दिया तो बहुत] देना पड़ेगा। अर्थात् जैसे एक को मन भर दण्ड हुआ और दूसरे को पावभर, तो पावभर अधिक एक मन दण्ड होता है तो प्रत्येक मनुष्य के भाग में आध पाव बीस सेर दण्ड पड़ा। तो ऐसे सुगम दण्ड को दुष्ट लोग क्या समझते हैं? जैसे एक को मन, [और] सहस्र मनुष्यों को पाव-पाव दण्ड हुआ, तो सवा छः मन मनुष्य-जाति पर दण्ड होने से अधिक और यही कड़ा, तथा वह एक मन दण्ड न्यून और सुगम होता है।

जो लम्बे मार्ग में समुद्र की खाड़ियों वा नदी तथा बड़े नदों में, जितना लम्बा देश [और जैसा काल=ग्रीष्म वर्षा आदि] हो उतना कर स्थापन करे और महासमुद्र में निश्चित कर स्थापन नहीं हो सकता। किन्तु जैसा अनुकूल देखे कि जिससे राजा और बड़े-बड़े नौकाओं के समुद्र में चलाने वाले दोनों लाभयुक्त हों, वैसी व्यवस्था करे। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि जो कहते हैं कि प्रथम जहाज नहीं चलते थे, वे अज्ञ हैं। देश-देशान्तर द्वीप-द्वीपान्तर में नौका से जाने वाले अपने प्रजास्थ पुरुषों की सर्वत्र रक्षा कर उनको किसी प्रकार का दुख न होने देवे॥

स. प्र.२७०, २७१

अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान्वाहनानि च।
आयव्ययौ च नियतावाकरान् कोषमेव च॥ मनु. ८।४१९॥

एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान् समापयन्।
व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम्॥मनु० ४२०॥

राजा प्रतिदिन कर्मों की समाप्तियों को, हाथी घोड़े आदि वाहनों को, नियत लाभ और खर्च, 'आकर' रत्नादिकों की खानें[1] और 'कोष' खजाने का निरीक्षण किया करे।

राजा इस प्रकार सब व्यवहारों को यथावत् समाप्त अर्थात् पूरा करता-कराता हुआ, सब पापों=विघ्न बाधाओं, कष्टों को पारकर परम-गति मोक्ष-सुख को प्राप्त होता है॥

---

१. अर्थात् स्थिर निधि=शेष जमा धन।

प्रश्न—संस्कृत-विद्या में पूरी-पूरी राजनीति है वा अधूरी ?

उत्तर—पूरी है, क्योंकि जो-जो भूगोल में राजनीति चली, [चल रही] और चलेगी वह सब संस्कृत विद्या से ली गई है। और जिनका प्रत्यक्ष लेख नहीं है, उनके लिये ऐसा लेख है कि—

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः (मनु० ८।३)

जो-जो नियम राजा और प्रजा के सुखकारक और धर्म-युक्त समझें, उन-उन नियमों को पूर्ण विद्वानों की राजसभा बांधा करे (तु. स.प्र. २५८) परन्तु इस पर नित्य ध्यान रक्खे कि जहां तक बन सके, वहाँ तक बाल्यावस्था में विवाह न करने देवें, युवावस्था में भी बिना स्त्री-पुरुष की प्रसन्नता के विवाह न करना-कराना और न करने देना। ब्रह्मचर्य का यथावत् सेवा करना-कराना [और समान गुण-कर्म स्वभावों का विवाह कराना और जाति नियम राजनियम बना, सबको शिक्षा वा विद्या दिलाने की व्यवस्था करना-कराना]।

व्यभिचार और बहु-विवाह को बन्द करें कि जिससे शरीर और आत्मा में पूर्ण बल सदा रहे। क्योंकि जो केवल आत्मा का बल, अर्थात् विद्या-ज्ञान बढ़ाये जायं और शरीर का बल न बढ़ावें, तो एक ही बलवान् पुरुष सैकड़ों ज्ञानी और विद्वानों को जीत सकता है। और जो केवल शरीर का ही बल बढ़ाया जाय, आत्मा का नहीं; तो भी राज्यपालन की उत्तम व्यवस्था बिना विद्या के कभी नहीं हो सकती। बिना व्यवस्था के सब आपस में ही फूट-टूट, विरोध, लड़ाई-झगड़ा करके नष्ट-भ्रष्ट हो जायें। इसलिए सर्वदा शरीर और आत्मा दोनों के बल को बढ़ाते रहना चाहिये। (स. प्र. २७२) ॥

जैसा बल और बुद्धि का नाशक व्यवहार व्यभिचार और अति विषयासक्ति है, वैसा और कोई नहीं है। विशेषतः क्षत्रियों अर्थात् सभेश राजा और उच्च राजपुरुषों को दृढ़ांग बलयुक्त होना चाहिये क्योंकि जब वे ही विषयासक्त होंगे, तो राजधर्म ही नष्ट हो जायेगा। और इस पर भी ध्यान रखना चाहिये कि **'यथा राजा तथा प्रजा,'**[1] जैसा राजा होता है, वैसी ही उसकी प्रजा होती है। इसलिये राजा और राजपुरुषों को अति उचित है कि कभी दुष्टाचार न करें, किन्तु सब दिन धर्म-न्याय से वर्त्त कर

१. चाणक्य नीतिदर्पण १३।८ (भार्गव पुस्तकालय, काशी उ० प्र०)

सबके सुधार का दृष्टान्त वनें।

यह संक्षेप से राजधर्म का वर्णन यहां किया है। विशेष, **वेद मनुस्मृति** के सप्तम अष्टम नवम अध्याय में, और **शुक्रनीति** तथा **विदुरप्रजागर** और **महाभारत शान्तिपर्व** के राजधर्म और आपद्धर्म आदि पुस्तकों में देख कर पूर्ण राजनीति को धारण करके माण्डलिक अथवा सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य करें और यही समझें कि **'प्रजापतेः प्रजा अभूम'** (यजुर्वेद १८।२९) हम प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्रजा और परमात्मा हमारा राजा, हम उसके किंकर भृत्यवत् हैं। वह कृपा करके अपनी सृष्टि में हमको राज्याधिकारी करे और हमारे हाथ से अपने सत्य न्याय की प्रवृत्ति करावे।

(स. प्र. २७३)।

अब आगे ईश्वर और वेद-विषय में लिखा जायेगा।

इति षष्ठः प्रवाहः

सप्तमः प्रवाहः

अथेश्वरवेदविषयं व्याख्यास्यामः

अब सप्तमप्रवाह में दृश्यादृश्य सृष्टि के सनातन कारण **ईश्वर** और उसके द्वारा सर्ग के आदि में जीवों के कल्याण के लिये दिये **वेद** के विषय में लिखते हैं।

जो परमात्मा, सबका आत्मा, सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप, अनन्त, अज, न्याय करने वाला, निर्मल, सदा पवित्र दयालु सब सामर्थ्य वाला, हमारा इष्टदेव है, वह हमको नित्य सहाय देवे।...जो ब्रह्म विमल, सुखकारक, पूर्णकाम, तृप्त [सब] जगत् में व्याप्त है, वही सब वेदों [के पढ़ने-पढ़ाने व सुनने-सुनाने] से प्राप्य है। जिसके मन में इस ब्रह्म [अक्षय] की प्रगटता (=यथार्थ विज्ञान) है, वही मनुष्य ईश्वर के [अक्षय] आनन्द का भागी होता है और वही सबसे सदैव सुखी है।...जो नर इस संसार में अत्यन्त प्रेम [अर्थात् सच्ची श्रद्धा] से, धर्मात्मता, विद्या, सत्सङ्ग, सुविचारता, निर्वैरता, जितेन्द्रियता और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परमात्मा का स्वीकार करता है, वह जन अतीव भाग्यशाली है। क्योंकि वह मनुष्य [वेद की] यथार्थ सत्यविद्या से, सम्पूर्ण जन्म-मरण के दुःख से छूट के परमानन्द-परमात्मा के नित्यसङ्गरूप मोक्ष-सुख को प्राप्त होता है।...परन्तु जो विषय लम्पट, विचार रहित [अर्थात् कुविचारी कुतर्की], विद्या धर्म, जितेन्द्रियता, सत्सङ्गरहित, छल-कपट-अभिमान-दुराग्रहादि दुष्टता युक्त है, सो वह कभी मोक्ष सुख को प्राप्त नहीं होता...और वह मनुष्य जन्म-मरण ज्वर आदि पीड़ाओं से पीड़ित होके सदा दुःखसागर में ही पड़ा रहता है।...(आर्याभिविनय उपक्रमणिका)।

सबके पिता और परम गुरु परमेश्वर ने हमको कृपा से सब व्यवहार और विद्यादि पदार्थों का [वेद से] उपदेश दिया है। जिससे हमको व्यवहार ज्ञान और परमार्थ ज्ञान होने से अत्यन्त सुख हो। जैसे सब जगत् का आदि कारण ईश्वर है, वैसे परम विद्या वेद का भी आदि कारण ईश्वर [ही] है (आर्या० प्र० ।२। तु० आ० नि० पृ० २२४)।...जिसको सब विद्वान् लोग जानने की इच्छा करते और खोजते हैं...और विषयों से

इन्द्रियों को रोक कर एकान्त देश में **समाधिस्थ होकर इसी मनुष्य शरीर में जिसको प्राप्त होते हैं**...उसी से वेद प्रकाशित हुए हैं।...उसको जो पुरुष अन्तर्यामी जानने वाला है तथा अपने आत्मा में उसका अभिध्यान [करता] और समाधियोग से उसका पूजन करता है, वही मुक्ति को प्राप्त होता है (आ० नि० पृ० २३०)।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥१॥

ऋ० मं० १। सूक्त १६४। मं० ३९॥५

इस मन्त्र का अर्थ—(यस्मिन्) जिस (अक्षरे) अविनाशी (परमे व्योमन्) आकाश के समान व्यापक सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर में (ऋचः) सत्यविद्यामय ऋग्वेदादि चार वेद और (विश्वे देवाः) पृथिवी सूर्य आदि सब लोक अथवा सब दिव्य गुण कर्म-स्वभाव-विद्यायुक्त पदार्थ (अधि निषेदुः) अधिकरण में स्थित होते हैं अर्थात् जिसमें सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है और जो सब देवों का देव परमेश्वर है, (यः) जो मनुष्य (तत् न वेद) उस पर ब्रह्म परमेश्वर को नहीं जानता, वह (ऋचा) ऋग्वेदादि चार वेद से (किं करिष्यति) क्या कुछ सुख को प्राप्त हो सकता है? किन्तु (ये) जो वेदों को पढ़के धर्मात्मा योगी होकर (इत् तत् विदुः) निश्चय से उस परब्रह्म को जानते हैं (ते इमे) ऐसे वे ही ये सब (समासते) उस परमेश्वर में अच्छे प्रकार स्थिर होते अर्थात् सम्यग् रूप से स्थित होके मुक्ति रूपी आनन्द को प्राप्त होते हैं (स. प्र. ७ समु. तथा ३ समु. द्र. है)। भाव यह है कि जो मनुष्य वेदों को पढ़के भी, वेदों से प्रतिपाद्य उस ब्रह्म को न जानते न मानते और उसका ध्यान नहीं करते, वे वेदों से कुछ भी फल नहीं पाते और वे नास्तिक मन्दमति सदा दुःख सागर में डूबे ही रहते हैं। इसलिये सर्वदा उसी को जानकर सब मनुष्य सुखी होते हैं (स. प्र. २७४। तु. ऋ. वे. भा. भू. पठन पाठन विषय)।

प्रश्न कइयों का मत हैं कि वेद में ईश्वर अनेक हैं[1], इस बात को तुम मानते हो वा नहीं?

उत्तर—नहीं मानते। क्योंकि चारों वेदों में ऐसा कहीं नहीं लिखा, जिससे अनेक ईश्वर सिद्ध हों। किन्तु यह तो लिखा है कि ईश्वर एक है।[2]

---

१. यह योरोपीय लोगों का मत है।

२. द्र० अथर्व० १३, ४ २४-२१। इनमें **न द्वितीयो न तृतीयः०** आदि २ से ९ संख्या तक निषेध करके अन्त में 'एक ब्रह्म' की स्थापना की है।

देखो यजु. १७।१९ में लिखा है कि जनयन् देव एकः अर्थात् "एक अद्वितीय सहाय रहित देव है, जो अपने अनन्त बल पराक्रम के द्वारा क्रियाशील परमाणु आदि से सूर्य और पृथिवी लोक को कार्य रूप में प्रगट करता हुआ सब जगत् को सम्यक् प्राप्त हो रहा है (तु. ऋषि दया. काव्य)" ऐसे ही अनेक मन्त्र वेदों में हैं (सं. क.)।

प्रश्न—वेदों में जो अनेक देवता लिखे हैं उसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'देवता' दिव्यगुणों से युक्त होने के कारण कहाते हैं, जैसी कि पृथिवी। परन्तु इसको कहीं ईश्वर [वा] उपासनीय नहीं माना है। देखो इसी **'ऋचो अक्षरे'** मन्त्र में कि 'जिसमें सब देवता स्थित हैं, वह जानने और उपासना करने योग्य ईश्वर है।' यह उन विद्वानों की भूल है जो देवता शब्द से केवल ईश्वर का ग्रहण करते हैं। परमेश्वर देवों का देव होने से 'महादेव' इसीलिये कहाता है कि वही सब जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयकर्त्ता, न्यायाधीश, अधिष्ठाता है (स. प्र. २७५)

(प्रश्न) यज्ञ में 'देवता' शब्द से किसका ग्रहण होता है ?

(उत्तर) यज्ञ क्रिया में मुख्य करके देवता शब्द से **वेदमन्त्रों** का ग्रहण होता है; क्योंकि जिन जिन मन्त्रों में 'अग्नि' 'वायु' 'पृथिवी' आदि शब्द हैं, उन-उन मन्त्रों का और उन-उन शब्दों के अर्थों का अग्नि आदि देवता नामों से ग्रहण होता है। **मन्त्रों का देवता नाम इसीलिये है कि उन्हीं से सब अर्थों का यथावत् प्रकाश होता है।** और भी—"गायत्री आदि छन्दों से युक्त वेदमन्त्र, यज्ञ, यज्ञ के साधन, परमेश्वर-प्रजापति, विद्वान् मनुष्य, अतिथि, माता-पिता और आचार्य ये अपने अपने दिव्य गुणों से ही देवता कहाते हैं।"[1]

(प्रश्न) देवता शब्द का अर्थ क्या है ?

(उत्तर) देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा।
(निरु० अ० ७। खं० १५)।

दानात्—दान देने से देव नाम पड़ता है। **दीपन** कहते हैं, प्रकाश करने को और **द्योतन** कहते हैं, सत्योपदेश को [अथवा प्रकाशन में हेतु होने को]। **द्युस्थाने**—द्यौ अर्थात् सूर्य किरणें या प्राण, और सूर्यादि लोक

---

१. ये ही गायत्र्यादि छन्द और इन छन्दों से युक्त मन्त्र "देवता" हैं, क्योंकि ये सब अर्थों का प्रकाश करने वाले हैं (द्र. ऋ. वे. भूमिका, वेद विषय)।

जिसका स्थान हो, ऐसे प्रकाशक पदार्थ का नाम 'द्युस्थान' है; वहां जो रह सबके प्रकाश का हेतु हो।

इनमें से दान का दाता मुख्य एक **ईश्वर** ही है कि जिसने प्राणियों के जगत् के सब पदार्थ दे रक्खे हैं। तथा **विद्वान्** मनुष्य भी विद्यादि पदार्थों के देने वाले होने से **देव** कहाते हैं।

सब मूर्तिमान द्रव्यों का प्रकाश करने से सूर्यादि लोकों का नाम भी देव है।

माता-पिता, आचार्य और अतिथि [=परिव्राजक साधु संन्यासी] भी पालन, विद्यादान और सत्योपदेशादि के करने से [अपने सन्तान और शिष्यों की बुद्धि का द्योतन कराते हैं, इसलिए] देव कहाते हैं।

सूर्य चन्द्रमा तारे विजली और अग्नि ये सब परमेश्वर में प्रकाश नहीं कर सकते; किन्तु इन सब [के प्रकाश का केन्द्र स्थान अर्थात्] इन सब सूर्यादि लोकों का भी प्रकाश करने वाला एक वही है। परमेश्वर के प्रकाश से ही [प्रकाश रहित पृथिवी आदि का भी प्रकाशक] सूर्यादि सब जगत् प्रकाशित हो रहा है। इसमें यह जानना चाहिये कि ईश्वर से भिन्न कोई पदार्थ स्वतन्त्र प्रकाश करने वाला नहीं है। अतः एक परमेश्वर ही मुख्य देव है। वही सब मनुष्यों को, उपासना करने के योग्य इष्टदेव है; अन्य कोई नहीं।

(प्रश्न) क्या किसी अन्य पदार्थ का भी देवता पद से ग्रहण होता है?

(उत्तर) हाँ, देव शब्द से इन्द्रियों का भी ग्रहण होता है। श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासा और मन ये छ इन्द्रियाँ देव कहाती हैं। क्योंकि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तथा सत्य और असत्य इत्यादि अर्थों का इनसे प्रकाश होता है।

जो देव हैं, वही देवता हैं; और देव शब्द से स्वार्थ में 'तत्' प्रत्यय करने से 'देवता' शब्द सिद्ध होता है। जो जो गुण जिस जिस पदार्थ में ईश्वर ने रचे हैं,...उनके कारण वे देवता कहलाते हैं अर्थात् जितना-जितना जिस पदार्थ में गुण हैं, उतना-उतना उस उसमें **'देवपन'** है। परन्तु इससे वे किसी के [उपास्य] इष्टदेव नहीं हो सकते।...इसी प्रकार देवता शब्द का व्यवहार अन्यत्र भी जान लेना चाहिये।

(प्रश्न) अन्य व्यवहारोपयोगी देवताओं की उपासना कभी क्यों नहीं करनी चाहिए?

(उत्तर) क्योंकि सर्वशक्तिमत्त्वादि गुण उसी परमेश्वर में ही रहते हैं; इसलिए उसके सामने किसी देवता की गिनती नहीं।...और क्योंकि सब वेदों में उसी एक अद्वितीय, जिसे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं तथा सर्वव्यापक परमात्मा की ही नाना प्रकार से उपासना कही गई है। उससे भिन्न जितने भी 'देवता' वेद में कहे गए हैं या कहे जाएँगे, वे सब उसी एक परमेश्वर के 'प्रत्यङ्ग' हैं अर्थात् उसी के सामर्थ्य के एक-एक देश में प्रकाशित होते हैं। उनका अपना कोई प्रकाश नहीं; परमात्मा के प्रकाश से ही उन [अग्नि सूर्य आदि] का प्रकाश है।

इसलिए व्यवहार के उपयोगी देवताओं की उपासना कभी नहीं करनी चाहिए। इसका निश्चय वेदों में अनेक प्रकार से किया गया है कि एक अद्वितीय परमेश्वर के ही प्रकाश, धारण तथा उत्पादन करने से वे सब व्यवहार के देव प्रकाशित हो रहे हैं। इनका 'जन्म' और 'कर्म' ईश्वर के सामर्थ्य से होता है। परमात्मा ही सब देवताओं का सर्वस्व है।...क्योंकि परमेश्वर ने जिस जिसमें जितना जितना दिव्य गुण रखा है, उन द्रव्यों में उतना-उतना ही 'देनपन' है। अर्थात् सब देवों का वही उत्पादक, धाता, अधिष्ठाता और मङ्गलकारी है। उससे उत्कृष्ट वस्तु संसार में कोई नहीं, ऐसा सबको जानना चाहिए।★

अब आगे देवता विषय में तैंतीस देवों का व्याख्यान लिखते हैं। जो **'त्रयस्त्रिंशद् देवाः'**[1] अथवा **'ये त्रयस्त्रिंशता'**[2] अथवा **'ये त्रिंशति त्रय स्परो देवासः'**[3] इत्यादि प्रकार से वेदों में तैंतीस देवों का संकेत है उसकी व्याख्या शतपथ ब्राह्मण में दी गयी है।[4] अर्थात् व्यवहार के ये तेंतीस देवता हैं: आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, एक इन्द्र और एक प्रजापति।

उनमें से आठ वस्तु ये हैं:—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य और नक्षत्र। इनका 'वसु' नाम इस कारण से है कि सब पदार्थ इन्हीं में बसते हैं और ये ही सब सृष्टि के निवास करने के स्थान हैं।

★ यहां 'देवता विषयक लेख' ऋग० वे० भा० भू० वेद विषय से लिया है, स. प्र. में नहीं है।

१. अथर्व. १०।७।२३,२७॥ २. यजु० १४।३१ ३. ऋ० ८।२८।१॥

४. आगे देवों का व्याख्यान शत. ब्रा. काण्ड १४। अ. ६। ब्र. ७। कण्डिका ३-७,९, १० के अनुसार है (स. प्र. २७५)।

ग्यारह रुद्र ये कहाते हैं:—जो शरीर में दशप्राण हैं अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान [पञ्च मुख्य प्राण] तथा नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय (पञ्च उपप्राण) और ग्यारहवां जीवात्मा। क्योंकि जब ये शरीर को छोड़ जाते हैं, तब मृतक के सम्बन्धियों को शरीर से निकलते समय रुलाते हैं, इसलिए इनका नाम रुद्र है।

बारह आदित्यः– इसी प्रकार एक सम्वत्सर के चैत्र से लेकर फाल्गुन मास पर्यन्त बारह महीनों को आदित्य कहते हैं; क्योंकि ये सब जगत् के पदार्थों का आदान अर्थात् सब प्राणियों की आयु को ग्रहण करते चले जाते हैं।

एक इन्द्रः—बिजली का नाम 'इन्द्र' इस हेतु से है कि यह परम ऐश्वर्य की विद्या का मुख्य हेतु है।

एक प्रजापतिः—यज्ञ को 'प्रजापति' कहने का कारण यह है कि उससे वायु, सृष्टि, जल और औषधी की शुद्धि, विद्वानों का सत्कार, और नाना प्रकार की शिल्पविद्या से प्रजा का पालन होता है।

ये सब मिल कर अपने-अपने दिव्य गुणों के योग से तैंतीस **'देव'** कहाते हैं। इनका स्वामी और सबसे बड़ा होने से परमात्मा चौंतीसवां उपास्य देव शतपथ (१४।६।९।२०) में स्पष्ट लिखा है। इसी प्रकार अन्यत्र भी शास्त्रों में लिखा है। जो ये विद्वान्' इन शास्त्रों को देखते, तो वेदों में अनेक ईश्वर मानने रूप भ्रमजाल में गिरकर क्यों बहकते?

(स. प्र. २७६)।

इनमें से कोई भी उपासना के योग्य इष्टदेव नहीं है। किन्तु जीवन में व्यवहार सिद्धि के लिए ये सब पूर्वोक्त वसु आदि देव (अर्थात् दिव्य गुण कर्म स्वभाव युक्त पदार्थ) हैं। सब मनुष्यों के उपासना के योग्य 'पूज्य देव' तो एक ब्रह्म ही है।…जो कोई इस सब जगत् के कर्त्ता सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म से भिन्न को इष्टदेव मानता है, उसे 'अनार्य' अर्थात् अनाड़ी कहना चाहिये।…जो कोई वेद प्रतिपादित देवों के देव परमेश्वर को छोड़के किसी दूसरे पदार्थ या गुरु आदि में, 'ईश्वर बुद्धि' से प्रेम-भक्ति करता है, वह सदा दुःखी होकर रोदन करेगा।

(प्रश्न) वेदों के प्रतिपादन से एक ईश्वर की पूजा सिद्ध नहीं होती, क्योंकि उनमें जड़ और चेतन दोनों की पूजा लिखी है।

(उत्तर) ऐसा भ्रम मत करो।…पूजा के विषय में जानना चाहिए

कि "जो दूसरे का (यथायोग्य) सत्कार, प्रियाचरण अर्थात् उसके अनुकूल करना होता है, उसी का नाम पूजा है ।" अग्नि आदि पदार्थों में जितना २ अन्य पदार्थों के गुण धर्म का द्योतन = प्रकाशन होना और उन दिव्यगुणों के ज्ञान से क्रिया करके उनका उपयोग लेना अर्थात् क्रिया सिद्धि और लेने का सम्भव है, उतना २ उन अग्नि आदि में देवपन भी है। ऐसा मानने में कुछ भी हानि नहीं हो सकती। परन्तु वेदों में जहां २ उपासना का विधान किया गया है, वहां तो 'एक अद्वितीय परमेश्वर का ही पूजनीय देवता रूप में ग्रहण किया गया है।

(प्रश्न) क्या देवताओं में भी भेद है ?

(उत्तर) हाँ, इस देवता विषय में दो प्रकार का भेद है—**मूर्तिमान् और अमूर्तिमान्**। जैसे—पञ्च देवों में माता, पिता, आचार्य और अतिथि (=मुख्यतः संन्यासी) ये चार तो मूर्तिमान् देवता हैं और पांचवाँ परब्रह्म अमूर्तिमान् हैं अर्थात् उसकी किसी प्रकार की मूर्ति नहीं है। इस प्रकार से पांच देवों की पूजा में यह दो प्रकार का भेद जानना उचित है।

इसी प्रकार पूर्वोक्त आठ वसुओं में से अग्नि, पृथिवी, सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र ये पांच मूर्तिमान् देव हैं और वायु द्यौ और अन्तरिक्ष अमूर्तिमान् हैं। ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, मन, पांच ज्ञानेन्द्रियां और मन्त्र ये सब भी अमूर्तिमान् देव हैं। तथा इन्द्र अर्थात् बिजुली और प्रजापति अर्थात् यज्ञ (=विधि यज्ञ) ये सब देव मूर्तिमान् और अमूर्तिमान् भी हैं। विद्युत और विधि यज्ञ में जो शब्द तथा ज्ञान है वह अमूर्तिमान् और उनका दर्शन तथा सामग्री है, वह मूर्तिमान् जानना चाहिये।

इस प्रकार साकार=मूर्त्त और निराकार=अमूर्त्त भेद से दो प्रकार की व्यवस्था देवताओं में जाननी चाहिए। इनमें से—

१. पृथिव्यादि का देवपन केवल व्यवहार में।

२. माता, पिता, आचार्य और अतिथियों का व्यवहार में उपयोग और परमार्थ का प्रकाश करना मात्र ही देवपन है और

३. ऐसे ही मन और इन्द्रियों का उपयोग भी व्यवहार और परमार्थ करने में होता है, यही इनका देवपन है। परन्तु

४. निश्चय से सब इष्ट अर्थात् 'धर्म-अर्थ-काम' रूप सब व्यवहार और 'मोक्ष' रूप परमार्थ की सिद्धि के लिए उपकारक होने से सब मनुष्यों का उपासना करने के योग्य एक परमेश्वर ही 'इष्टदेव' है। परमात्मा को

छोड़कर वेदों में और किसी देवता को पूज्य=पूजा के योग्य और उपास्य नहीं कहा गया।

(प्रश्न) कितने ही आजकल के भारतीय-विद्वन् और यूरोप देश-वासी मोक्षमूलर आदि अंगरेज व जर्मन रशियन आदि लोग ऐसी शंका करते हैं कि वेदों में पृथिव्यादि भौतिक देवताओं की पूजा करना लिखा है और पहले आर्य लोग भूतों की पूजा किया करते थे, फिर उन्हें पूजते-पूजते बहुत काल पीछे उन्होंने सृष्टि के 'कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता' रूप से एक परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना- उपासना के योग्य जाना।

(उत्तर) उनका यह कहना भ्रान्त और सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि वेदों और उनके प्राचीन व्याख्यानों में कहीं भी भूतों की पूजा करना नहीं लिखा है। आर्य लोग सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त इन्द्र, वरुण और अग्नि आदि नाना नामों से एक परमेश्वर की ही उपासना करते चले आये हैं। इस विषय में अनेक प्रमाण ऋषि दयानन्द अपनी ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पुस्तक के 'वेद विषय विचार' प्रकरण में दिए हैं। हमने प्रथम प्रवाह में इन नामों से सत्यार्थ भी लिखे हैं।

अहं दा गृणते पूर्व्यं वस्वहं ब्रह्म कृणवं मह्यं वर्धनम्।
अहं भुवं यजमानस्य चादितायज्वनः साक्षि विश्वस्मिन् भरे॥

ऋ० मं० १०। सू० ४९। मं० १॥

ईश्वर सबको उपदेश करता है कि हे मनुष्यों! मैं (गृणते) सत्य-भाषणरूप स्तुति करने वाले मनुष्य को (पूर्व्यं वसु) सनातन ज्ञानादि धन को देता हूं। मैं (ब्रह्म कृणवम्) ब्रह्मा अर्थात् वेद का प्रकाश करनेहारा और (मह्यं वर्धनं) मुझको वह वेद यथावत् कहता है, उससे सबके ज्ञान को मैं बढ़ाता। मैं सत् पुरुष का प्रेरक, यज्ञ करनेहारे को फलप्रदाता, और इस विश्व में जो कुछ है, उस सब कार्य का बनाने और धारण करने वाला हूं। इसलिये तुम लोग मुझको छोड़ किसी दूसरे को मेरे स्थान में मत पूजो, मत मानो और मत जानो॥ (स. प्र. २७५-२७७)।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

यजु० १३।४॥

हे मनुष्यो! जो (अग्रे) सृष्टि के पूर्व (हिरण्गर्भः समवर्त्तत) सब सूर्य्यादि तेजवाले लोकों का उत्पत्ति-स्थान आधार, और (भूतस्य जातः)

जो कुछ उत्पन्न हुआ था, है और होगा (पतिः एक आसीत्) उसका स्वामी था, है और होगा, (दाधार पृथिवीं द्यां उत इमां) वह पृथिवी से लेके सूर्य-लोकपर्य्यन्त सृष्टि को बनाके धारण कर रहा है। (कस्मै देवाय) उस सुखस्वरूप परमात्मा ही की (हविषा विधेम) भक्ति जैसे हम करें, वैसे तुम लोग भी करो ।।

प्रश्न—आप ईश्वर-ईश्वर कहते हो, परन्तु उसकी सिद्धि किस प्रकार करते हो ? (स. प्र. २७७) ।

उत्तर—सब प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ।

प्रश्न—ईश्वर में प्रत्यक्षादि प्रमाण कभी नहीं घट सकते ।

उत्तर—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यव-सायात्मकं प्रत्यक्षम् ।। गौतम न्यायदर्शन १।१।४।

जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण और मन का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध सुख-दुःख, सत्यासत्य विषयों के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको **'प्रत्यक्ष'** कहते हैं, परन्तु वह निर्भ्रम हो [अर्थात् दोष शून्य हो] ।

अब विचारना चाहिये कि इन्द्रियों और मन से सदा गुणों का ही प्रत्यक्ष होता है, गुणी का नहीं । जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नाम गुण का ज्ञान होने से इन गुणों को अधिष्ठान अर्थात् पृथिवी आदि है, उसका आत्मायुक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है है वैसे ही इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचना-विशेष आदि ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है ।

और जब आत्मा, मन और मन, इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता, वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है, उस समय जीव की इच्छा ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाता है । उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय शङ्का और लज्जा, तथा अच्छे कामों के करने में निःशङ्कता और आनन्दोत्साह उठता है । वह जीवात्मा की ओर से नहीं, किन्तु उसके अन्तर्यामी परमात्मा की ओर से होता है ।

और जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है, उसको उसी समय दोनों अर्थात् 'स्व-आत्मा' और 'परम-आत्मा' परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है, तो फिर अनुमान से परमेश्वर के ज्ञान होने

में क्या सन्देह हैं ? क्योंकि कार्य्य को देख के कारण का अनुमान होता है। सृष्टि कार्य है; इसका कारण अर्थात् कर्त्ता कोई होना चाहिये। क्योंकि विना कर्त्ता के कोई कार्य कभी नहीं हो सकता। इस प्रकार अनुमान प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि होती है।

सृष्टि के आदि से ऋषि मुनियों ने समाधि में उस अन्तर्यामी का प्रत्यक्ष किया है। वे आप्त पुरुष हैं। आप्तों के वचन शब्द-प्रमाण हैं। उनके निर्दोष सत्यवचन, ईश्वर की सिद्धि में शब्द प्रमाण हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द इन तीनों मुख्य प्रमाणों से ईश्वर की सिद्धि होती है।[1]

प्रश्न—ईश्वर व्यापक है, वा किसी देश-विशेष में रहता है ?

उत्तर—व्यापक है। क्योंकि जो एक देश में रहता, तो सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता, सबका स्रष्टा, सबका धर्त्ता और प्रलयकर्ता कभी नहीं हो सकता। अप्राप्त देश में अर्थात् जहां कर्म करने वाला न हो, वहाँ कर्त्ता की क्रिया का होना असम्भव है। सृष्टि में सर्वत्र क्रिया दीखती है। सो उसका कर्त्ता भी सर्वत्र व्यापक है।

प्रश्न—परमेश्वर दयालु और न्यायकारी है, वा नहीं ?

उत्तर—है।

प्रश्न—ये दोनों गुण तो परस्पर विरुद्ध दिखते हैं। जो न्याय करे, तो दया और दया करे, तो न्याय छूट जाय। क्योंकि 'न्याय' उसको कहते हैं कि जो कर्मों के अनुसार न अधिक न न्यून सुख-दुःख पहुंचाना। और 'दया' उसको कहते हैं कि जो अपराधी को विना दण्ड दिये छोड़ देना।

उत्तर—न्याय और दया का नाममात्र ही भेद है। क्योंकि दोनों का प्रयोजन एक है; जो न्याय से प्रयोजन सिद्ध होता है, वही दया से। दण्ड देने का प्रयोजन है कि मनुष्य अपराध करने से बन्ध होकर दुःखों को प्राप्त न हो। वही '**दया**' कहाती है, जो पराये दुःखों का छुड़ाना। और जैसा अर्थ दया और न्याय का सामान्य अविद्वान् जन समझते मानते कहते हैं, वह ठीक नहीं है।

क्योंकि जिसने जैसा जितना बुरा कर्म किया हो, उसको उतना वैसा ही दण्ड देना चाहिये, उसी का नाम '**न्याय**' है। और जो अपराधी को दण्ड न दिया जाय, तो दया का नाश हो जाय। क्योंकि एक अपराधी

१. प्रमाणों द्वारा ईश्वर सिद्धि विषयक लेख में परिवर्धन किया है, स्पष्टीकरणार्थ।

डाकू को छोड़ देने से सहस्रों धर्मात्मा पुरुषों को दुःख होता है। जब एक के छोड़ने में सहस्रों मनुष्यों को दुःख प्राप्त होता है, तो वह दया किस प्रकार हो सकती है ? दया वही है कि उस डाकू को कारागार में रखकर उसे पाप करने से बचाना। यह दया है डाकू पर। और उस डाकू को मार देने से अन्य सहस्रों मनुष्यों पर दया प्रकाशित होती है कि उनके प्राण और धनमाल की रक्षा होने से उन्हें सुख मिला। (तु. स. प्र. २७९)।

प्रश्न—फिर दया और न्याय दो शब्द क्यों हुए ? क्योंकि जब उन दोनों का अर्थ एक ही होता है, तो दो शब्दों का होना व्यर्थ है। इसलिये एक शब्द का रहना तो अच्छा था। इससे क्या विदित होता है ? कि दया और न्याय का एक प्रयोजन नहीं है।

उत्तर—क्या एक अर्थ के अनेक नाम, और एक नाम के अनेक अर्थ नहीं होते ?

प्रश्न—होते हैं।

उत्तर—तो पुनः तुमको शङ्का क्यों हुई ?

प्रश्न—संसार में सुनते हैं, इसलिये।

उत्तर—संसार में तो सच्चा-झूठा दोनों सुनने में आता है, परन्तु उसका विचार से निश्चय करना विचारवान् पुरुष का अपना काम है। देखो, ईश्वर की पूर्ण दया तो यह है कि जिसने सब जीवों के प्रयोजन सिद्ध होने के अर्थ जगत् में सकल पदार्थ उत्पन्न करके दान दे रक्खे हैं। इससे भिन्न दूसरी बड़ी दया कौन-सी है ? अब न्याय का फल प्रत्यक्ष दीखता है कि सुख-दुःख की व्यवस्था अधिक और न्यूनता से फल को प्रकाशित कर रही है।

इन दोनों का इतना ही भेद है कि जो मन से सबको सुख होने और दुःख छूटने की इच्छा और क्रिया करना है, वह **'दया'** कहाती है और बाह्य चेष्टा अर्थात् बन्धन-छेदनादि यथावत् दण्ड देना **'न्याय'** कहाता है। दोनों का एक प्रयोजन यह है कि सबको पाप और दुःखों से पृथक् कर देना।

प्रश्न—ईश्वर साकार है, वा निराकार (स. प्र. २८०)।

उत्तर—निराकार। क्योंकि जो साकार होता, तो व्यापक नहीं हो सकता। जब व्यापक न होता, तो सर्वज्ञादि गुण भी ईश्वर में न घट सकते। क्योंकि परिमित वस्तु में गुण-कर्म-स्वभाव भी परिमित रहते है। तथा शीतोष्ण, क्षुधा-तृषा, और रोग-दोष, छेदन-भेदन आदि से रहित नहीं हो

सकता। इससे यही निश्चित है कि ईश्वर निराकार है। जो साकार हो, तो उसके नाक कान आंख आदि अवयवोंका वनानेहारा, कोई दूसरा होना चाहिये। क्योंकि जो संयोग से उत्पन्न होता है, इसको संयुक्त करनेवाला निराकार चेतन अवश्य होना चाहिये।

जो कोई यहां ऐसा कहे कि ईश्वर ने स्वेच्छा से आप-ही-आप अपना शरीर वना लिया, तो भी वही सिद्ध हुआ कि शरीर वनने के पूर्व निराकार था। इसलिये परमात्मा कभी शरीर धारण नहीं करता। किन्तु निराकार होने से सब जगत् को परमाणुरूप सूक्ष्म कारणों से स्थूलाकार बना देता है। अर्थात् अदृश्य को दृश्य कर देता है। परन्तु निराकार होने से 'दृश्य' स्वयं कभी नहीं होता।

प्रश्न—ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, वा नहीं ?

उत्तर—है, परन्तु जैसा तुम सर्वशक्तिमान् का अर्थ मानते जानते हो, वैसा नहीं। किन्तु '**सर्वशक्तिमान्**' शब्द का यही अर्थ है कि ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति, पालन, प्रलय आदि और सब जीवों के पुण्य-पाप को यथायोग्य व्यवस्था करने में, किंचित् भी किसी अन्य की सहायता नहीं लेता। अर्थात् अपने अनन्त सामर्थ्य से ही सब अपना काम पूर्ण कर लेता है।

प्रश्न—हम तो ऐसा मानते हैं कि ईश्वर चाहे सो करे। क्योंकि उसके ऊपर दूसरा कोई नहीं है।

उत्तर—वह क्या चाहता है ? जो तुम कहो कि सब कुछ चाहता और कर सकता है, तो हम तुमसे पूछते हैं कि परमेश्वर अपने को मार, अनेक ईश्वर बना, स्वयं अविद्वान् होकर चोरी व्यभिचारादि पापकर्म कर और दुःखी भी हो सकता है क्या ? जैसे ये काम ईश्वर के गुण कर्म स्व-भाव से विरुद्ध हैं, तो जो तुम्हारा कहना है कि 'वह सब कुछ कर सकता है' यह कभी नहीं घट सकता। इसलिये 'सर्वशक्तिमान्' शब्द का अर्थ जो हमने कहा, वही ठीक है कि वह अपने सृष्टि कर्म में दूसरे की सहाय की अपेक्षा नहीं रखता।

प्रश्न—परमेश्वर सादि है, वा अनादि ? (स. प्र. २८१)।

उत्तर—अनादि। अर्थात् जिसका आदि कोई कारण वा समय न हो, उसको '**अनादि**' कहते हैं। इत्यादि सब अर्थ प्रथमप्रवाह में विस्तार से कर दिया है, देख लीजिये।

प्रश्न—परमेश्वर क्या चाहता है ?

उत्तर—सबकी भलाई, और सबके लिये सुख चाहता है। परन्तु स्वतन्त्रता के साथ किसी को बिना पाप किये पराधीन नहीं करता।

प्रश्न—परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना और उपासना करनी चाहिए, वा नहीं ?

उत्तर—अवश्य करना चाहिये।

प्रश्न—क्या स्तुति आदि करने से ईश्वर अपना नियम छोड़ स्तुति-प्रार्थना उपासना करने वाले का पाप छुड़ा देगा ?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—तो फिर स्तुति-प्रार्थना उपासना क्यों करनी चाहिये ?

उत्तर—उनके करने के फल अन्य ही हैं; पापक्षमा करना नहीं।

स्तुति से—ईश्वर में प्रीति, उसके गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म-स्वभाव का सुधारना। **प्रार्थना से**—निरभिमानता, उत्साह और सहाय का मिलना। **उपासना से**-परब्रह्मसे मेल और उसका साक्षात्कार होना।

(स. प्र. २२८)

जैसे ईश्वर की स्तुति—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥१॥ यजु० अ० ४०। मं० ८॥

वह परमात्मा सब में व्यापक, शीघ्रकारी और अनन्त बलवान्, जो शुद्ध सर्वज्ञ, सबका अन्तर्यामी, सर्वोपरि विराजमान, सनातन, स्वयंसिद्ध, परमेश्वर अपनी जीवरूप सनातन अनादि प्रजा को अपनी सनातन विद्या से यथावत् अर्थों का बोध वेदद्वारा कराता है। यह उसकी **सगुण-स्तुति** अर्थात् जिस-जिस गुण से सहित परमेश्वर की स्तुति करना होता है, वह सगुण कहाती है।

'अकाय' अर्थात् वह कभी शरीर धारण वा जन्म नहीं लेता, जिसमें छिद्र नहीं होता, जो नाड़ी आदि के बन्धन में नहीं आता, और कभी पापाचरण नहीं करता, जिसमें क्लेश दुःख अज्ञान कभी नहीं होता, इत्यादि जिस-जिस राग-द्वेषादि गुण से पृथक् मानकर परमेश्वर की स्तुति करना होता है, वह **निर्गुण-स्तुति** कहाती है।

इससे अपने गुण-कर्म-स्वभाव भी तद्वत् करना, यह इसका फल है। जैसे वह न्यायकारी है, तो आप भी न्यायकारी होवे। और जो केवल भांड के समान परमेश्वर के गुणकीर्तन करता जाता, और अपने चरित्र नहीं सुधारता, उसका स्तुति करना व्यर्थ होता है। (स. प्र. २८३)।

अब दूसरी प्रार्थना—

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥१॥
यजु० ३२।१४॥

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्य्यमसि वीर्य्यं मयि धेहि। बलमसि बलं मयि धेह्योजोऽस्योजो मयि धेहि। मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥२॥
यजु० अ० १९। मं० ९॥

हे अग्ने, अर्थात् प्रकाशस्वरूप परमेश्वर! आप की कृपा से जिस बुद्धि की उपासना विद्वान् ज्ञानी और योगी लोग करते हैं, उसी बुद्धि से युक्त हमको इसी वर्तमान समय में बुद्धिमान् आप कीजिये॥१॥ आप प्रकाशस्वरूप हैं, कृपा कर मुझमें भी प्रकाश-स्थापन कीजिये। आप अनन्त पराक्रमयुक्त हैं, इसलिये मुझमें भी कृपा-कटाक्ष से पूर्ण पराक्रम धरिये। आप अनन्तबलयुक्त हैं, इसलिये मुझमें भी बलधारण कीजिए। आप अनन्त-सामर्थ्ययुक्त हैं, [इसलिये] मुझको भी पूर्ण सामर्थ्य दीजिये। आप दुष्ट काम और दुष्टों पर क्रोधकारी हैं, मुझको भी वैसा ही कीजिये। आप निन्दा-स्तुति और स्व अपराधियों का सहन करने वाले हैं, कृपा से मुझको भी वैसा ही कीजिये॥२॥ स. प्र. २८४।

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमउक्तिं विधेम॥
यजु० ४०। १६॥

हे सुख के दाता, स्वप्रकाशस्वरूप, सबको जाननेहारे परमात्मन्! आप हमको श्रेष्ठमार्ग से सम्पूर्ण प्रज्ञानों को प्राप्त कराइये। और जो हमसें कुटिल पापाचरण-रूप मार्ग है, उससे पृथक् कीजिये। इसलिये हम लोग नम्रतापूर्वक आपकी बहुत-सी स्तुति करते हैं कि आप हमको पवित्र करें।

मा नो महान्तमुत मा नोऽअर्भकं मा नऽउक्षन्तमुत मा न उक्षितम् ।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः ।
यजु० अ० १६। मं० १५ ॥

हे रुद्र=दुष्टों को पाप के दुःखस्वरूप फल को देके रुलाने वाले परमेश्वर ! आप हमारे छोटे-वड़े जन, गर्भ, माता-पिता और प्रिय वन्धु-वर्ग तथा शरीरों का हनन करने के लिए प्रेरित मत कीजिये। ऐसे मार्ग से हमको चलाइये, जिससे हम आपके दण्डनीय न हों।

असतो मा सद् गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति ।
शतपथ ब्रा० १४।३।१।३०॥

हे परमगुरो परमात्मन् ! आप हमको असत् मार्ग से पृथक् कर सन्मार्ग में प्राप्त कीजिये। अविद्यान्धकार को छुड़ाके विद्यारूप सूर्य को प्राप्त कीजिये। और मृत्यु-रोग से पृथक् करके मोक्ष के आनन्द-रूप अमृत को प्राप्त कीजिये। कीजिये=कराइये।

अर्थात् जिस-जिस गुण से परमेश्वर और अपने को युक्त मान उन गुणों को अपने में धारण कराने के लिए और जिस-जिस दोष वा दुर्गुण से परमेश्वर और अपने को भी पृथक् मान के उससे दूर रहने के लिये परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है, वह विधि-निषेधमुख होने से **'सगुण-निर्गुण प्रार्थना'** कहाती है। स. प्र. २८५-२८६ ॥

जो मनुष्य जिस बात की प्रार्थना करता है, उसको वैसा ही वर्तमान करना चाहिए। अर्थात् जैसे सर्वोत्तम बुद्धि की प्राप्ति के लिए परमेश्वर की प्रार्थना करे, उसके लिये जितना अपने से प्रयत्न हो सके, उतना किया करे। अर्थात् अपने पुरुषार्थ के उपरान्त प्रार्थना करनी योग्य है।

ऐसी प्रार्थना कभी न करनी चाहिये, और न परमेश्वर उसको स्वीकार करता है कि जैसे—'हे परमेश्वर ! आप मेरे शत्रुओं का नाश कर दीजिये, मुझको सबसे वड़ा वना दीजिये मेरी ही प्रतिष्ठा हो और मेरे आधीन सव हो जाय' इत्यादि। क्योंकि जव दोनों शत्रु एक-दूसरे के नाश केलिये प्रार्थना करे, तो क्या परमेश्वर दोनों का नाश कर दे? जो कोई कहे कि जिसका प्रेम अधिक, उसकी प्रार्थना सफल हो जावे। तब हम कह सकते हैं कि जिसका प्रेम न्यून हो, उसके शत्रु का भी न्यून नाश होना चाहिये। ऐसी मूर्खता की प्रार्थना करते-करते कोई ऐसी भी प्रार्थना करेगा—'हे परमेश्वर ! आप हमको रोटी बनाकर खिलाइये। मेरे मकान में झाड़

लगाइये, वस्त्र धो दीजिये, और खेती-बाड़ी भी कीजिये।'

इस प्रकार जो परमेश्वर के भरोसे आलसी होकर बैठे रहते हैं, वे महामूर्ख हैं। क्योंकि जो परमेश्वर की पुरुषार्थ करने की आज्ञा है, उसको जो कोई तोड़ेगा, वह सुख कभी न पावेगा। दरिद्रीवत् सदा दुःखसागर में गोते खाता रहेगा। वेद में लिखा है:—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजिविषेच्छत ँ समाः ।।

यजु० ४०।२।।

मनुष्य सौ वर्ष पर्यन्त अर्थात् जब तक जीवे, तब तक कर्म करता हुआ ही जीने की इच्छा करे; आलसी कभी न हो (स. प्र. २८७)।

देखो सृष्टि के बीच में जितने प्राणी-अप्राणी हैं, वे सब अपने-अपने कर्म और यत्न करते ही रहते हैं। जैसे पिपीलिका आदि सदा प्रयत्न करते, पृथिवी आदि सदा घूमते, और वृक्ष आदि सदा बढ़ते-घटते रहते हैं; वैसे यह दृष्टांत मनुष्यों को भी ग्रहण करना योग्य है। जैसे लोक में पुरुषार्थ करते हुए पुरुष का सहाय दूसरा भी करता है; वैसे धर्म से पुरुषार्थी पुरुष का सहाय ईश्वर भी करता है।

जैसे काम करने वाले पुरुष को ही भृत्य रखते हैं और अन्य आलसी को नहीं; देखने की इच्छा करने और नेत्रवाले को दिखलाते हैं, अन्धे को नहीं। इसी प्रकार परमेश्वर भी सबके उपकार करने की प्रार्थना में सहायक होता है, हानिकारक कर्म में नहीं। जो कोई 'गुड़ मीठा है' ऐसा कहता ही है, परन्तु प्राप्त कर गुड़ खाता नहीं; उसको गुड़ प्राप्त वा उसका स्वाद प्राप्त कभी नहीं होता। और जो यत्न करता है, उसको शीघ्र वा विलम्ब से गुड़ मिल ही जाता है।

अब तीसरी उपासना—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयन्तदन्तःकरणेन गृह्यते ।।२।।'

जिस पुरुष के समाधियोग से चित्त के अविद्यादि मल नष्ट हो गये हैं, आत्मस्थ होकर परमात्मा में चित्त जिसने लगाया है, उसको जो परमात्मा के योग का सुख होता है, वह वाणी से कहा नहीं जा सकता। क्योंकि उस आनन्द को स्वयं जीवात्मा अपने अन्तःकरण से ग्रहण करता है।

---

१. मैत्रायण्यु० प्र० ४। वचन ६।। तथा मैत्रायणीय आरण्य. ६। ३४।। यहां प्रथम पाद में 'समाधिनिर्धौतमलस्य' पाठ है।

'उपासना' शब्द का अर्थ समीपस्थ होना है। अष्टाङ्गयोग से परमात्मा के समीपस्थ होने, और उसको सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामीरूप से प्रत्यक्ष करने के लिये जो-जो काम करना होता है, वह-वह सब करना चाहिये। अर्थात् (स. प्र. २८८)—

तत्राऽहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥

जो उपासना का आरम्भ करना चाहे, उसके लिये यही आरम्भ है कि वह (अहिंसा) किसी से वैर न रक्खे, सर्वदा सबसे प्रीति करे। (सत्य) सत्य बोले, मिथ्या कभी न बोले। (अस्तेय) चोरी न करे, सत्य व्यवहार करे। (ब्रह्मचर्य) जितेन्द्रिय हो, लम्पट न हो। और निरभिमानी हो अभिमान कभी न करे। ये पांच प्रकार के **'यम'** मिलके 'उपासनायोग का प्रथम अङ्ग' हैं।

शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ योग सा० पा० ३०।३२॥

(शौच) राग-द्वेष छोड़ भीतर, और जलादि से बाहर पवित्र रहे। (सन्तोष) धर्म से पुरुषार्थ करने से लाभ में न प्रसन्नता, और हानि में न अप्रसन्नता करे। (तपः) प्रसन्न होकर आलस्य छोड़ सदा पुरुषार्थ किया करे। सदा दुःख-सुखों का सहन, और धर्म ही का अनुष्ठान करे, अधर्म का नहीं। (स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान) सर्वदा सत्यशास्त्रों को पढ़ं-पढ़ावे, सत्पुरुषों का संग करे, और **'ओ३म्'** इस एक परमात्मा के निज नाम का अर्थ-विचार करे; नित्यप्रति जप किया करे; अपने आत्मा को परमेश्वर की आज्ञानुकूल समर्पित कर देवे। इन पांच प्रकार के **'नियमों'** को मिला के 'उपासनायोग का दूसरा अङ्ग' कहाता है। इसके आगे छः अङ्ग **योग-शास्त्र** वा ऋषि दयानन्द कृत **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** उपासना विषय में देख लेवें।

जब उपासना करना चाहे, तब एकान्त शुद्ध देश में जाकर, आसन लगा, प्राणायाम कर बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोक, मन को नाभिप्रदेश में, वा हृदय कण्ठ नेत्र शिखा अथवा पीठ के मध्य हाड़ में किसी स्थान पर स्थिर कर अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन करके परमात्मा में

---

१. नाभ्यां कण्ठे च शीर्षे च हृदि वक्षसि पार्श्वयोः ।
दर्शने श्रवणे चाऽपि घ्राणे चामितविक्रम ॥
स्थानेष्वेतेपु यो योगी महाव्रतसमाहितः ।
आत्मना सूक्ष्ममात्मानं युङ्क्ते सम्यग् विशांपते ॥ महा० शान्ति ३००।३९, ४०॥
इसी प्रकार योग व्यासभाष्य २।१ भी द्रष्टव्य हैं।

मग्न होकर संयमी होवे (स. प्र. २८६)।

उपासक पुरुष जब इन साधनों को करता है, तब उसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण हो जाता है। नित्यप्रति ज्ञान-विज्ञान बढ़ाकर मुक्ति तक पहुंच जाता है। जो आठ प्रहर में एक घड़ीभर भी इस प्रकार ध्यान करता है, वह सदा उन्नति को प्राप्त हो जाता है।

वहां सर्वज्ञादि गुणों के साथ परमेश्वर की उपासना करनी **'सगुण उपासना'** और द्वेष रूप रस गन्ध स्पर्शादि गुणों से पृथक् मान अतिसूक्ष्म आत्मा के भीतर-बाहर व्यापक परमेश्वर में दृढ़ स्थित हो जाना **'निर्गुणोपासना'** कहाती है।

इस स्तुति-प्रार्थना-उपासना का फल—जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त हो जाता है, वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष, दुःख छूटकर परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव पवित्र हो जाते हैं। इसलिये परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना अवश्य करनी चाहिये। इससे इसका फल पृथक् होगा, परन्तु आत्मा का बल इतना बढ़ेगा कि वह पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी न घबरावेगा, और सबको सहन कर सकेगा। क्या यह छोटी बात है? और जो परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना नहीं करता, वह कृतघ्न और महामूर्ख भी होता है। क्योंकि जिस परमात्मा ने इस जगत् के सब पदार्थ जीवों को सुख के लिये दे रक्खे हैं, उसका गुण भूल जाना, ईश्वर ही को न मानना कृतघ्नता और मूर्खता है।

प्रश्न—जब परमेश्वर के श्रोत्र-नेत्रादि इन्द्रियां नहीं हैं: फिर वह इन्द्रियों का काम कैसे कर सकता है? (स. प्र. २६०)

उत्तर—अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः, स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्॥
श्वेत० उप० ३। १६॥

परमेश्वर के हाथ नहीं, परन्तु अपनी शक्तिरूप हाथ से सबका रचन ग्रहण करता है। पग नहीं, परन्तु व्यापक होने से सबसे अधिक वेगवान है। चक्षु का गोलक नहीं, परन्तु सबको यथावत् देखता है। श्रोत्र नहीं, तथापि सबकी बातें सुनता है। अन्तःकरण नहीं, परन्तु सब जगत् को जानता है। और उसको अवधिसहित जाननेवाला कोई भी नहीं। उसी को सनातन, सबसे श्रेष्ठ, सबमें पूर्ण होने से 'पुरुष' कहते हैं। वह इन्द्रियों और अन्तःकरण से होने वाले सब काम, अपने सामर्थ्य से ही करता है।

प्रश्न—उसको बहुत से मनुष्य निष्क्रिय और निर्गुण कहते हैं ?

उत्तर—

न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

देखो, श्वेता॰ उपनिषद् (६।८) में लिखा है कि परमात्मा से कोई तद्रूप कार्य, और उसको करण अर्थात् साधकतम[1] दूसरा अपेक्षित नहीं। न कोई उसके तुल्य और और न अधिक है। उसकी, सर्वोत्तम शक्ति है। उसमें अनन्तज्ञान, अनन्तबल और अनन्तक्रिया जो है, वह स्वाभाविक अर्थात् सहज रूपमें सुनी जाती है। जो परमेश्वर निष्क्रिय होता, तो जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय न कर सकता। इसलिये वह विभु है, तथापि चेतन होने से उसमें क्रिया भी है (स॰ प्र॰ २९२)।

प्रश्न—जब वह क्रिया करता होगा, तब उसकी अन्तवाली क्रिया होती होगी, वा अनन्त ?

उत्तर—वह परमात्मा' जितने देश-काल में क्रिया करनी उचित समझता है, उतने ही देश-काल में क्रिया करता है, न अधिक न न्यून। क्योंकि वह विद्वान् है।

प्रश्न—परमेश्वर अपना अन्त जानता है, वा नहीं ?

उत्तर—परमात्मा पूर्ण ज्ञानी है। क्योंकि **'ज्ञान'** उसको कहते हैं कि जिससे ज्यों-का-त्यों जाना जाय। अर्थात् जो पदार्थ जिस प्रकार का हो, उसको उसी प्रकार का जानने का नाम **'ज्ञान'** है। जब परमेश्वर अनन्त है, तो उसको अनन्त ही जानना ज्ञान; उससे विरुद्ध जानना अज्ञान है। अर्थात् अनन्त को सान्त और सान्त को अनन्त जानना **'भ्रम'** कहाता है। **'यथार्थदर्शनं ज्ञानमिति'** जिसका जैसा गुण-कर्म-स्वभाव हो, उस पदार्थ को वैसा ही जानकर मानना, 'ज्ञान और विज्ञान' कहाता है, इससे उल्टा अज्ञान कहाता है (स॰ प्र॰ २९२)

प्रश्न—ईश्वर अवतार लेता है, वा नहीं ?

उत्तर—नहीं। क्योंकि **'अज एकपात्'** (३४।५३), **स पर्यगाच्छुक्रम-कायम्'** (४०।८) इन यजुर्वेद के वचनों से सिद्ध है कि परमेश्वर जन्म नहीं लेता।

---

१. द्र॰-साधकतमं करणम्। पाणिनी अष्टा॰ १।४।४२॥

प्रश्न—यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।। भ० गी० ४।७।।

श्रीकृष्णजी कहते हैं कि—'जब-जब धर्म का लोप होता है, तब-तब मैं शरीर धारण करता हूं । क्या यह बात अप्रमाण है ?

उत्तर—यह बात वेदविरुद्ध तथा बुद्धियुक्तिरहित होने से प्रमाण नहीं । और हाँ, ऐसा हो सकता है कि श्रीकृष्ण धर्मात्मा और धर्म की रक्षा करना चाहते थे कि मैं युग-युग में जन्म लेके श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों का नाश करूं, तो ऐसा कहने में कुछ दोष नहीं। क्योंकि, **'परोपकाराय सतां विभूतयः'**[1] परोपकार के लिये सत्पुरुषों का तन-मन-धन होता है । तथापि इससे श्रीकृष्ण ईश्वर कभी नहीं हो सकते ।

प्रश्न—जो ऐसा है, तो संसार में जो चौवीस ईश्वर के अवतार होते हैं, इनको अवतार क्यों मानने हैं ? (स. प्र. २६४) ।

उत्तर—वेदार्थ के न जानने, सम्प्रदायी लोगों के बहकाने, और अपने-आप अविद्वान् होने से भ्रमजाल में फंसके ऐसी-ऐमी अप्रमाणिक बातें करते और मानते हैं ।

प्रश्न जो ईश्वर अवतार न लेवे, तो कंस-रावणादि दुष्टों का नाश कैसे हो सके ?

उत्तर—प्रथम जो जन्मा है, वह अवश्य मृत्यु को प्राप्त होता है । सो उनकी मृत्यु निश्चित थी । दूसरे, जो ईश्वर, अवतार अर्थात् शरीर धारण किये विना ही जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करता है, उसके सामने कंस और रावणादि एक कीड़ी के समान भी नहीं । वह सर्वव्यापक होने से कंस-रावणादि के शरीरों में भी परिपूर्ण हो रहा है । जब चाहे, उसी समय मर्मच्छेदन कर नाश कर सकता है । भला इस अनन्त-गुण-कर्म-स्वभावयुक्त परमात्मा को एक क्षुद्र जीव के मारने के लिए जन्ममरणयुक्त कहना, मूर्ख-पन से अन्य कुछ नहीं है, तो और क्या है ?

और जो कोई कहे कि भक्तजनों के उद्धार करने के लिये जन्म लेता है; तो भी सत्य नहीं। क्योंकि जो भक्तजन ईश्वर की आज्ञानुकूल चलते हैं, उनके उद्धार करने का पूरा सामर्थ्य ईश्वर में है। क्या ईश्वर के पृथिवी सूर्य चन्द्रादि जगत् को बनाने, धारण और प्रलय करने रूप कर्मों

१. पूरा श्लोक इस प्रकार है—'मूले भुजङ्गैः शिखरे विहङ्गैः, शाखाः प्लवङ्गैः कुसुमानि भृङ्गैः। आश्चर्यमेतत् खलु चन्दनस्य, परोपकाराय सतां विभूतयः' ।। कस्यचित् कवेः ।

से कंस-रावणादि का वध और गोवर्धनादि पर्वतों का उठाना बड़े कर्म हैं ? जो कोई इस सृष्टि में परमेश्वर के कर्मों का विचार करे, तो 'न भूतो न भविष्यति'[1] ईश्वर के सदृश कोई न है, न होगा (स, प्र. २९५)।

और तीसरे, युक्ति से भी ईश्वर का जन्म सिद्ध नहीं होता। जैसे कोई अनन्त आकाश को कहे कि 'गर्भ में आया' वा 'मुठी में धर लिया', ऐसा कहना कभी सच नहीं हो सकता। क्योंकि आकाश अनन्त और सबमें व्यापक है, इससे न आकाश बाहर आता और न भीतर जाता। वैसे ही अनन्त सर्वव्यापक परमात्मा के होने से उसका शरीर में आना-जाना कभी सिद्ध नहीं हो सकता।

चौथे, किसी का जाना वा आना वहां हो सकता है, जहां वह न हो। क्या परमेश्वर गर्भ में व्यापक नही था, जो कहीं से आया ? और बाहर नहीं था, जो भीतर से निकला ? ऐसा सर्वव्यापक सर्वज्ञ ईश्वर के विषय में कहना और मानना विद्याहीनों के सिवाय कौन कह और मान सकेगा ? इसलिए परमेश्वर का आना-जाना जन्म-मरण कभी सिद्ध नहीं हो सकता।

इसलिए 'ईसा' आदि भी ईश्वर के अवतार नहीं हैं, ऐसा समझ लेना चाहिए। क्योंकि राग-द्वेष, क्षुधा-तृषा, भय-शोक, दुःख-सुख, जन्म-मरण आदि गुणयुक्त होने से वे सब मनुष्य थे।

प्रश्न—ईश्वर अपने भक्तों के पाप क्षमा करता है, वा नहीं ?

उत्तर—नहीं। क्योंकि जो पाप क्षमा करे, तो उसका न्याय नष्ट हो जाय, और सब मनुष्य महापापी हो जायें। क्योंकि क्षमा की बात सुन ही के उनको पाप करने में निर्भयता और उत्साह हो जाये। जैसे, यदि राजा-शासक अपराध को क्षमा कर दे, तो वे उत्साहपूर्वक अधिक-अधिक बड़े-बड़े पाप करें। क्योंकि राजा अपना अपराध क्षमा कर देगा। और उनको भी भरोसा हो जाय कि राजा से हम हाथ जोड़ने आदि चेष्टा कर अपने अपराध छुड़ा लेंगे। और जो अपराध नहीं करते, वे भी अपराध करने से न डरकर पाप करने में प्रवृत्त हो जायेंगे। इसलिये सब कर्मों का फल यथावत् यथासमय 'न न्यून न अधिक' देना ही ईश्वर का काम है; पापी अपराधी को क्षमा करना नहीं।

---

१. इस चरण को समस्या के रूप में रखकर भिन्न-भिन्न कवियों ने इस की भिन्न-भिन्न प्रकार से पूर्ति की है। द्र०—'समयोचित-पद्यमालिका' निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई सन् १९२४, पृष्ठ ३४।

प्रश्न—जीव स्वतन्त्र है, वा परतन्त्र ?

उत्तर—जीव अपने कर्त्तव्य कर्मों में स्वतन्त्र, और ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र है। **'स्वतन्त्रः कर्त्ता'** यह पाणिनीय का सूत्र (१।४।५४) है, जो स्वन्त्र अर्थात् स्वाधीन है, वही कर्त्ता है।

प्रश्न—स्वतन्त्र किसको कहते हैं ?

उत्तर—जिसके आधीन शरीर प्राण इन्द्रिय और अन्तःकरणादि हों। जो इन साधनों से कर्म करने में जीव स्वतन्त्र न हो, तो उसको पाप-पुण्य का फल प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि जैसे भृत्य स्वामी और सेना सेनाध्यक्ष की आज्ञा अथवा प्रेरणा से युद्ध में अनेक पुरुषों को मारके अपराधी नहीं होते, वैसे परमेश्वर की प्रेरणा और आधीनता से काम सिद्ध हों, तो जीव को पाप वा पुण्य न लगे। उस फल का भागी प्रेरक परमेश्वर होवे। नरक-स्वर्ग अर्थात् दुःख-सुख की प्राप्ति भी परमेश्वर को होवे। (स. प्र. २९६-२९७)।

जैसे किसी मनुष्य ने शस्त्र विशेष से किसी को मार डाला, तो वही मारने वाला पकड़ा जाता है, और वही दण्ड पाता है, शस्त्र नहीं। वैसे ही कर्म करने में पराधीन जीव पाप-पुण्य का भागी नहीं हो सकता। इसलिये अपने सामर्थ्यानुकूल कर्म करने में जीव स्वतन्त्र है। परन्तु जब वह पाप कर चुकता है, तब ईश्वर की व्यवस्था में पराधीन होकर पाप के फल भोगता है। इसलिये कर्म करने में जीव स्वतन्त्र, और पाप के दुःख-रूप फल भोगने में परतन्त्र होता है।

प्रश्न—जो परमेश्वर जीव को न बनाता और सामर्थ्य न देता, तो जीव कुछ भी न कर सकता। इसलिये परमेश्वर की प्रेरणा ही से जीव कर्म करता है।

उत्तर—तुम्हारा यह मानना युक्त नहीं; क्योंकि जीव उत्पन्न कभी न हुआ, अनादि है। जैसा सृष्टि का कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता ईश्वर और जगत् का उपादान कारण प्रकृति नित्य है, वह भी स्वयं-सत् है। उसे ईश्वर ने बनाया नहीं और जीव का शरीर तथा इन्द्रियों के गोलक परमेश्वर के बनाये हुए हैं; परन्तु वे सब जीव के आधीन हैं। जो कोई मन-कर्म-वचन से पाप-पुण्य करता है, वही भोगता है, ईश्वर नहीं।

जैसे किसी ने पहाड़ से लोहा निकाला, उस लोहे को किसी व्यापारी ने लिया। उसकी दुकान से लोहार ने लोहा ले, तलवार बनाई। उस व्यापारी से किसी सिपाही ने तलवार ले ली। फिर उससे किसी ने किसी को

मार डाला। अब यहां, जैसे लोहे को उत्पन्न करने वाले, उससे लेने वाले, फिर तलवार बनाने वाले और उस तलवार को जिससे हत्या की गई, पकड़ कर राजा दण्ड नहीं देता; किन्तु जिसने तलवार से मारा, वही दण्ड पाता है। इसी प्रकार शरीरादि की उत्पत्ति करने वाला परमेश्वर उस जीव के कर्मों का भोक्ता नहीं होता; किन्तु जीव को फल भुगाने वाला होता है।

जो परमेश्वर कर्म कराता, तो कोई जीव पाप नहीं करता। क्योंकि परमेश्वर पवित्र और धार्मिक होने से किसी जीव को पाप करने में प्रेरणा नहीं करता। इसलिये जीव अपने काम करने में स्वतन्त्र है। जैसे जीव अपने कामों के करने में स्वतन्त्र है, वैसे ही परमेश्वर भी सृष्टि कर्त्तृत्व और जीवों को फलदातृत्व रूप अपने कामों के करने में स्वतन्त्र है (स॰ प्र॰ २६८)।

प्रश्न—जीव और ईश्वर का स्वरूप, 'गुण कर्म और स्वभाव' कैसा है ?

उत्तर—दोनों चेतनस्वरूप हैं। स्वभाव दोनों का पवित्र, अविनाशी और धार्मिकता आदि है। परन्तु परमेश्वर के सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय, सबको नियम में रखना, जीवों को पाप-पुण्यों के फल देना आदि धर्मयुक्त कर्म हैं। और जीव के सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन, शिल्पविद्या आदि अच्छे-बुरे कर्म हैं। ईश्वर के नित्य-ज्ञान, आनन्द, अनन्तबल आदि गुण हैं। और जीव के—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति ॥ न्यायःसू॰ १।१।१०॥

प्राणापाननिमेषोन्मेषमनोगतीन्द्रियान्तर्विकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥ वैशेषिक सूत्र (३।२।४) ॥

(इच्छा) पदार्थों की प्राप्ति की अभिलाषा, (द्वेष) दुःखादि की अनिच्छा वैर, (प्रयत्न) पुरुषार्थ बल, (सुख) आनन्द, (दुःख) विलाप अप्रसन्नता, (ज्ञान) विवेक पहिचानना, ये गुण, न्याय व वैशेषिक दोनों शास्त्रों में तुल्य हैं। परन्तु वैशेषिक में (प्राण) प्राणवायु को बाहर निकालना[1] (अपान) प्राण को बाहर से भीतर को लेना, (निमेष) आंख को मीचना, (उन्मेष) आंख को खोलना, (मन) निश्चय स्मरण और

---

१. प्राण और अपान का जो अर्थ ऋषि दया॰ के मतानुसार यहां लिखा है, वही प्राचीन है। इसी विषय में नया प्रमाण है-'योऽयमूर्ध्वमाक्रमत्येष वाव स प्राणः, अथ योऽयमवाङ् संक्रामत्येष वाव सोऽपानः'। मैत्रायणीय आरण्यक २।६६॥

ग्रहंकार करना, (गति) चलना, (इन्द्रिय) सब इन्द्रियों को चलाना, (ग्रन्तर्विकार) भिन्न-भिन्न क्षुधा-तृषा, हर्ष-शोकादियुक्त होना, [ये ग्रधिक बताये हैं]। ये जीवात्मा के गुण, परमात्मा के गुणों से भिन्न हैं। इन्हीं [इच्छा, द्वेषादि सूक्ष्म गुण या लक्षणों] से आत्मा की प्रतीति करनी होती है; क्योंकि वह स्थूल नहीं है सूक्ष्म तत्त्व है।

जब तक ग्रात्मा, देह में होता है, तभी तक ये गुण प्रकाशित रहते हैं। ग्रौर जब शरीर छोड़ कर चला जाता है, तब ये गुण शरीर में नहीं रहते। जिसके होने से जो हों ग्रौर न होने से न हों, वे गुण उसी के होते हैं। जैसे दीप ग्रौर सूर्यादि के न होने से प्रकाशादि का न होना ग्रौर होने से होना है; वैसे ही जीव ग्रौर परमात्मा दोनों का विज्ञान ग्रर्थात् प्रत्यक्ष जानना उनके गुण द्वारा होता है (स. प्र. २९९)।

प्रश्न—परमेश्वर त्रिकालदर्शी है, इससे भविष्यत की बातें जानता है। वह जैसा निश्चय करेगा, जीव वैसा ही करेगा। इससे जीव स्वतन्त्र नहीं। ग्रौर जीव को ईश्वर दण्ड भी नहीं दे सकता। क्योंकि जैसा ईश्वर ने ग्रपने ज्ञान से निश्चित किया है, वैसा ही जीव करता है।

उत्तर—ईश्वर को त्रिकालदर्शी कहना युक्ति-युक्त नहीं है। क्योंकि जो होकर न रहे, वह 'भूतकाल', ग्रौर जो न होके होवे, वह 'भविष्यत्काल' कहाता है। क्या ईश्वर को कोई ज्ञान होके नहीं रहता तथा न होके होता है? इसलिये परमेश्वर का ज्ञान सदा एकरस ग्रखण्डित वर्त्तमान रहता है। भूत भविष्यत् जीवों के लिये है। हां, जीवों के कर्म की ग्रपेक्षा से त्रिकालज्ञता ईश्वर में है, स्वतः नहीं।

जैसा स्वतन्त्रता से जीव कर्म करता है, वैसाही सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है। ग्रौर जैसा ईश्वर जानता है, वैसा जीव करता है। ग्रर्थात् भूत भविष्यत् वर्त्तमान के ज्ञान ग्रौर फल देने में ईश्वर स्वतन्त्र, ग्रौर जीव किञ्चित् वर्त्तमान ग्रौर कर्म करने में स्वतन्त्र है। ईश्वर का ग्रनादि ज्ञान होने से जैसा कर्म का ज्ञान है, वैसा ही दण्ड देने का भी ज्ञान ग्रनादि है। दोनों ज्ञान उसके सत्य हैं। क्या कर्म ज्ञान सच्चा ग्रौर दण्डज्ञान मिथ्या कभी हो सकता है? इसलिये इस सिद्धान्त में कोई भी दोष नहीं ग्राता (स. प्र. २९९) "कि जैसा स्वतन्त्रता से कर्म जीव करता है, वैसा ही सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है।"

प्रश्न—जीव शरीर में भिन्न विभू है, वा परिच्छिन्न?

उत्तर—परिच्छिन्न। जो विभु ग्रर्थात् देहव्यापी जितना देह, उतना

होता तो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मरण-जन्म, संयोग-वियोग, आना-आना कभी नहीं हो सकता। इसलिये जीव का स्वरूप अल्पज्ञ अल्प अर्थात् सूक्ष्म है। और परमेश्वर अतीव सूक्ष्मात्सूक्ष्मतर, अनन्त, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक-स्वरूप है। इसीलिये जीव और परमेश्वर का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है।

प्रश्न—जिस जगह में एक वस्तु होती है, उस जगह में दूसरी वस्तु नहीं रह सकती। इसलिये जीव और ईश्वर का संयोग-सम्बन्ध हो सकता है; व्यापक-व्यापक सम्बन्ध नहीं।

उत्तर—यह नियम समान आकारवाले पदार्थों में घट सकता है; जैसे-एक मनुष्य और एक गाय दोंनों एक ही जगह में नहीं रह सकते। परन्तु असमानाकृति में नहीं। जैसे लोहा स्थूल, अग्नि सूक्ष्म होता है। इस कारण से लोहे में विद्युत्-अग्नि व्यापक होकर एक ही अवकाश में दोनों रहते हैं। वैसे जीव परमेश्वर से स्थूल और परमेश्वर जीव से सूक्ष्म होने से परमेश्वर व्यापक और जीव व्याप्य है। जैसे यह व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध जीव ईश्वर का है, वैसे ही सेव्य-सेवक, आधाराधेय स्वामी-भृत्य, राजा-प्रजा और पिता-पुत्र आदि भी सम्बन्ध दोनों के हैं (स. प्र. ३००)।

प्रश्न—यदि ईश्वर और जीव पृथक् पृथक् हैं, तो वेदों के इन 'महा-वाक्यों, का अर्थ क्या है ?"★

प्रज्ञानं ब्रह्म[1] ॥१ **अहं ब्रह्मास्मि** ॥२॥
तत्त्वमसि ॥३॥ **अयमात्मा ब्रह्म** ॥४॥

उत्तर—ये वेदवाक्य ही नहीं हैं; किन्तु ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदों के वचन हैं। दूसरे इनका नाम 'महावाक्य' कहीं ऋषिकृत सत्यशास्त्रों में नहीं लिखा। इनका नाम 'महावाक्य' नवीन वेदान्तियों ने रखा है, सो अप्रमाण है (स. प्र. ३००)।

अब प्रथम वाक्य पर विचार करते हैं। वेदान्ति लोग जीव की[1]

★ उत्तरकालीन साम्प्रदायिक उपनिषदों में इन्हें महावाक्य कहा गया है।

i प्रज्ञानं ब्रह्म, तत्त्वमसि, अयमात्मान्तर्याम्यमृतः, अहं ब्रह्मास्मीति महावाक्यैः प्रति-पादितमर्थम्···। हयग्रीवोपनिषद् ॥१॥

ii अथ महावाक्यानि चत्वारि। यथा ओं प्रज्ञानं ब्रह्म ॥१॥ ओम् अहं ब्रह्मास्मि ।२। ओं तत्त्वमसि ॥३॥ ओम् अयमात्मा ब्रह्म ॥४॥ शुकरहस्योपनिषद् द्र. ॥

iii ऐसा प्रतीत होता है, ऋषिदयानन्द ने इन वाक्यों को किसी एक ही स्थल से लिया है।

१. एत. ३।५।३॥ सत्यार्थप्रकाश में इस वाक्य का विवरण नहीं है। हमने यह अर्थ ऋषि दयानन्द के "वेदान्तिध्वान्त निवारणम्" से लिया है।

ब्रह्म मानने में प्रथम **'प्रज्ञानं ब्रह्म'** इस वाक्य का प्रमाण ऋग्वेद के नाम से देते हैं। ऋग्वेद का व्याख्यान जो ऐतरेय ब्राह्मण है, उसमें यह वाक्य है। ऋग्वेद में यह वाक्य कहीं नहीं है। इसमें ब्रह्म का स्वरूप निरूपण किया है कि **"प्रकृष्टं ज्ञानं यस्मिन् तत्प्रज्ञानं अर्थात् प्रकृष्टज्ञानस्वरूपम्"** जिसमें प्रकृष्ट सर्वोत्तम अनन्त ज्ञान है। अर्थात् जिस को कभी अविद्यान्धकार अज्ञान के लेशमात्र का भी सम्बन्ध नहीं होता, न हुआ और न होगा, ऐसा 'ब्रह्म'। "ब्रह्म" जो सबसे वृद्ध (बड़ा) और सब जगत् का बढ़ानेवाला, स्वभक्तों को अनन्तमोक्ष सुख से बढ़ाने वाला तथा व्यवहार में भी (बृहत्) बड़े सुख का देने वाला। ऐसा परमात्मा का स्वभाव और स्वरूप है ॥१॥

अब दूसरे वाक्य **अहं ब्रह्मास्मि** [बृह. उ. १।४।१०] इस वाक्य का विचार करते हैं। नवीन वेदान्ती लोग ऐसा अर्थ करते हैं कि "मैं ब्रह्म हुं। भ्रान्ति से मैं जीव बना था। सो अब मैंने जान लिया है कि मैं साक्षात् ब्रह्म हूं।" इसे यजुर्वेद का वचन कहते हैं, किन्तु यह यजुर्वेद में कहीं नहीं है।

इस वचन का पूर्वापर सम्बन्ध जानने के लिये शतपथ ब्रा० काण्ड ३४, प्रपा० ३, ब्रा० २, कण्डिका १८ से लेकर २२ तक का लेख विचारना चाहिये। प्रकरण में यह है कि सब जीव परमेश्वर को उपासना करें (वे. ध्वा. निवा. ३६९)।...उस परमात्मा के सामर्थ्य से सब जगत् उत्पन्न हुआ, ऐसा विद्वानों के बीच में से जो पुरुष, ब्रह्म को अविद्या निद्रा से उठ के जानता है, सो ही ब्रह्मानन्द सुख युक्त होता है।...अज्ञान निद्रा से उठके ब्रह्म विद्यारूप प्रकाश को प्राप्त हो ब्रह्म के नित्य सुख को प्राप्त होता है।...ऐसा विज्ञान समाधिस्थ, परमेश्वर के ध्यान में तत्पर वामदेव ऋषि को प्राप्त हुआ था। सो यह विज्ञान जिस पुरुष को इस प्रकार से होगा, वह भी इस प्रकार जानेगा कि (वे. ध्वा. नि. ३७०)—

य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति।[1] (शत. १४।३।२।२२) ॥

अर्थात् (अहम्) में (ब्रह्म) ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मस्थ (अस्मि) हूं कि मेरे बाहर और भीतर ब्रह्म ही व्यापक (=भर रहा है)। जो इस प्रकार ज्ञानवाला पुरुष होता है, सो इस सब सुख को प्राप्त होता है।[2] यहां तात्स्थ्योपाधि है। जैसे—'मञ्चाः क्रोशन्ति' मचान पुकारते हैं। मचान

१. द्र० शत० १२।४।२।२२॥ २. वे० ध्वा० निवा० ३७०॥

जड़ है, उनमें पुकारने का सामर्थ्य नहीं, इसलिये मञ्चस्थ मनुष्य पुकारते हैं, ऐसा भाव है। इसी प्रकार यहां भी जानना।

कोई कहे कि ब्रह्मस्थ सब पदार्थ हैं, पुनः जीव को ब्रह्मस्थ कहने में क्या विशेष है? इसका उत्तर यह है कि सब पदार्थ ब्रह्मस्थ हैं; परन्तु जैसा साधर्म्य-युक्त निकटस्थ जीव है, वैसा अन्य नहीं और जीव को ब्रह्म का ज्ञान है और मुक्ति में वह ब्रह्म के साक्षात्सम्बन्ध में रहता है। इस-लिये जीव का ब्रह्म के साथ तात्स्थ्य सम्बन्ध वा तत्सहचरितोपाधि है अर्थात् ब्रह्म का सहचारी जीव है। इससे जीव और ब्रह्म एक नहीं।

जैसे कोई किसी से कहे कि मैं और यह एक हैं, अर्थात् अविरोधी हैं; वैसे जो जीव समाधिस्थ [हो] परमेश्वर में प्रेमबद्ध होकर निमग्न होता है, वह कह सकता है कि मैं और ब्रह्म एक अर्थात् अविरोधी, एक अवकाशस्थ हैं। जो जीव, परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव करता है, वही साधर्म्य से ब्रह्म के साथ एकता कह सकता है (स. प्र. ३०१)।

जैसे आकाश से घट भिन्न नहीं होता, तथा आकाश घट से भिन्न नहीं और आकाश तथा घट एकभी नहीं; किन्तु पृथक् पृथक् दोनों हैं, वैसे ही जीवात्मा और परमात्मा व्याप्य व्यापक सम्बन्ध से होने के कारण भिन्न नहीं होते और [गुणकर्म स्वभाव पृथक् होने से, एकस्थानी होने पर भी सर्वथा] अभिन्न नहीं हो सकते।[1]···इसलिये जो ऐसा कहता है कि '**मैं ही ब्रह्म हू**'' वह देवों=देहधारी विद्वानों में पशु है।···

इत्यादि प्रकरण विचार के विना, मध्य के चार अक्षर को पकड़ के कपोलकल्पित अर्थ का प्रमाण नहीं होता।[2]

प्रश्न—अच्छा तो इस सामवेद के वचन **तत्त्वमसि** का अर्थ कैसा करोगे—(तत्) ब्रह्म (त्वं) तू जीव (असि) है। हे जीव! (त्वम्) तू (तत्) वह ब्रह्म (असि) है। यहाँ '**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**' इस पूर्व वाक्य से ब्रह्म पद की अनुवृत्ति आती है।

उत्तर—प्रथम तो यह सामवेद का वचन नहीं है। सामवेदान्तर्गत छान्दो० उप० (६।८।७) का वचन है। दूसरे, तुमने इस छान्दोग्य उपनि-षद् का दर्शन भी नहीं किया। जो वह देखी होती, तो वहां 'ब्रह्म' शब्द

१. बृह० उप० के दो पाठ हैं—काण्व और माध्यन्दिन। यह पाठ माध्यन्दिन बृह० उ० का है। द्र० माध्यन्दिन शत० १४।६।७।३२॥ २. द्र० वे० ध्व० नि०॥

का पाठ ही नहीं है। किन्तु 'छान्दोग्य' में तो—**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेक-मेवाद्वितीयम्'** (६।२।१) ऐसा पाठ है। वहां 'ब्रह्म' शब्द है ही नहीं।

प्रश्न—तो आप तत् शब्द से क्या लेते हैं ?

उत्तर—**'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳसर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो इति'** छान्दो० उप० (६।८।७)।

इसका भी पूर्वापर प्रकरण छोड़ के नवीन वेदान्तियों ने अनर्थ कर रखा है। उसमें ऐसा प्रकरण है कि–उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु को उप-देश देते हैं कि पूर्वोक्त, वह परमात्मा जानने योग्य है, जो यह 'अणिमा' अत्यन्त सूक्ष्म है कि प्रकृति आकाश और जीवात्मा से अत्यन्त सूक्ष्म है और इस सब जगत् और जीव का आत्मा है। वही सत्यस्वरूप और अपना आत्मा आप ही है। हे श्वेतकेतो प्रियपुत्र! **'तदात्मकस्तदन्तर्यामी त्वमसि'** उस परमात्मा अन्तर्यामी से तू युक्त है। यही अर्थ उपनिषदों से अविरुद्ध है। क्योंकि—

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्।
आत्मनोऽन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥

(शतपथ १४।६।७।३२) यह माध्यन्दिन बृहदारण्यक का वचन है।

महर्षि याज्ञवल्क्य उद्दालक से कहते हैं कि—जो परमेश्वर आत्मा अर्थात् जीव में स्थित और जीवात्मा से भिन्न है। जिसको मूढ़ जीवात्मा नहीं जानता कि वह परमात्मा मेरे में व्यापक है। जिस परमेश्वर का जीवात्मा शरीर, अर्थात् जैसे शरीर में जीव रहता है, वैसे ही जीव में परमेश्वर व्यापक है। जीवात्मा से भिन्न रहकर, जीव के पाप-पुण्यों का साक्षी होकर, उनके फल जीवों को देकर नियम में रखता है। वही अवि-नाशीस्वरूप तेरा भी अन्तर्यामी आत्मा है अर्थात् तेरे भीतर व्यापक है, उसको तू जान। इत्यादि वचनों का क्या कोई अन्यथा अर्थ कर सकता है? (स. प्र. ३०२)

प्रश्न—जैसे ईश्वर सब जीवादि जगत् का आत्मा है, वैसे ईश्वर का भी कोई आत्मा है वा नहीं ?

उत्तर—परमेश्वर का आत्मान्तर कोई नहीं, किन्तु उसका आत्मा वही है।

इसलिये ऋषि उद्दालक कहते हैं कि "हे श्वेतकेतो! वह जो सब जगत् का अन्तर्यामी आधारभूत सर्वाधिष्ठान है, (त्वं) तू भी (तद् असि)

उसी के आधार वाला है अर्थात् तेरा भी अन्तर्यामी अधिष्ठान आत्मा वही है।" यहां, तत्सहचरण वा सत्सहचार उपाधि इस वाक्य में जानना चाहिये (व. ध्वा. निवा. ३७२)।

अब[1] चौथे वाक्य **"अयमात्मा ब्रह्म"** का विचार करते हैं। नवीन वेदान्ती इसको अथर्ववेद का वाक्य बतलाते हैं। यह अथर्ववेद का वाक्य तो नहीं है, किन्तु माण्डूक्योपनिषद् का है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि "समाधिदशा में जब विचारशील योगी पुरुष को अपने अन्तर्यामी परमेश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तब वह कहता है कि (अयं आत्मा) यह जो मेरे अन्दर व्यापक मेरा अन्तर्यामी है, (ब्रह्म) यही ब्रह्म है, यही सर्वत्र व्यापक है। अर्थात् मेरा भी यह आत्मा है।" अपने उपास्य के प्रत्यक्षानुभवविधायक भाव को जीव के समझने के लिये यह वाक्य है। इसलिये जो आज कल के वेदान्ती जीव-ब्रह्म की एकता करते हैं, वे वेदान्त शास्त्र को नहीं जानते। ब्रह्म जीव की एकता मानना केवल भ्रान्ति है।[1]

प्रश्न—अनेनात्मा जीवेनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि ॥१॥
छा० ६।३।२॥

तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ॥२॥ तैत्ति. उ. ब्रह्मा. ६॥

ये उपनिषद् के वचन हैं—परमेश्वर कहता है कि मैं जगत् और शरीर को रचकर जगत् में व्यापक और जीवरूप होके शरीर में प्रविष्ट होता हुआ नाम और रूप की व्याख्या करूं ॥१॥ परमेश्वर ने उस जगत् और शरीर को बनाया फिर उसमें वही प्रविष्ट हुआ ॥२॥ (स.प्र.३०३)॥ स्पष्ट है कि "वही ब्रह्म जगत् को उत्पन्न करके उसमें फिर प्रविष्ट हुआ। इसमें जीवात्म रूप अन्तःकरण में प्रविष्ट होके नामरूपका व्याकरण प्रगटन कर प्रसिद्ध हुआ।" इससे यह सिद्ध होता है कि वही ब्रह्म जीवरूप बना (तु. वे. ध्वा. नि. ३८०)।

इत्यादि उपनिषद् की श्रुतियों का अर्थ दूसरा कैसे कर सकोगे?

उत्तर—जो तुम पद पदार्थ और वाक्यार्थ जानते होते, तो ऐसा अनर्थ कभी न करते। क्योंकि यहां ऐसा समझो—एक प्रवेश और दूसरा अनुप्रवेश अर्थात् पश्चात् प्रवेश कहाता है। परमेश्वर शरीर में प्रविष्ट हुये जीवों के साथ अनुप्रविष्ट के समान होकर वेद द्वारा सब नाम-रूपादि की विद्या को

---

१. यह विषय, स. प्र. ७ समु. पृ. ३०२ तथा वेदान्तिध्वान्तितिवारणम् पृ. ३७३ दोनों स्थलों को मिलाकर लिखा है।

प्रकट करता है। और शरीर में जीव को प्रवेश करा आप जीव के भीतर अनुप्रविष्ट हो रहा है। (स. प्र. ३०३)।

यहां ऐसा समझना चाहिये। "क्योंकि परिपूर्ण एकरस सबमें जो भरा है, वह [वस्तु, किसी में] प्रवेश वा [किसी में से] निकलना नहीं कर सकता। किन्तु जीव बुद्धि से जब तक अज्ञानी रहता है, और उसी बुद्धि से जोव को ज्ञान होता है, तब उसी में परमात्मा प्राप्त [प्रविष्ट] होता है, अन्यत्र नहीं। इससे जीव को ऐसा मालूम पड़ता है कि ब्रह्म मेरे में प्रविष्ट हुआ था। वा जब जब जिस जिस जीव को ईश्वर का ज्ञान होता है, तब तब उस उस को [ऐसा ज्ञान] अपने आत्मा में ही होता है। इससे यह भी निश्चित होता है कि प्रवेश का करनेवाला तथा जिसमें प्रवेश करता है, उन दोनों का अलग=भिन्न होना निश्चित है।

तथा एक 'प्रवेश' करने वाला और दूसरा 'अनुप्रवेश' करने वाला होता है। क्योंकि—"**शरीरं प्रविष्टो जीवः जीवमनुप्रविष्ट ईश्वरो ऽस्तीति गम्यते।**" अर्थात् शरीर में जीव प्रविष्ट हुआ फिर उसे जीवपुरुष में ईश्वर अनुप्रविष्ट हुआ। इस प्रकार अर्थ करने से ही यथार्थ अभिप्राय इन वचनों का विदित होता है। किंवा, यहां 'सह-अर्थ' [=साथ साथ अर्थ] में तृतीया विभक्ति समझनी चाहिये। "**अनेन जीवात्मना शरीरं-प्रविष्टेन सह तं जीवमनुप्रविश्य, अहं ईश्वरः, नामरूपे व्याकरवाणि।**" अर्थात् शरीर में प्रविष्ट होने वाले इस जीवात्मा के साथ ही, मैं परमेश्वर उस जीव में अनुप्रविष्ट हो नामरूप को प्रगट करता हूं। इस प्रकार, जो तुम 'अनु' शब्द का सत्य अर्थ जानते, तो वैसा विपरीत अर्थ कभी न करते।

देखो ऋगवेद १।५२।१२ में लिखा है:—**एको अन्यच्चकृषे विश्व-मानुषक्।।** अर्थात् (अन्यत् विश्वं आनुषक्) परमात्मा ने इस सब जगत् को अपने स्वरूप से भिन्न वस्तु भूत रचा है, स्वयं जगत् रूप नहीं बना।

निम्न उपनिषद् प्रमाण से भी जीव ईश्वर का भेद निरूपित है—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना, मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं ये ऽनुपश्यन्ति धीरा स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।।
कठो. ३।१५।।

जो परमात्मा (नित्यानां) नित्य असंख्य परमाणु रूप प्रकृति और असंख्य जीवादि के बीच (नित्यः) सदा एकरस नित्य है तथा (चेतनानां) चेतन अल्पज्ञ जीवों के बीच जो एक शुद्ध चेतन स्वरूप है......उस पर-

मात्मा को जो जीव अपने आत्मा में ध्यान से देखते हैं, उन जीवोंको ही निरन्तर शान्ति=अक्षय सुख प्राप्त होता है, अन्य को नहीं।

इसमें भी **'आत्मस्थ'** शब्द होने से, ईश्वर और जीव का व्यापक-व्याप्य तथा अन्तर्यामी-अन्तर्याम्य [तथा प्रविष्ट-अनुप्रविष्ट या प्रवेश्य] सम्बन्ध होने से जीव और ब्रह्म एक कभी नहीं होते (तु. वे. ध्वा. नि. पृ. ३८०-३८२।) ॥

प्रश्न—[1]**तदैक्षत बहुः स्यां प्रजायेयेति ॥१॥ छा० उ० ६।२।२॥**

सोऽकामयत बहुः स्यां प्रजायेयेति ॥२॥ तै० उ० ब्रह्मा० ६॥

अर्थात् वही परमात्मा अपनी इच्छा से बहुरूप हो गया है ॥१-२॥

सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥

और यह भी उपनिषद् का वचन है।[2] जो यह जगत् है, वह सब निश्चय करके ब्रह्म है। उसमें दूसरे नाना प्रकार के पदार्थ कुछ भी नहीं, किन्तु सब ब्रह्मरूप हैं।

उत्तर—क्यों इन वचनों [का अनर्थ करते हो ? क्योंकि उन्ही उप-निषदों में—

एवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छ, अद्भिस्सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ, तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विछ, सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥ छा० उ० ६।८।४॥

हे श्वेतकेतो ! अन्नरूप पृथिवी कार्य से जलरूप मूलकारण को तू जान। कार्यरूप जल से तेजोरूप मूल, और तेजोरूप कार्य से सद्रूप कारण, जो नित्य प्रकृति है, उसको जान। यही सत्यस्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूल घर और स्थिति का स्थान है। यह सब जगत् सृष्टि के पूर्व असत् के सदृश, और जीवात्मा ब्रह्म और प्रकृति में लीन होकर वर्त्तमान था, अभाव न था (स० प्र० ३२७-३२८)।

---

१. यह प्रकरण अष्टम समु० में ऋषि दया० ने लिखा है। यहाँ वेदान्तियों द्वारा प्रस्तुत वचनों पर विचार होने से, एक प्रसंग देख, हमने 'सर्वं खल्विदं' वाला पाठ यहां उद्धृत कर दिया है।

२. यह किसी प्रामाणिक उपनिषद् का वचन नहीं है। इसलिए जैन आचार्यों ने भी लिखा है—**कृत्रिमेणाप्याग‍मेन तस्यैव प्रतिपादनात्। उक्तंच-सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।** स्याद्वादमञ्जरी टीका श्लोक १३, पृष्ठ १०३, पूना सं०। अर्थात् 'सर्वं वै०' यह बनावटी वचन है।

और जो 'सर्वं खलु०' यह वचन ऐसा है, जैसा कि **'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनवा जोड़ा'** ऐसी लीला का है। यह आर्ष सत्य ग्रन्थों में इस प्रकार से कहीं उपलब्ध नहीं होता। परन्तु ऐसा उपलब्ध होता है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। छान्दोग्य० (३।१४।१)। और—**नेह नानास्ति किंचन** (कठ० उ० २।४।११) दो स्थानों पर वचन हैं।

जैसे शरीर के अंग जब तक शरीर के साथ रहते हैं, तब तक काम के, और अलग होने से निकम्मे हो जाते हैं; वैसे ही प्रकरणस्थ वाक्य सार्थक, और प्रकरण से अलग करने वा किसी अन्य के साथ जोड़ने से अनर्थक हो जाते हैं। सुनो, इसका अर्थ यह है—

'हे जीव! तू ब्रह्म की उपासना कर। जिस ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होता है। जिसके बनाने और धारण से यह सब जगत् विद्यमान हुआ है, वा ब्रह्म से सहचरित है। उसको छोड़ दूसरे की उपासना न करनी। इस चेतनमात्र अखण्डैकरस ब्रह्म रूप में नाना वस्तुओं का मेल नहीं है। किन्तु ये सब पृथक्-पृथक् स्वरूप में परमेश्वर के आधार में स्थित है।'[1]

यहाँ इस 'सर्वं खल्विदं' का अर्थ 'तात्स्थ्योपाधि' से करना योग्य है। **"इदं सर्वं जगत् ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मस्थम्। यद्वा इदं यज्जगदधिष्ठानं तत्सर्वं ब्रह्मैव; नाऽत्र किञ्चिद् वस्त्वन्तरं मिलितमिति विज्ञेयम्। यथेदं सर्वं घृतमेव, नेदं तैलादिभिर्मिश्रितमिति।"** अर्थात् 'यह सब जगत् ब्रह्म है;' अर्थात् ब्रह्म में ही स्थित है। अथवा यह प्रत्यक्षान्तर्यामी जो सर्वाधिष्ठान चेतन है, सो केवल एकरस ब्रह्म वस्तु है; इसमें दूसरी कोई वस्तु मिली नहीं। [यह नाना वस्तुओं के संघात=मिश्रण से बनी वस्तु नहीं, शुद्धैकरस सत्ता है]। जैसे किसी ने कहा कि 'यह सब घृत है' अर्थात् यह घृत तैलादिक अन्य वस्तुओं से मिश्रित नहीं है, वैसे उस 'सनातन एक ब्रह्म' की उपासना, जीव शान्त होकर अवश्य किया करे, और किसी की नहीं (तु० वे० ध्वा० नि० ३७४)।

प्रश्न—'सोऽयं देवदत्तो य उष्णकाले काश्यां दृष्टः, स इदानीं प्रावृ-

---

१. द्र० टिप्पणी १, पृ० २३०।

ट्समये मथुरायां दृश्यते' अर्थात् जिस देवदत्त को मैंने उष्णकाल में काशी में देखा था, उसी को वर्षा-समय में मथुरा में देखता हूं। यहां काशीदेश का विचार, उष्णकाल को छोड़कर, शरीरमात्र में लक्ष्य करके देवदत्त लक्षित होता है। वैसे इस 'भागत्यागलक्षणा'[1] से ईश्वर का परोक्ष देश काल माया उपाधि और जीव का यह देश काल अविद्या और अल्पज्ञता उपाधि छोड़ चेतनमात्र में लक्ष्य देने से एक ही ब्रह्म वस्तु दोनों में लक्षित होता है। इस 'भागत्यागलक्षणा' अर्थात् कुछ ग्रहण करना और कुछ छोड़ देना, जैसा सर्वज्ञत्वादि वाच्यार्थ ईश्वर का और अल्पज्ञत्वादि वाच्यार्थ जीव को छोड़कर दोनों में स्थित चेतनमात्र लक्ष्यार्थ का ग्रहण करने से अद्वैत सिद्ध होता है। यहां क्या कह सकोगे ?

उत्तर—प्रथम तुम जीव और ईश्वर को नित्य मानते हो, वा अनित्य ?

प्रश्न[2]—हम इन दोनों को उपाधिजन्य कल्पित होने से अनित्य मानते हैं। स० प्र० ३०४॥

उत्तर—उस उपाधि[3] को नित्य मानते हो वा अनित्य ?

प्रश्न—हमारे मत में—

जीवेशौ च विशुद्धाचिद्विभेदस्तु तयोर्द्वयोः।
अविद्या तच्चितेर्योगः षडस्माकमनादयः ॥१॥
कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते ॥२॥

---

१. **भागत्यागलक्षण**—जिसमें मुख्यार्थ का कुछ त्याग हो और कुछ का त्याग न हो। देवदत्त को एक स्थान में न पाकर दूसरे स्थान में देखकर **'यह वही देवदत्त है'**, इसमें **'यह'** पद वर्त्तमान काल में समक्ष वस्तु का वाचक है और **'वही'** पद परोक्ष पदार्थ का वाचक है। वर्तमान और अतीत काल एक नहीं हो सकते। दूरस्थ और समीपस्थ भी अभिन्न नहीं हो सकते। इस दशा में 'यह वही देवदत्त है' वाक्य निरर्थक प्रतीत होता है। इस कारण 'यह' और 'वही' इन पदों के वाच्य अर्थों में से 'काल' और 'देश' भाग को त्यागकर वस्तु-सामान्य अर्थ को नहीं त्यागते। इससे अन्वय बन जाता है। इसको नवीन वेदान्ती 'भागत्यागलक्षणा' कहते हैं।

२. अर्थात् पूर्वपक्षी वेदान्ती का प्रश्न।

३. उपाधि का अर्थ यहाँ 'अन्यसंसर्ग' है।

ये **'संक्षेपशारीरक'**[1] और **'शारीरकभाष्य'**[1] में कारिका हैं। हम वेदान्ती छः पदार्थों को अनादि मानते हैं। अर्थात् एक जीव, दूसरा ईश्वर, तीसरा (विशुद्धाचित्) ब्रह्म, चौथा जीव और ईश्वर का विशेष भेद, पाँचवां अविद्या=अज्ञान, और छःठा (तत्=तस्या+चितेः) उस अविद्या और चेतन का योग, हम इनको अनादि मानते हैं।।१।।

२ यह जीव, कार्योपाधि है अर्थात् 'अविद्या' के ब्रह्म में संसर्ग होने से **'जीव'** नाम से प्रसिद्ध होता है। और यह ईश्वर, कारणोपाधि है, अर्थात् 'माया' के ब्रह्म में संसर्ग होने से **'ईश्वर'** नाम से प्रसिद्ध होता है। अविद्या और माया के संसर्ग से होने वाली कार्योपाधि=जीवभाव और कारणोपाधि=ईश्वरभाव को छोड़ने पर केवल 'मैं चिद्ब्रह्म' वा 'शुद्ध चैतन्य' हूं, ऐसा पूर्ण-बोध वच जाता है।[2]

परन्तु इनमें एक ब्रह्म तो अनादि-अनन्त है। और अन्य अर्थात् जीव, ईश्वर, जीवेश्वर का भेद, अविद्या और अविद्या तथा चेतन का भेद, ये पाँच अनादि-सान्त हैं, जबतक अज्ञान रहता है, तवतक ये पाँच रहते हैं। और इन पांच की आदि विदित नहीं होती, इसलिये अनादि। और ज्ञान के पश्चात् नष्ट हो जाते हैं, इसलिये सान्त अर्थात् नाशवाले कहाते हैं।।२।।

उत्तर—ये तुम्हारे दोनों श्लोक अशुद्ध हैं। क्योंकि ब्रह्म से अविद्या के योग के विना 'जीव' और ब्रह्म से माया के योग के विना 'ईश्वर' तुम्हारे मत में सिद्ध नहीं हो सकता। इससे **'तच्चितोर्योगः'** अर्थात् उस अविद्या का चित् ब्रह्म से योग नाम जो छःठा पदार्थ तुमने गिना है, वह नहीं रहा।

---

१. प्रथम श्लोक 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' (अच्युत ग्रन्थमाला काशी) के पृष्ठ ६३ पर टिप्पणी में दिया है (स्वामी वेदा०)। वेदान्त सिद्धान्तादर्श में पाठ इस प्रकार है—**'जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा। अविद्या तच्चितोर्योगो वेदान्ते षडनादयः।।** अद्वैतसिद्धि के दृष्टिसृष्ट्युपपत्ति प्रकरण में यही पाठ अभियुक्त वचन के नाम से उद्धृत है। यहां शब्दभेद मात्र है, अर्थ समान है। द्वितीय श्लोक 'अनुभूतिप्रकाश' अ० १ श्लोक ६१ में द्र०। सिद्धान्तलेशसंग्रह (परिच्छेद १, जीवेशस्वरूपविचार) में लिखा है—**संक्षेपशारीरके तु 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः'**।

२. मूल स. प्र. में 'कार्योपाधिरयं···' इस श्लोक का अर्थ नहीं। आगे संकेत है। हमने अल्पमति से अर्थ लिखा है; ताकि प्रकरण की संगति लगाने और विषय के बोध में सुगमता हो।

क्योंकि वह अविद्या माया जीव ईश्वर में चरितार्थ हो गया। और ब्रह्म, माया और अविद्या के योग के विना ईश्वर और जीव नहीं वनता। फिर ईश्वर को अविद्या और ब्रह्म से पृथक् गिनना व्यर्थ है। इसलिये दो ही पदार्थ अर्थात् ब्रह्म और अविद्या तुम्हारे मत में सिद्ध हो सकते हैं, छः नहीं।

तथा आपका प्रथम कार्योपाधि कारणोपाधि से जीव और ईश्वर का सिद्ध करना तव हो सकता [है] कि जब आप अनन्त, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, सर्वव्यापक ब्रह्म में अज्ञान सिद्ध करें। जो उसके एक देश में स्वाश्रय और स्वविषयक अज्ञान को अनादि सर्वत्र मानोगे, तो सव ब्रह्म शुद्ध नहीं हो सकता। और जव एक देश में अज्ञान मानोगे, तो वह परिच्छिन्न होने से इधर-उधर आता-जाता रहेगा। जहां-जहां जाएगा, वहाँ-वहाँ का ब्रह्म अज्ञानी, और जिस-जिस देश को छोड़ता जायगा, उस-उस देश का ब्रह्म ज्ञानी होता रहेगा। तो किसी देश के ब्रह्म को अनादि शुद्ध ज्ञानयुक्त न कह सकोगे। और जो अज्ञान की सीमा में ब्रह्म है, वह अज्ञान को जानेगा। वाहर और भीतर के ब्रह्म के टुकड़े हो जायेंगे। जो कहो कि टुकड़ा हो जाओ, ब्रह्म की क्या हानि? तो अखण्ड नहीं, और जो अखण्ड है, तो अज्ञानी नहीं। तथा ज्ञान के अभाव वा विपरीतज्ञान के भी गुण होने से किसी द्रव्य के साथ नित्य सम्वन्ध से रहेगा। यदि ऐसा है, तो [अज्ञान के ब्रह्म के साथ] समवाय-सम्वन्ध होने से अज्ञान अनित्य कभी नहीं हो सकता। (स० प्र० ३०५-३०६)।

और जैसे शरीर के एक देश में फोड़ा होने से सर्वत्र दुःख फैल जाता है, वैसे ही एक देश में अज्ञान-सुख-दुःख-क्लेशों की उपलब्धि होने से सब ब्रह्म दुःखादि के अनुभव से युक्त होगा, और सव ब्रह्म को शुद्ध न कह सकोगे। वैसे[1] ही कार्योपाधि अर्थात् अन्तःकरण की उपाधि के योग से ब्रह्म को जीव मानोगे, तो हम पूछते हैं कि ब्रह्म व्यापक है वा परिच्छिन्न? जो कहो व्यापक, और उपाधि परिच्छिन्न है, अर्थात् एकदेशी और पृथक्-पृथक् है, तो अन्तःकरण चलता-फिरता है वा नहीं?

उत्तर[1]—चलता-फ़िरता है।

प्रश्न[2]—अन्तःकरण के साथ ब्रह्म भी चलता-फिरता है वा स्थिर रहता है?

---

१. पूर्व सिद्धान्ती के उत्तर के अन्त में प्रश्न का निर्देश है। अतः यह उत्तर वेदान्ती का है। २. यह प्रश्न सिद्धान्ती का है।

उत्तर[1]—स्थिर रहता है।

प्रश्न[2]—जब अन्तःकरण जिस-जिस देश को छोड़ता है, उस-उस देश का ब्रह्म अज्ञानरहित, और जिस-जिस देश को प्राप्त होता है, उस-उस देश का शुद्ध ब्रह्म अज्ञानी होता होगा। वैसे क्षण-क्षण में ज्ञानी और अज्ञानी ब्रह्म होता रहेगा। इससे मोक्ष और बन्ध भी क्षणभङ्गुर होगें। और जैसे अन्य के देखे का अन्य स्मरण नहीं रह सकता, वैसे कल की देखी-सुनी हुई वस्तु वा बात का ज्ञान नहीं रह सकता। क्योंकि जिस समय देखा-सुना था, वह दूसरा देश और दूसरा काल था तथा जिस समय स्मरण करता है, वह दूसरा देश और काल है। स० प्र० ३०६।

जो कहो कि ब्रह्म एक है। तो सर्वज्ञ क्यों नहीं ? जो कहो कि अन्तः-करण भिन्न-भिन्न हैं, इससे वह भी भिन्न-भिन्न हो जाता होगा। तो वह अन्तःकरण तो जड़ है, उसमें ज्ञान नहीं हो सकता। जो कहो कि न केवल ब्रह्म और न केवल अन्तःकरण को ज्ञान होता है, किन्तु 'अन्तःकरणस्थ चिदाभास' को ज्ञान होता है। तो भी चेतन ही को अन्तःकरण द्वारा ज्ञान हुआ, तो वह नेत्र[3] द्वारा अल्प अल्पज्ञ क्यों हैं ? इसलिये कारणोपाधि और कार्योपाधि के योग से ब्रह्म को जीव और ईश्वर नहीं बना सकते।

किन्तु ईश्वर नाम भी ब्रह्म का है, और इस ब्रह्म से भिन्न अनादि अनुत्पन्न और अमृतस्वरूप जीव का नाम जीव है। जो तुम कहो कि जीव चिदाभास का नाम है। तो वह जीव क्षणभङ्ग होने से नष्ट हो जायगा; तो मोक्ष का सुख कौन भोगेगा ? इसलिये ब्रह्म जीव और जीव ब्रह्म कभी न हुआ, न है और न होगा।

प्रश्न[4]—यदि ऐसा है, तो **'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'** छान्दोग्य (६।२।१) में प्रतिपादित अद्वैतसिद्धि कैसी होगी ? क्योंकि यहां तो 'एक ही अद्वितीय सत् पदार्थ ब्रह्म' है ऐसा लिखा है। हमारे मत में तो ब्रह्म से पृथक् कोई सजातीय विजातीय और स्वगत अवयवों के भेद न होने से एक ब्रह्म ही सिद्ध होता है। जब ब्रह्म से भिन्न जीव दूसरा है, तो अद्वैत-सिद्धि कैसे हो सकती है ?

---

१. यह उत्तर वेदान्ती का है। २. यह प्रश्न सिद्धान्ती का है।

३. यह उपलक्षक इन्द्रियमात्र का जानना चाहिए।

४. यह प्रश्न वेदान्ती का है।

उत्तर—भ्रम में क्यों पड़ते हो ? 'विशेष्य-विशेषण' विद्या का ज्ञान करो—**'व्यावर्त्तकं विशेषणं भवतीति'** विशेषण भेदकारक होता है, तथा—**'प्रवर्त्तकं प्रकाशकमपि विशेषणं भवतीति'** अर्थात् विशेषण प्रवर्त्तक और प्रकाशक दोनों भी होता है। तो ऐसा समझो कि अद्वितीय अर्थात् अद्वैत विशेषण ब्रह्म का है। इसमें व्यावर्त्तक धर्म यह है कि यह अद्वैत पद, जगत् की अन्य वस्तु अर्थात् जो अनेक जीव और तत्व हैं, उनसे ब्रह्म को पृथक करता है। और विशेषण का प्रकाशक धर्म यह है कि—ब्रह्म के एक होने की प्रवृत्ति करता है। स० प्र० ३०७।

जैसे—**'अस्मिन्नगरेऽद्वितीयो धनाढ्यो देवदत्तः, अस्यां सेनायामद्वितीयः शूरवीरो विक्रमसिंहः'** किसी ने किसी से कहा कि इस नगर में अद्वितीय धनाढ्य देवदत्त, और इस सेनामें अद्वितीय शूरवीर विक्रमसिंह है। इससे सिद्ध हुआ कि देवदत्त के सदृश इस नगर में दूसरा धनाढ्य नहीं है, और इस सेना में विक्रमसिंह के समान दूसरा कोई शूरवीर नहीं है; परन्तु इनसे न्यून तो हैं। वैसे ही 'ब्रह्म अद्वितीय' है अर्थात् ब्रह्म के सदृश जीव वा प्रकृति नहीं हैं; किन्तु न्यून तो हैं। अर्थात् पृथ्वी आदि जड़पदार्थ पश्वादि प्राणी और वृक्षादि भी इस ब्रह्माण्ड में हैं; उनकी सत्ता का निषेध नहीं है। परन्तु ये ब्रह्म से शक्ति-सामर्थ्य में तथा सत्ता-स्थिति में न्यून हैं।

इससे यह सिद्ध होता है कि 'अद्वितीयं सत् ब्रह्म' ब्रह्म सदा एक है, और जीव तथा प्रकृतिस्थ तत्व अनेक हैं। उनसे भिन्न कर ब्रह्म के एकत्व को सिद्ध करनेहारा अद्वैत[1] वा अद्वितीय विशेषण है। इससे जीव वा प्रकृति

१. अद्वैत शब्द का अर्थ है—**'द्वयोर्भावो द्विता' द्वितैव द्वैतम्, न विद्यते द्वैतं यस्मिन्स्तद् अद्वैतम्'**। 'द्वि' शब्द की प्रवृत्ति का कारण भाव का नाम है 'द्विता'। अर्थात् द्वि शब्द की प्रवृत्ति का कारण है—भेद। क्योंकि विना भेद के 'द्वि' शब्द की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः द्विता का अर्थ हुआ—भेद। द्विता से स्वार्थमें 'अण्' प्रत्यय होकर 'द्वैत' बनता है। इसकारण इसका अर्थ भी भेद ही है। द्विता=द्वैत=भेद जिसमें नहीं हैं, वह अद्वैत, अर्थात् 'सजातीय विजातीय भेद-शून्य एक ब्रह्म। अब यहां विचारणीय है कि यदि नवीन वेदान्तियों के मत में ब्रह्म से अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं, तब द्विता या द्वैत की सिद्धि कैसे होगी ? और उसके अभाव में अद्वैत ब्रह्म का विशेषण कैसे बनेगा ? यदि कहो कि मिथ्या-प्रपञ्चरूप जगत् स्थित पदार्थों की दृष्टि से द्विता-द्वैत की सिद्धि हो जायगी, तो यह द्वैत भी मिथ्या है। फिर उसके अभाव को द्योतन करनेवाला अद्वैत भी मिथ्या ही होगा। तब वह मिथ्या विशेषण सद् ब्रह्म का कैसे हो सकता है ? अतः अद्वैत शब्द ही बता रहा है कि कहीं द्वैत=भेद सत्यरूप से विद्यमान है। और उस सत्य द्वैत=भेद के अभाव का निर्देश ही अद्वैत शब्द का वास्तविक अर्थ है (यु० मी०)।

का और कार्य्यरूप जगत् का सर्वथा अभाव, और पूर्णतः निषेध नहीं हो सकता। किन्तु ये सब हैं; परन्तु ब्रह्म के तुल्य नहीं। इस 'विशेषण-विशेष्य विद्या' के सम्यग्विचार कर लेने से न अद्वैतसिद्धि-की हानि होती है और न द्वैतसिद्धि से भय होता है। घबराहट में मत पड़ो, सोचो और समझो।

प्रश्न—ब्रह्म के 'सत् चित् आनन्द,' और जीव के 'अस्ति भाति प्रिय' रूप से दोनों की एकता होती है। फिर क्यों खण्डन करते हो? (स० प्र० ३०८)।

उत्तर—किञ्चित् साधर्म्य मिलने से किन्हीं दो पदार्थों की एकता नहीं हो सकती। जैसे पृथिवी जड़ व दृश्य है, वैसे जल और अग्नि आदि भी जड़ और दृश्य हैं। इतने से पृथिवी की जल और अग्नि से एकता नहीं होती। क्योंकि इनमें वैधर्म्य = भेदकारक अर्थात् विरुद्ध धर्म भी विद्यमान हैं। जैसे—गन्ध रूक्षता काठिन्य आदि गुण पृथिवी, और रस द्रवत्व कोमलत्वादि धर्म जल, और रूप दाहकत्वादि धर्म अग्नि में होते हैं। इस वैधर्म्य के होने से इन तीनों में एकता नहीं है।

जैसे मनुष्य और कीड़ी आंख से देखते, मुख से खाते और पग से चलते हैं, तथापि मनुष्य की आकृति दो पग और कीड़ी की आकृति अनेक पग आदि भिन्न होने से मनुष्य और कीड़ी में एकता नहीं होती। वैसे परमेश्वर के अनन्तज्ञान आनन्द बल क्रिया, निर्भ्रान्तित्व और व्यापकता जीव से, और जीव के अल्पज्ञान अल्पबल अल्पस्वरूप सब भ्रान्तित्व और परिच्छिन्नतादि गुण ब्रह्म से भिन्न होने से जीव और परमेश्वर कभी अर्थात् त्रिकाल में एक नहीं होते। क्योंकि इनका स्वरूप भी [परमेश्वर अतिसूक्ष्म और जीव सूक्ष्म होते हुए भी उससे कुछ स्थूल होने से] भिन्न है।

प्रश्न—अथोदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति। तै. उ, ब्रह्मा ७॥

द्वितीयाद् व भयं भवति। यह बृहदारण्यक (१।४।२) का वचन है।

अर्थात् जो ब्रह्म और जीव में थोड़ा भी भेद करता है, उसको भय प्राप्त होता है। क्योंकि सदा दूसरे ही से भय होता है।

उत्तर—इसका अर्थ यह नहीं है। किन्तु जो जीव परमेश्वर का निषेध, वा किसी एक देश काल में परिच्छिन्न परमात्मा को माने, वा उसकी आज्ञा और गुण-कर्म-स्वभाव से विरुद्ध होवे, अथवा किसी दूसरे मनुष्य से वैर करे, उसको भय प्राप्त होता है। क्योंकि द्वितीय बुद्धि, अर्थात्

ईश्वर से मुझसे कुछ सम्बन्ध नहीं, तथा किसी मनुष्य से कहे कि तुझको मैं कुछ नहीं समझता, तू मेरा कुछ भी नहीं कर सकता, वा किसी की हानि करता और दुःख देता जाय, तो उसको उनसे भय होता। और सब प्रकार का अविरोध अर्थात् एक विचार एक कर्म हो, तो वे एक कहाते हैं। जैसा संसार में कहते हैं कि देवदत्त यज्ञदत्त और विष्णुमित्र एक हैं, अर्थात् अविरुद्ध हैं। विरोध न रहने से सुख, और विरोध से दुःख प्राप्त होता है। स० प्र० ३०९-३१० ॥

प्रश्न—ब्रह्म और जीव की सदा एकता अनेकता रहती है, वा कभी दोनों मिलके एक भी होते हैं, वा नहीं ?

उत्तर—अभी इसके पूर्व कुछ उत्तर दे दिया है। परन्तु साधर्म्य अन्वयभाव से एकता होती है। जैसे जड़ आकाश से अन्य मूर्त्त द्रव्य, जड़त्व होने से और एक स्थान अवकाश में होने के कारण कभी पृथक् न रहने से एकता होती है। और आकाश के विभु सूक्ष्म अरूप अनन्त आदि गुण, और मूर्त्त वस्तु के परिच्छिन्न दृश्यत्व आदि वैधर्म्य होने से भिन्न कभी नहीं रहते। क्योंकि 'अन्वय' अर्थात् अवकाश के विना मूर्त्त द्रव्य कभी नहीं रह सकता; इसरीति से एकता है। और 'व्यतिरेक' अर्थात् स्वरूप से भिन्न होने से दोनों में पृथक्ता है। वैसे ब्रह्म के सर्व व्यापक होने से जीव और और पृथिवी आदि द्रव्य उससे अलग नहीं रहते, सदा साथ रहते हैं। और स्वरूप से एक भी नहीं होते ? क्योंकि दोनों के पृथक्-पृथक् गुण कर्म स्वभाव हैं।

जैसे घर के बनाने के पूर्व भिन्न-भिन्न देश में मट्टी लकड़ी और लोहा आदि पदार्थ आकाश ही में रहते हैं। जब घर बन गया, तब भी आकाश में हैं। और अब वह नष्ट हो गया, अर्थात् उस घर के सब अवयव भिन्न-भिन्न देश से प्राप्त हो गये, तब भी आकाश में हैं। अर्थात् तीन काल में आकाश से भिन्न नहीं हो सकते। और स्वरूप से भिन्न होने से न कभी एक थे, न हैं, और न कभी होंगे। इसी प्रकार जीव तथा सब संसार के पदार्थ परमेश्वर में व्याप्य होने से परमात्मा से तीनों कालों में अभिन्न और स्वरूप से भिन्न होने से एक कभी नहीं होते।

आजकल के वेदान्तियों की दृष्टि काणे पुरुष के समान अन्वय की ओर पड़के व्यतिरेक भाव से छूट, विरुद्ध हो गई है। कोई भी ऐसा द्रव्य नहीं है कि जिसमें सगुणता-निर्गुणता, अन्वय-व्यतिरेक, साधर्म्य-वैधर्म्य और विशेष्य-विशेषण भाव न हो। स. प्र. ३१०।

प्रश्न—परमेश्वर सगुण है, वा निर्गुण ?

उत्तर—दोनों प्रकार है।

प्रश्न—भला एक मियान में दो तलवार कभी रह सकती हैं ? एक पदार्थ में सगुणता और निर्गुणता दोनों कैसे रह सकती हैं ?

उत्तर—जैसे जड़ में रूपादि गुण हैं और चेतन के ज्ञानादि गुण जड़ में नहीं हैं; वैसे चेतन में इच्छादि गुण हैं. और जड़ के रूपादि गुण नहीं हैं। इसलिये **'यद् गुणैस्सह वर्त्तमानं तत् सगुणम्, गुणेभ्यो यन्निर्गतं पृथग्भूतं तन्निर्गुणम्'** जो गुणों से सहित, वह 'सगुण' और जो गुणों से रहित है वह 'निर्गुण' कहाता है। अपने-अपने स्वाभाविक गुणों से सहित, और दूसरे विरोधी के गुणों से रहित होने से सब पदार्थ सगुण और निर्गुण हैं। कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है कि जिसमें केवल निर्गुणता वा केवल सगुणता हो; किन्तु एक ही में सगुणता और निर्गुणता दोनों सदा रहती हैं। वैसे परमेश्वर अपने अनन्त ज्ञान बलादि गुणों से सहित होने से 'सगुण' और रूपादि जड़ के तथा द्वेषादि जीव के गुणों से पृथक् होने से 'निर्गुण' कहाता है।

प्रश्न—संसार में निराकार को निर्गुण, और साकार को सगुण कहते है। अर्थात् जब परमेश्वर जन्म नहीं लेता, तब वह 'निर्गुण' और जब अवतार लेता है, तब वह 'सगुण' कहाता है।

उत्तर—यह कल्पना केवल अज्ञानी और अविद्वानों की है। और अविद्वानों के कहे वा लेख को व्यर्थ समझना चाहिए। स. प्र. ३११।

प्रश्न—परमेश्वर रागी है, वा विरक्त ?

उत्तर—दोनों ही नहीं। क्योंकि 'राग' अपने से भिन्न उत्तम पदार्थों में होता है। सो परमेश्वर से को पदार्थ पृथक्[१] वा उत्तम नहीं है; इसलिए उसमें राग का सम्भव नहीं। और जो प्राप्त वस्तु को छोड़ देवे, उसको 'विरक्त' कहते हैं। ईश्वर व्यापक होने से किसीं पदार्थ को छोड़ ही नहीं सकता, इसलिए 'विरक्त' भी नहीं।

प्रश्न—ईश्वर में इच्छा है, या नहीं।

उत्तर—वैसी इच्छा नहीं, जैसे जीव-प्राणी को होती है। क्योंकि

१. एक अवकाश में रहने के कारण जीव व अन्य प्राकृत पदार्थ 'पृथक्' नहीं, पर स्वरूपतः 'भिन्न' हैं।

इच्छा भी किसी अप्राप्त उत्तम और जिसकी प्राप्ति से सुख-विशेष होवे, उसकी होती है, तो ईश्वर में इच्छा कैसे हो सके ? न उसे कोई पदार्थ अप्राप्त है और न कोई उससे उत्तम। और पूर्णसुखयुक्त होने से सुख की अभिलाषा भी नहीं है। इसलिए ईश्वर में इच्छा का तो सम्भव नहीं, किन्तु 'ईक्षण' है अर्थात् जो सब प्रकार की विद्या का दर्शन, और सब सृष्टि का करना कहाता है, वह 'ईक्षण' है। इत्यादि संक्षिप्त विषयों से ही सज्जन लोग विस्तरण कर लेंगे।

अब संक्षेप से ईश्वर का विषय लिखकर वेद का विषय लिखते हैं—

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥

अथर्व० कां० १० । सू० मं० २० ॥

जिस परमात्मा से (ऋचः) ऋग्वेद (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद और (अथर्वाङ्गिरसः) अथर्ववेद प्रकाशित हुए हैं, वह कौन-सा देव है ? इसका उत्तर—जो सबको उत्पन्न करके धारण कर रहा है, वह परमात्मा है। स. प्र. ३१२।

स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

यजु० अ० ४०। मं० ८॥

जो स्वयम्भू, सर्वव्यापक, शुद्ध सनातन, निराकार परमेश्वर है, वह (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) सनातन जीवरूप प्रजा के कल्याणार्थ (याथातथ्यतः) यथावत् रीतिपूर्वक (अर्थान् व्यदधात्) वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेश करता है।

प्रश्न—परमेश्वर को आप तो निराकार मानते हो ? जब वह निराकार है, तो वेद-विद्या का उपदेश विना मुख के वर्णोच्चारण कैसे हो सका होगा ? क्योंकि वर्णों के उच्चारण में ताल्वादिस्थान जिह्वा का प्रयत्न अवश्य होना चाहिये।

उत्तर—परमेश्वर के सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक होने से जीवों को अपनी व्याप्ति से वेद-विद्या के उपदेश करने में परमेश्वर को कुछ भी मुखादि की अपेक्षा नहीं है। क्योंकि मुख जिह्वा से वर्णोच्चारण अपने से भिन्न को बोध होने के लिये किया जाता है, कुछ अपने लिये नहीं। क्योंकि मुख-जिह्वा के व्यापार करे विना ही मन में अनेक व्यवहारों का विचार

और शब्दोच्चारण होता रहता है। कानों को अंगुलियों से मूंद के देखो सुनो, कि विना मुख-जिह्वा ताल्वादिस्थानों के कैसे-कैसे शब्द हो रहे हैं। वैसे ही परमेश्वर ने अन्तर्यामीरूप से उपदेश किया है। किन्तु केवल दूसरे को समझाने के लिए उच्चारण करने की आवश्यकता है। जब परमेश्वर निराकार सर्वव्यापक है, तो अपनी अखिल वेद-विद्या का उपदेश जीवस्थ स्वरूप से जीवात्मा में प्रकाशित कर देता है। फिर वह मनुष्य, अपने मुख से उच्चारण करके दूसरे मनुष्यों को सुनाता है। इसलिये ईश्वर में यह दोष नहीं आ सकता। स. प्र. ३१४।

प्रश्न—किनके आत्मा में कब वेदों का प्रकाश किया ?

उत्तर—अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः ।।शत०।।[1]

प्रथम सृष्टि की आदि में परमात्मा ने अग्नि वायु आदित्य तथा अङ्गिरा इन चार ऋषियों[2] के आत्मा में एक-एक वेद का प्रकाश किया।

प्रश्न—'यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।। यह श्वेता. उपनिषद् का (६।१८) वचन है।

इस वचन से सिद्ध है कि ब्रह्माजी के हृदय में वेदों का उपदेश किया है। फिर अग्न्यादि ऋषियों के आत्मा में एक-एक वेद का प्रकाश किया, आपने ऐसा क्यों कहा ?

उत्तर—ब्रह्मा के आत्मा में अग्नि आदि के द्वारा स्थापित कराया। देखो मनुस्मृति में लिखा है—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ।। मनु० १।२३।।

जिस परमात्मा ने आदि सृष्टि में मनुष्यों को उत्पन्न करके अग्नि आदि चारों महर्षियों के द्वारा चारों वेद ब्रह्मा को प्राप्त कराये और उस ब्रह्मा ने अग्नि वायु आदित्य और अङ्गिरा से ऋग् यजु साम और अथर्ववेद का ग्रहण किया। स. प्र. ३१४।

---

१. शत० ११।५।८।३। तुलना करो—गोपथ प्र० १।६।

२. श्री सायणाचार्य ने भी ऋग्भाष्योपक्रमणिका में उक्त वचन को उद्धृत करके अग्नि वायु सूर्य=आदित्य को जीवविशेष कहा है—**'जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात्'** ।

प्रश्न—उन चारों ही में वेदों का प्रकाश किया, अन्य में नहीं; इससे क्या ईश्वर पक्षपाती सिद्ध नहीं होता है ?

उत्तर—नहीं। क्योंकि, वे ही चार सब जीवों से अधिक पवित्रात्मा थे। अन्य उनके सदृश नहीं थे। इसलिये ऋगादि वेद की पवित्र विद्या का प्रकाश उन्हीं के हृदयों में किया।

प्रश्न—इसमें 'त्रयं ब्रह्म' है, 'चतुरः वेदान्' तो है नहीं। फिर 'चारों वेद' प्राप्त हुए, यह अर्थ कैसे आपने किया।

उत्तर—प्रथम, 'त्रयं ब्रह्म' का अर्थ **'त्रयी वै विद्या'** (शतपथ ब्रा०) अर्थात् श्वेता. उप. (१।९) में कथित 'ज्ञ'=ईश्वर, 'अज्ञ'=(अल्पज्ञ) जीव और 'भोग्या'=प्रकृति इन **'त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्'** ये जो तीन पदार्थ हैं, उनका ज्ञान है। यह ज्ञान 'चत्वारि वाक्'=वेदचतुष्टय में है। मनुः ३।२ में **'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम्'** में आये 'वेदान्' पद का अर्थ भी ऋषि दयानन्द ने 'चारों'तीन, वा दो अथवा एक वेद को' ऐसा किया है। इसका समर्थन कूर्म पुराण (उत्त.। अ. १५। श्लो० १) से होता है; वहाँ स्पष्ट ही **'वेदान्'** का अर्थ **'चतुरो वेदान्'** किया है। मनु और गरुड़ पुराण में प्रकरण भी गृहस्थ-धर्म का ही है।

वेदं वेदौ तथा वेदान् विन्द्याद्वा चतुरो द्विजः।
अधीत्य चाऽभिगम्यार्थं ततः स्नायात् द्विजोत्तमः॥

अभिगम्यार्थं=विवाह करने के निमित्त विद्याध्ययन के बाद 'स्नायात्'=समावर्त्तन संस्कार करे।

इसलिये, 'त्रयं ब्रह्म' का अर्थ [ईश्वर जीव प्रकृति की प्रतिपादक] त्रयीविद्या के बोधक 'चारों वेद' युक्ति-युक्त शास्त्रानुकूल है।

प्रश्न—किसी देशभाषा में वेदों का प्रकाश न करके संस्कृत भाषा में क्यों किया ?

उत्तर—जो किसी देश-भाषा में प्रकाश करता, तो ईश्वर पक्षपाती हो जाता। क्योंकि जिस देश की भाषा में प्रकाश करता, उनको सुगमता, और विदेशियों को कठिनता वेदों के पढ़ने-पढ़ाने की होती। **इसलिए संस्कृत ही में प्रकाश किया, जो किसी देश की भाषा नहीं। और वेदभाषा अन्य सब भाषाओं का कारण है,[1] उसी में वेदों का प्रकाश किया।** जैसे

१. इस विषय का विस्तार से प्रतिपादन ऋषि दयानन्द ने स० प्र० प्रथम संस्करण के सप्तम समुल्लास में, तथा पूना के पांचवें व्याख्यान (पूना-प्रवचन पृ० ३९ रालाकट्र० सं०) में किया है। इस विषय में वेदवाणी 'वेदाङ्क' सं० २०१७ में श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक का 'भाषा विज्ञान और स्वामी दयानन्द' लेख भी देखें।

ईश्वर की पृथिवी आदि सृष्टि, सब देश और देशवालों के लिये एक-सी, और सब शिल्प विद्या का कारण है; वैसे ही परमेश्वर की विद्या की भाषा भी एक-सी होनी चाहिए। सब देश वालों को पढ़ने-पढ़ाने में तुल्य परिश्रम होने से ईश्वर पक्षपाती नहीं होता, और यह संस्कृत सब भाषाओं का कारण भी है।

प्रश्न—वेद ईश्वरकृत हैं, अन्य किसी आप्त विद्वान् ऋषि मुनि कृत नहीं हैं, इसमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर—जैसा ईश्वर पवित्र, सर्व विद्यावित्, शुद्ध गुण कर्म स्वभाव, न्यायकारी, दयालु आदि गुण वाला है, वैसे जिस पुस्तक में ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल कथन हो, वह ही ईश्वरकृत होगा; कोई अन्य नहीं। और जिसमें सृष्टिक्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाण, आप्तों के और पवित्रात्मा के व्यवहार से विरुद्ध कथन न हो, वह ईश्वरोक्त। जैसा ईश्वर का निर्भ्रम ज्ञान, वैसा जिस पुस्तक में भ्रान्तिरहित ज्ञान का प्रतिपादन हो, वह ईश्वरोक्त। जैसा परमेश्वर है और जैसा सृष्टि क्रम रखा है; वैसा ही ईश्वर, सृष्टि कार्य-कारण और जीव का प्रतिपादन जिसमें होवे, वह परमेश्वरोक्त पुस्तक होती है और जो प्रत्यक्षादि प्रमाण विषयों से अविरुद्ध, शुद्धात्मा के स्वभाव से विरुद्ध न हो। इस प्रकार के वेद हैं; अन्य बाइबल कुरान आदि पुस्तकें नहीं। इसकी स्पष्ट व्याख्या बाइबल और कुरान के प्रकरण में तेरहवें और चौदहवें प्रवाह में की जायेगी वहां देख लें।

प्रश्न—वेद की ईश्वर से 'दिये गये होने' की आवश्यकता कुछ भी नहीं। क्योंकि मनुष्य लोग क्रमशः ज्ञान बढ़ाते जाकर पश्चात् पुस्तक भी अपनी आवश्यकतानुसार बना लेंगे।

उत्तर—कभी नहीं बना सकते। क्योंकि बिना कारण के कार्योत्पत्ति का होना असम्भव है। जैसे जङ्गली मनुष्य सृष्टि को देख कर भी विद्वान् नहीं होते, और जब उनको कोई शिक्षक मिल जाय, तो विद्वान् हो जाते हैं। और अब भी किसी से पढ़े बिना कोई भी विद्वान् नहीं होता। इस प्रकार जो परमात्मा उन आदि सृष्टि के ऋषियों को वेद विद्या न पढ़ाता, और फिर वे अन्य को न पढ़ाते, तो सब लोग अविद्वान् ही रह जाते। जैसे किसी के बालक को जन्म से एकान्त देश, अविद्वानों वा पशुओं के संग में रख देवें, तो वह जैसा संग है, वैसा ही हो जायेगा। इसका दृष्टान्त जङ्गली भील आदि मनुष्य हैं। स. प्र. ३१५-३१६।

'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'[१] वेदसंज्ञाप्रकरण में देख लीजिए । वहां अनेकशः प्रमाणों से विरुद्ध होने से यह 'कात्यायन' का वचन नहीं हो सकता, ऐसा सिद्ध किया गया है । क्योंकि जो माने, तो वेद सनातन कभी नहीं हो सकें, क्योंकि ब्राह्मण पुस्तकों में वहुत से ऋषि-महर्षि और राजादि के इतिहास लिखे हैं । और इतिहास जिसका हो, उसके जन्म के पश्चात् लिखा जाता है । वह ग्रन्थ भी उसके जन्मे पश्चात् होता है । वेदों में किसी मनुष्य वा जाति अथवा दल विशेष का इतिहास नहीं, किन्तु जिस-जिस शब्द से विद्या का वोध होवे, उस-उस शब्द का प्रयोग किया है । किसी विशेष मनुष्य की संज्ञा वा विशेष कथा का प्रसंग वेदों में नहीं ।

प्रश्न—वेदों की कितनी शाखा हैं ?

उत्तर—एक सहस्र एक सौ सत्ताईस ।

प्रश्न—शाखा का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—व्याख्यान को शाखा कहते हैं ।

प्रश्न—संसार में विद्वान् वेद के अवयवभूत विभागों को शाखा मानते हैं ।

उत्तर—तनिक सा विचार करो, तो ठीक होगा । क्योंकि जितनी वेद की शाखा होती हैं, वे **आश्वलायन** आदि ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध हैं । जैसे चारों वेदों को परमेश्वरकृत मानते हैं, वैसे 'आश्वलायनी' आदि शाखाओं को उस-उस ऋषिकृत मानते हैं । और सव शाखाओं में मन्त्रों की प्रतीक धरके व्याख्या करते हैं । जैसे **तैत्तिरीय शाखा** में **'इषे त्वोर्जे त्वेति'**[२] इत्यादि प्रतीकें धरके व्याख्यान किया है । और वेदसंहिताओं में किसी की प्रतीक नहीं धरी । इसलिए परमेश्वरकृत चारों वेद मूल वृक्ष और आश्वलायनादि सव शाखा ऋषि-मुनिकृत हैं, परमेश्वरकृत नहीं

स० प्र० ३१६।३२०।

१. द्र०—रामलाल क० ट्र० संस्क० पृष्ठ ६१-१०१ ।

२. I. उपलब्ध तै० शाखा में यह उपलब्ध नहीं है । यद्यपि ऋषि दयानन्द ने ऐसा लिखा है ।

II. यजुर्वेद के कुछ प्रकरणों में 'इति' से निर्देश करके—'हिरण्यगर्भ इत्येषः' (२३।३) और विना 'इति' निर्देश के प्रतीकें पठित हैं । ग्रन्थकार ने इन्हें मूलवेद का भाग नहीं माना है (द्र०-तत्तत्प्रकरणों का भाष्य) । इन्हें कर्मकाण्ड की सुविधा के लिए तत्तत्स्थानों में जोड़ा गया है ।

जो इस विषय की विशेष व्याख्या देखना चाहें, वे ऋषि दयानन्द रचित **'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका'** में विस्तार से देख लेवें। जैसे माता-पिता अपने सन्तानों पर कृपादृष्टि कर उन्नति चाहते हैं, वैसे ही परमात्मा ने सब मनुष्यों पर कृपा करके वेदों को प्रकाशित किया है; जिससे मनुष्य अविद्यान्धकार भ्रमजाल से छूटकर, विद्याविज्ञान रूप सूर्य को प्राप्त होकर अत्यानन्द में रहें, और विद्या तथा सुखों की वृद्धि करते जायें।

प्रश्न—वेद नित्य हैं वा अनित्य ?

उत्तर—नित्य हैं; क्योंकि परमेश्वर के नित्य होने से उसके ज्ञानादि गुण भी नित्य हैं। जो नित्य पदार्थ हैं, उनके गुण, कर्म, स्वभाव नित्य और अनित्य द्रव्य के नित्य होते हैं।

प्रश्न—क्या यह पुस्तक भी नित्य है ?

उत्तर—नहीं। क्योंकि पुस्तक तो पत्रे और स्याही का बना है। वह नित्य कैसे हो सकता है ? किन्तु जो शब्द अर्थ और सम्बन्ध हैं वे नित्य हैं।

प्रश्न—ईश्वर ने उन ऋषियों को ज्ञान दिया होगा, और उस ज्ञान से उन लोगों ने वेद बना लिए होंगे ?

उत्तर—ज्ञान ज्ञेय के बिना नहीं होता। गायत्र्यादि छन्द, षड्जादि और उदात्ताऽनुदात्तादि स्वर के ज्ञानपूर्वक गायत्र्यादि छन्दों के निर्माण करने में सर्वज्ञ के बिना किसी का सामर्थ्य नहीं है कि इस प्रकार का सर्व ज्ञानयुक्त शास्त्र बना सकें। हाँ; वेद को पढ़ने के पश्चात् व्याकरण निरुक्त और छन्द आदि अनेक ग्रन्थ ऋषि-मुनियों ने विद्याओं के प्रकाश के लिए निर्मित किये हैं। जो परमात्मा वेदों का प्रकाश न करे, तो कोई कुछ भी न बना सके। इसलिए वेद परमेश्वरोक्त हैं। इन्हीं के अनुसार सब लोगों को चलना चाहिए।

और जो कोई किसी से पूछे कि तुम्हारा क्या मत है ? तो यही उत्तर देना है कि हमारा मत वेद है अर्थात् जो कुछ वेदों में कहा है, हम उसको मानते हैं' (स० प्र० ३२२)।

---

१. ऋषि दयानन्द ने वेद और शाखा का सत्यार्थ प्रकाश प्रथम सं० (सन् १८५७) पृष्ठ ३३२ पर इस प्रकार लिखा है—"इससे जो वेद पुस्तक हैं, वे सब शाखाओं के मूल हैं और शाखा व्याख्यानों की नांई ब्रह्मादिक ऋषि मुनि के किये हैं।

यह संक्षेप से ईश्वर और वेद विषय में व्याख्यान किया है। अब इसके आगे सृष्टि के विषय में लिखेंगे।

इति सप्तमः प्रवाहः

जैसे—**मनो जूतिर्जुषतामाज्यम्** ऐसा पाठ है। जूति जो मन का विशेषण था, सो ज्योति शब्द से स्पष्टार्थ हो गया।"

इसी प्रकार **'आज्यस्य'** में कर्म में षष्ठी है, यह **'आज्यम'** पाठ से स्पष्ट हो गया। जिस प्रकार शाखाकारी ने मन्त्रगत पाठ में परिवर्तन करके मन्त्रपद का व्याख्यान किया है, उसके अन्य कुछ उदाहरण पं० भगवद्दत्त जी ने **'वैदिक वाङ्मय का इतिहास ग्रन्थ'** भाग १, द्वि० सं०, पृ० १७८-१७९ पर दिये हैं। उन्हें भी देखना चाहिए।

शाखाओं के सम्बन्ध में यह भी जानना चाहिए कि शाखाएं दो प्रकार की हैं एक मन्त्रात्मक, दूसरी मन्त्रब्राह्मण-संमिश्रित। दोनों प्रकार की शाखाओं के मन्त्रों में शब्दभेद से प्रवचन द्वारा व्याख्यान किया है; परन्तु दूसरे प्रकार की शाखाओं में ब्राह्मणपाठ भी सम्मिलित है। यथा कृष्णयजुर्वेद की शाखाएं।

अष्टमः प्रवाहः

अथ सृष्ट्युत्पत्ति-स्थिति-प्रलयविषयान् व्याख्यास्यामः

आगे सृष्टि अर्थात् जगदुत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करते हैं कि 'जगत् कैसे और किससे उत्पन्न हुआ और किसने उत्पन्न किया ?' अर्थात् सृष्टि होने की प्रक्रिया क्या है, उसका उपादान=साधन सामग्री क्या है और सृष्टि का कर्त्ता कौन है ?

प्रश्न—क्या ईश्वर ने अपनी इच्छा से सृष्टि उत्पन्न नहीं की ?

उत्तर— नहीं। क्योंकि ईश्वर में इच्छा का होना सम्भव ही नहीं है। प्रथम तो यह कि इच्छा होने के लिये किसी 'वार्त्ता' पदार्थ या विषय की अप्राप्ति होनी चाहिये। ईश्वर को कोई वस्तु अप्राप्त नहीं है। दूसरे इच्छा करने वाले को देश, काल और वस्तु का परिच्छेद होना चाहिये। नित्य सर्वव्यापक ईश्वर में यह भी सम्भव नहीं। इसलिये ईश्वर की इच्छामात्र से सृष्टि उत्पन्न हुई, ऐसा कहना अयोग्य है। (तु० उप० मं० व्या० ७)।

प्रश्न—तो फिर ईश्वर का जगत् उत्पन्न करने का क्या प्रयोजन है।

उत्तर—अपने लिये कोई प्रयोजन नहीं। सृष्टि बनाने में परमेश्वर का अपना कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वह 'भोग' नहीं करता। इसलिये किसी स्वप्रयोजन के सम्पन्न करने के निमित्त स्वयं ईश्वर सृष्टि रचने में प्रवृत्त नहीं होता। और ईश्वर से कोई भी पदार्थ ज्येष्ठ या श्रेष्ठ नहीं कि जो ईश्वर किसी प्रयोजन में प्रवृत्त कर सके। तो परमेश्वर का सृष्टि वनाने का क्या कारण है ?

सृष्टि उत्पन्न करने का कारण ऐसा है कि ईश्वर की सामर्थ्य निष्फल न जावे। यदि वह सृष्टि न वनावे; तो फिर उसमें 'सृष्टि कर्त्तृत्व' शक्ति होने का उपयोग वा लाभ क्या होगा ? ईश्वर का सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्त्व निष्फल हो जावेगा। 'सर्व शक्तिमान्' इस शब्द में 'रचना, धारण और विनाश' तथा दया न्याय आदि गुणों का समावेश होता है। इसलिये 'सृष्टि की उत्पत्ति करने के विषय में' उस परमेश्वर का 'शक्ति-

साफल्य' अर्थात् उसकी स्वाभाविक ज्ञान बल और क्रिया की सफलता होना ही प्रयोजन है।

प्रश्न—परमेश्वर ने यह जगत् तो अपनी लीला से उत्पन्न किया है ?

उत्तर—यह कहना सयुक्तिक नहीं है; क्योंकि यदि ईश्वर कभी प्रसन्न अर्थात् सुखानुभव लेने वाला होता, तो उसमें अप्रसन्नता अर्थात् दुःख की सम्भावना भी होती। इसलिये सृष्टि उत्पत्ति का कारण, ईश्वर की लीला मानना भी युक्ति-प्रमाण शून्य होने से त्याज्य है।

जब यह कार्य सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी, तब सर्व शक्तिमान् परमेश्वर, जीवात्मा तथा जगत् का कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री विराजमान थी (ऋ. वे. भा. भू.)। मूल में प्रकृति भी नहीं थी (उप. मं. व्य० ८)।

उस समय (**असत्**) शून्य अर्थात् नेत्रों से देखने में न आने वाला आकाश भी नहीं था। क्योंकि उस समय उसका व्यवहार ही नहीं था। उस काल में (**सत्**) अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणात्मक प्रकृति[1] का भी व्यवहार नहीं था। उस समय (**रजः**) गतिशील परमाणुओं का व्यवहार भी नहीं था। (**व्योमन्**) विराट्[2] अर्थात् जो स्थूल जगत् के निवास का स्थान या आधार है, वह भी नहीं था।

उस समय इस स्थूल जगत् का सूक्ष्म उपादान कारण, जिसे 'परमेश्वर का सामर्थ्य' या 'ऐश्वरी सम्पत्ति'[3] हम ऐसा नाम दे सकते हैं, जोकि

---

१. (क) जगत् के उपादानकारण का नाम **'प्रकृति'** तभी व्यवहृत होता है, जब यह 'कार्य-सृष्टि' उत्पन्न हो जाती है। प्रकृति का अर्थ है—"जिससे किसी अन्य तत्त्व की उत्पत्ति हो"। किसी पुरुष में, पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् पिता बनने की तरह, सृष्टि के मूल कारण में, कार्योत्पत्ति के पश्चात् ही प्रकृति शब्द का व्यवहार होता है। अर्थात् 'सृष्टि का मूल उपादान कारण' सृष्टि रचना के बाद 'प्रकृति' नाम वाला हो जाता है।

(ख) यह [प्रकृतिः स्वसामर्थ्यात्=] प्रकृति अपने कार्यरूप में परिणत होने की क्षमता से नाम रूपात्मक स्थूल जगत् रूप में परमेश्वर द्वारा परिणत की जाती है। इस प्रकार 'मूल कारण' में 'प्रकृति' शब्द का व्यवहार भी परमात्मा के सामर्थ्य से होता है, स्वतः नहीं।

२. अर्थात् सब शरीरों का 'समष्टि देह'। यही सम्पूर्ण सृष्टि का आधार है।

३. अर्थात् ब्रह्म का वह 'सामर्थ्य'=उपादान सामग्री जो जगत् रूप में परिणत होती है।

परमात्मा से भिन्न है,[1] विद्यमान था।......(ऋ. वे. भा. भू.)।

जब यह जगत् नहीं था; उस समय 'मृत्यु' भी नहीं था।[2] (रात्रि) और दिन के विभाग का सङ्केत भी नहीं था। (ऋ. वे. भा. भू.)।

उस समय वह एक 'आत्म तत्त्व' (स्वधया) अपनी शक्ति से ही अथवा 'स्वधा'=मूल कारण के साथ, 'प्राणवायु के बिना' चेतन था।[1]... उस समय यह सब जगत् सृष्टि के पहिले, अन्धकार से आवृत सा था। परमेश्वर ने अपने सामर्थ्य अर्थात् स्वाभाविक ज्ञान बल क्रिया से, मूल कारण रूप से कार्य-रूप कर दिया (ऋ. वे. भा. भू.)।

प्रारम्भ में परमात्मा, जीवात्मा और संसार का मूल कारण [प्रकृति] इन तीनों के तेज से मिल कर बना एक किरण ऊपर नीचे चारों ओर फैल गया। बल का धारण और पोषण करने वाले जीवात्मा अनेक थे। इस 'जीव-आत्मा' में प्रथम से अपनी निज धारण शक्ति है और अन्त तक चलने वाला प्रयत्न है।

मनुष्यों को जगत् बनाने की वास्तविक प्रक्रिया साक्षात् ज्ञात नहीं हो सकती; क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में प्रत्यक्ष ज्ञान होना सर्वथा असम्भव है। सूर्य चन्द्रादि तेजस्वी दिव्य पदार्थ बनने से पूर्व ही सृष्टि रचना का प्रारम्भ हो जाता है। जहां से और जब से सृष्टि का प्रारम्भ हुआ, उसे कौन मनुष्य भला पूर्णता से जान सकता है? (ऋ. वे. भा. भू.)।

जिस परमेश्वर के रचने से जो यह नाना प्रकार का जगत् उत्पन्न हुआ है, वह ही इस जगत् को धारण करता, नाश करता और इसका स्वामी है। उसी ईश्वर में सब जगत् निवास करता है और जब प्रलय होता है, तब भी यह कारणरूप हो के ईश्वर के सामर्थ्य में रहता है और फिर भी उसी [में स्थित कारण द्रव्य] से पुनः उत्पन्न होता है (ऋ. वे. भा. भू.)।...वही अपने आदि निमित्त भूत सामर्थ्य से इस जगत् को जो

---

१. यह परमात्मा की सम्पत्ति, जिसे उसने स्थूल जगत् की उत्पत्ति में लगाया, वह परमात्मा से भिन्न है।

२. जब स्थूल जगत्, परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न होके वर्त्तमान ही था, तो वियोग होके विनाश किसका होता? शरीर आदि पदार्थ तो उत्पन्न ही नहीं हुए थे।

कि 'उत्पन्न हुआ था', 'उत्पन्न होगा' और 'इस समय है', रचता है। आप कभी जन्म नहीं लेता और इसका कोई आदि कारण नहीं।—इस स्थूल जगत् का जन्म=उत्पत्ति और विनाश=प्रलय सदा होता रहता है; और पुरुष तो जन्म विनाश आदि धर्म से अलग और सदा प्रकाशमान् है।

उस पुरुष के 'मनन' अर्थात् ज्ञान-स्वरूप सामर्थ्य से **चन्द्रमा**, 'चक्षु' अर्थात् तेजस्वरूप से **सूर्य**, 'श्रोत्र' अर्थात् अवकाशरूप सामर्थ्य से **आकाश** और 'वायु' अर्थात् क्रिया सामर्थ्य से **वायु** उत्पन्न हुआ।—उस परमेश्वर पुरुष ने पृथिवी की उत्पत्ति के लिये जल से सारांश रस को ग्रहण करके तथा पृथिवी और जल के परमाणुओं को मिलाके **पृथिवी** रची है; इसी प्रकार अग्नि के सारांश को इकट्ठा करके तथा अग्नि के परमाणुओं के साथ ज़ल के परमाणुओं को मिला के **जल** को; वायु के सारांश को एकत्रित करके तथा वायु के परमाणुओं के साथ अग्नि के परमाणुओं को मिलाके **अग्नि** को, आकाश के पश्चात् वायु के परमाणुओं से वायु को और [कार्य] जगत् के आदि कारण प्रकृति से **आकाश** को, जो कि सब तत्त्वों के ठहरने का स्थान है, रचा है। [इस दृश्यादृश्य] संसार के मूल कारण प्रकृति में 'प्रकृति' शब्द का व्यवहार भी परमात्मा के सामर्थ्य से हुआ (ऋ. वे. भा. भू.)।

ये सब पदार्थ ईश्वर ने रचे हैं, अतः उसका नाम **'विश्वकर्मा'** है। जब यह दृश्य जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था, तब वह ईश्वर के सामर्थ्य [वश, आधीनता] में सूक्ष्मता से कारणरूप से वर्त्तमान था। जब जब ईश्वर अपने सामर्थ्य से इस कार्यरूप जगत् को रचता है, तब तब यह कार्य जगत् रूप गुणवाला होके स्थूल बन, देखने में आता है (ऋ. वे. भा. भू.)।

सारांश—[प्रथम ईश्वर ने 'ईक्षण' किया अर्थात् फिर मूल परमाणुपुञ्ज में क्रिया उत्पन्न की और 'अव्यक्त प्रकृति' व्यक्त होने की स्थिति में आ गई और उससे **आकाश** अर्थात् अवकाश सब के धारण का आधार हुआ, जो कि शून्यावस्था में था] इस शून्य से **वायु**, वायु से **अग्नि**, अग्नि से **जल** और जल से **पृथिवी** उत्पन्न हुई। यह सब व्यवस्था परमाणुओं में हुई (उप. म. ८ व्या.)।—साठ परमाणु मिल कर एक अणु बनता है (सं. क.)। दो परमाणु का एक द्व्यणुक होता है; ऐसे तीन द्व्यणुक का एक त्रसरेणु होता है (द्र. मनु. ८।१३२)।' सूक्ष्मता से कुछ-कुछ स्थूलता की ओर सृष्टि आने लगती है (सं. क.)। यह उत्पत्ति काल की व्यवस्था

है। प्रलय काल में त्रसरेणु का द्वयणुक और फिर द्वयणुक के अणु हो जाते हैं और अणुओं के परमाणु। यह प्रलय व्यवस्था है (उप. म. ८ व्या.)।

जब सृष्टि का समय आता है, तब परमात्मा उन परम सूक्ष्म पदार्थों को इकट्ठा करता है। उसकी प्रथम अवस्था में जो परम सूक्ष्म प्रकृतिरूप कारण से कुछ स्थूल होता है, उसका नाम **महत्तत्त्व**, और जो उससे कुछ स्थूल होता है, उसका नाम **अहङ्कार**, और अहङ्कार से भिन्न-भिन्न **पांच सूक्ष्म भूत**, श्रोत्र त्वचा नेत्र जिह्वा घ्राण **पांच ज्ञान इन्द्रियां**, वाक् हस्त पाद उपस्थ और गुदा ये **पांच कर्म इन्द्रियां** हैं, और **ग्यारहवां मन** कुछ स्थूल उत्पन्न होता है। और उन पञ्चतन्मात्राओं से अनेक स्थूलावस्थाओं को प्राप्त होते हुए क्रम से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ये **पांच स्थूल भूत**—जिनको हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं—उत्पन्न होते हैं।

उन पञ्चभूतों से नाना प्रकार की औषधियां वृक्ष आदि, उन औषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीर होता है। परन्तु आदि सृष्टि मैथुनी नहीं होती। क्योंकि जब स्त्री-पुरुषों के शरीर परमात्मा बना कर उनमें जीवों का संयोग कर देता है, तदन्तर ही मैथुनी सृष्टि चलती है।

देखो शरीर में किस प्रकार की ज्ञानपूर्वक सृष्टि रची है कि जिसको विद्वान् लोग देखकर आश्चर्य मानते हैं। भीतर हाड़ों का जोड़, नाड़ियों का बन्धन, मांस का लेपन चमड़ी का ढक्कन, प्लीहा यकृत् फेफड़ा पंखा का स्थापन, जीव का संयोजन, शिरोरूप मूलरचन, लोम-नखादि का स्थापन, आँख की अतीव सूक्ष्म शिरा का तारवत् ग्रन्थन, इन्द्रियों के मार्गों का प्रकाशन, जीव के जागृत-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्था के भोगने के लिए स्थान विशेषों का निर्माण, रस से वीर्य पर्यन्त सब सप्त धातु का विभागकरण, कला-कौशल-स्थापनादि अद्भुत सृष्टि को विना परमेश्वर के कौन कर सकता है?

इसके विना नाना प्रकार के रत्न व सुवर्णादि धातु से जड़ित भूमि, विविध प्रकार के वट वृक्ष आदि के बीजों में अति सूक्ष्म रचना, असंख्य हरित श्वेत पीत कृष्ण चित्र मध्यरूपों से युक्त पत्र पुष्प फ़ल मूल रचन, मिष्ट क्षार कटुक कषाय तिक्त अम्लादि विविध रस, सुगन्धादि युक्त पत्र पुष्प फल अन्न कन्द-मूलादि की रचना, अनेकानेक क्रोड़ों भूगोल सूर्यचन्द्रादि लोक निर्माण, धारण भ्रामण नियमों में व्यवस्थित में रखना आदि सर्वज्ञ

सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक सर्वाधिष्ठाता महान् शक्ति परमेश्वर के बिना कोई भी नहीं कर सकता।

जब कोई किसी पदार्थ को देखता है, तो दो प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है—एक जैसा वह पदार्थ है, और दूसरा उसमें रचना देखकर बनवाने वाले का ज्ञान होता है। जैसा किसी पुरुष ने सुन्दर आभूषण जङ्गल में पाया। देखा तो विदित हुआ कि यह सुवर्ण का है, और किसी बुद्धिमान् कारीगर ने बनाया है। इसी प्रकार यह नाना प्रकार की सृष्टि में विविध रचना, बनाने वाले परमेश्वर को सिद्ध करती है।

प्रश्न—यह जगत् कितने प्रकार का है ?

उत्तर—यह जगत् दो प्रकार का है। एक 'साशन' अर्थात् चेतन जोकि भोजनादि के लिए चेष्टा करता तथा जीव संयुक्त है और दूसरा 'अनशन' अर्थात् जो जड़ है तथा भोजन के लिए चेष्टा नहीं करता; अपितु स्वयं भोजन के लिए बना है। क्योंकि उसमें ज्ञान ही नहीं है और अपने आप चेष्टा भी नहीं कर सकता। यह दोनों प्रकार का जगत् उस पुरुष के सामर्थ्य से पैदा होता है (ऋ. वे. भा. भू.)।

उस पुरुष से 'विराट्' अर्थात् सब शरीरों का 'समष्टि देह' [=ब्रह्माण्डरूप]' विविध पदार्थों से प्रकाशित होने के कारण जिसका नाम 'विराट्'–उत्पन्न हुआ। उस विराट् अर्थात् 'समष्टिदेह' के पीछे पृथिव्यादि रूप ब्रह्माण्ड के अवयवी से सब प्राणियों का पृथक्-पृथक् देह उत्पन्न हुआ। यह 'प्राणियों का पृथक्-पृथक् शरीर', पृथिव्यादि के अवयव भूत अन्न आदि औषधियों से वृद्धि को प्राप्त होता है और नष्ट होकर फिर उसी 'पृथिव्यादि समष्टि देह' में ही लीन हो जाता है। परन्तु परमेश्वर इस 'संसाररूप देह' से अलग रहता है और जीवात्मा ने जिस परमात्मा के सामर्थ्य से देह को धारण किया है, वह परमात्मा उस जीव से भी पृथक् है (ऋ.वे.भा.भू.)।

मनुष्य सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई इस पर विचार करते हैं। जिस स्थिति में आजकल मानव सृष्टि है, उसी स्थिति में प्रारम्भ में नहीं होती। सृष्टि के आदि में ईश्वर ने बहुत से मनुष्य, पशु और पक्षी उत्पन्न किये। उन सबों को केवल आहार-विहार, निद्रा, भय, और मैथुन इतना ही विदित था। और इन विषयों में भी, सब प्राणी एक ही से और एक रस थे। उस आदि सृष्टि में सब बाल्यावस्था में थे। उनके लिए विधि अर्थात् शासन या निषेध नहीं थे। नेत्रों से अपना काम अर्थात् रूप देखते थे; श्रोत्रों से

अपना काम अर्थात् शब्द सुनते थे; पांव से अपना काम अर्थात् इधर-उधर फिरते थे। इससे भिन्न 'शिष्ट या अशिष्ट' रूप विशेष व्यापार आदि सृष्टि में नहीं था। ऐसी व्यवस्था आदि सृष्टिमें पांचवर्ष तक चलती रही। फिर जब मनुष्यों की बुद्धि कुछ-कुछ समझने योग्य हो गई, तो परमात्मा ने मनुष्यों को वेद ज्ञान दिया।...उस वेद ज्ञान से पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित का बोध हुआ और फिर आगे संसार के सब व्यवहार तद-नुसार चलने लगे।

पाप-पुण्य मनुष्य जन्म में ही केवल होते हैं; अन्य पशु आदि प्राणियों के जन्म में भोग मात्र होते हैं, नये कर्म नहीं होते।...जिनके पाप-पुण्य सम होते हैं, वे जीव मनुष्य जन्म पाते हैं; जिनके पुण्य अधिक या जिनकी मानसिक स्थिति सात्विक रहती है, वे 'देवयोनि' अर्थात् मनुष्यों में श्रीमानो की उच्च स्थिति को प्राप्त करते हैं और जिनके पाप अधिक होते हैं, वे तिर्यङ् योनि अर्थात् निम्न कोटि की योनियों में जन्म पाते हैं। परन्तु पाप-पुण्य सम हों अथवा पाप की अपेक्षा पुण्य अधिक हों अथवा पुण्य की अपेक्षा पाप अधिक हों, तीनों दशाओं में पुनः जन्म प्राप्त होता ही है। पाप-पुण्य भोगने के लिए देश काल और वस्तु ये साधन भी अवश्य चाहिए; क्योंकि इन निमित्तों के विना भोग कैसे होगा? इसको ही इस जगत् में जीवों का प्राण धारण करना कहते हैं और यही व्यवस्था यथार्थ है।

प्रश्न—जन्म किसको कहते हैं?

उत्तर—शरीर के व्यापार और क्रिया=चेष्टा करने योग्य परमाणुओं का जब संघात होता है, तब जन्म होता अर्थात् सब साधनों से युक्त होकर, क्रिया योग्य जब शरीर होता है, तब जन्म होता है। इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण ये शरीर के मध्य जब उपयुक्त होते हैं, तब जन्म होते हैं, जन्म अर्थात् इन सब साधनों से युक्त शरीर और जीवात्मा का संयोग।
(उप. मं. ६ व्या०)...

जिसमें किसी शरीर के साथ संयुक्त होके जीव कर्म करने में समर्थ [अर्थात् प्रगट] होता है, उसको जन्म कहते हैं (आ. उ. र. १२)। यह पूर्व पर और मध्य [=वर्तमान] भेद से तीन प्रकार का होता है (स्व. म. प्र० ४४)।

जिस शरीर को प्राप्त होकर जीव क्रिया करता है, उस शरीर और

जीव का किसी काल में जो वियोग हो जाता है, उसे मरण कहते हैं (आ. उ० र० १४; स्व० म० प्र० ४५)।

अब आगे सृष्टि के विषय में वेदादि शास्त्रों से लिखते हैं।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म ॥४॥

तैतिरीयोप० भृगु०।

हे (अङ्ग) मनुष्य ! जिससे यह विविध सृष्टि प्रकाशित हुई है, जो इसका धारण और प्रलयकर्त्ता है, जो इस जगत् का स्वामी है, और जो आकाश के समान व्यापक है, जिसमें यह सब जगत् उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय को प्राप्त होता है, वही परमात्मा है। उसको तू जान, और दूसरे को सृष्टि कर्त्ता मत मान (ऋग् १०।१२९।७)॥

यह सब जगत् सृष्टि के पहिले अन्धकार से आवृत, रात्रिरूप में जानने के अयोग्य, आकाशरूप (आकाश के समान) सब जगत् तथा तुच्छ अर्थात् अनन्त परमेश्वर के सन्मुख एकदेशी आच्छादित था। पश्चात् परमेश्वर ने अपने सामर्थ्य से कारणरूप से कार्यरूप कर दिया।

(ऋग् १०।१२९।३)

हे मनुष्यो ! जो सबमें पूर्ण पुरुष, और जो (अमृतत्वस्य) नाशरहित कारण और जीव का स्वामी, तथा (यत्) जो (अन्तेन अतिरोहित) पृथिव्यादि जड़ और जीव से अतिरिक्त है, वही पुरुष इस भूत अर्थात् जो कि उत्पन्न हुआ था, भविष्यत् अर्थात् आगे होगा और वर्तमानस्थ जो इस समय में है, उस जगत् को बनाने वाला है।यजु० ३१।२॥

जिस परमात्मा की रचना से सब पृथिव्यादि भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे जींव [ते,] और जिसमें प्रलय को प्राप्त होते हैं, वह ब्रह्म है। उसके जनने की इक्छा करो ॥४॥

जन्माद्यस्य यतः ॥ शारीरक सू० अ० १। पा० १। सू २॥

(यतः) जिससे (अस्य) इस जगत् का (जन्मादि) जन्म स्थिति और प्रलय होता है, वही ब्रह्म जानने योग्य है।

प्रश्न—यह जगत् परमेश्वर से उत्पन्न हुआ है, वा अन्य से ?

उत्तर—निमित्त कारण परमात्मा से उत्पन्न हुआ हैं। इसका उपादान कारण प्रकृति है।

प्रश्न—क्या प्रकृति परमेश्वर ने उत्पन्न नहीं की ?

उत्तर—नहीं। वह अनादि है।

प्रश्न—अनादि किसको कहते, और कितने पदार्थ अनादि हैं ?

उत्तर—ईश्वर जीव और जगत् का कारण, ये तीन अनादि हैं। इसमें निम्न प्रमाण है ?

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

ऋ० मं० १। सू० १६४। मं० २०॥

शाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ यजु० अ० ४० मं० २०॥

(द्वा) जो ब्रह्म और जीव दोनों (सुपर्णा) सुन्दर पङ्खों वाले अर्थात् चेतनता और पालनादि गुणों से सदृश, (सयुजा) व्याप्य-व्यापकभाव से संयुक्त (सखाया) परस्पर मित्रतायुक्त सनातन अनादि हैं। और (समानम्) वैसा ही (वृक्षम्) अनादि मूलरूप कारण, और शाखारूप कार्ययुक्त वृक्ष अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न-भिन्न हो जाता है, वह तीसरा अनादि पदार्थ है। इन तीनों के गुण-कर्म और स्वभाव भी अनादि हैं। (तयोरन्यः) इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है, वह (पिप्पलं) वृक्षरूप संसार में पापपुण्यरूप फलों को (स्वाद्वत्ति) अच्छे प्रकार स्वादुरूप से भोगता है। और (अन्यः) दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को (अनश्नन्) न भोगता हुआ (अभिचाकशीति) चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो, उस भोग करते जीव को सब ओर से देख रहा है। जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न-स्वरूप तीनों अनादि हैं।

(शाश्वती०) अर्थात् अनादि सनातन जीवरूप प्रजा के लिए वेद द्वारा परमात्मा ने सब विद्याओं का बोध किया है॥

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

श्वेत० उप० ४।५॥

प्रकृति जीव और परमात्मा तीनों अज, अर्थात् जिनका जन्म कभी नहीं होता, और न कभी ये जन्म लेते, अर्थात् ये तीन सब जगत् के कारण हैं, इनका कारण कोई नहीं। इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फंसता है। और उसमें परमात्मा न फंसता और न भोग करता है।

ईश्वर और जीव का लक्षण सप्तम प्रवाह के ईश्वर विषय में कह आए हैं। अब प्रकृति का लक्षण लिखते हैं—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारो-

ऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः । सांख्यसू० १।६१।।

सत्त्व=शुद्ध, रजः=मध्य, तमः=जाड्य अर्थात् जड़ता तीन वस्तु मिलकर जो एक संघात है, उसका नाम '**प्रकृति**' है। उससे महत्तत्त्व बुद्धि, उससे पांच तन्मात्रा सूक्ष्मभूत और दश इन्द्रियाँ तथा ग्यारहवां मन, पांच तन्मात्राओं से पृथिव्यदि पांच भूत, ये चौवीस और पच्चीसवां पुरुष अर्थात् जीव और परमेश्वर हैं। इनमें से प्रकृति अविकारिणी, और महत्तत्त्व अहंकार तथा पांच सूक्ष्म भूत प्रकृति का कार्य और इन्द्रियां मन तथा स्थूल भूतों का कारण हैं। पुरुष न किसी की प्रकृति उपादान कारण, और न किसी का कार्य है।

प्रश्न—जो यह जगत् है, वह सब निश्चय करके ब्रह्म है। उसमें दूसरे नाना प्रकार के पदार्थ कुछ भी नहीं, किन्तु सब ब्रह्मरूप हैं।[1] वही परमात्मा अपनी इच्छा से बहुरूप हो गया है।[2]

उत्तर—शास्त्रविरुद्ध होने से तुम्हारा कथन ठीक नहीं है : क्योंकि छः, उप. (६।८।४) में लिखा है कि—

एवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छ, अद्भिस्सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ, तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ, सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ।।

हे श्वेतकेतो ! अन्नरूप पृथिवी कार्य से जलरूप मूलकारण को तू जान। कार्यरूप जल से तेजोरूप मूल, और तेजोरूप कार्य से सद्रूप कारण जो नित्य प्रकृति है, उसको जान। यही सत्यस्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूल आश्रय और स्थिति का स्थान है। यह सब जगत् सृष्टि के पूर्व असत् के सदृश, और जीवात्मा, ब्रह्म और प्रकृतिमें लीन होकर वर्तमान था; अभाव न था।

प्रश्न—जगत् के कारण कितने होते हैं ?

उत्तर—तीन। एक निमित्त, दूसरा उपादान, तीसरा साधारण।

'**निमित्त कारण**' उसको कहते हैं कि—जिसके बनाने से कुछ बने, न बनाने से न बने। आप स्वयं बने नहीं, दूसरे को प्रकारान्तर बना देवे।

'**उपादान कारण**' उसको कहते हैं – जिसके विना कुछ न बने, वही अवस्थान्तररूप होके बने, और विगड़े भी।

---

१. सर्वं खल्विदं ब्रह्म। नेह नानास्ति किश्चन ।। २. तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेति (उप०) ।। सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेति (तै० उ०) ।।

'साधारण कारण' उसको कहते हैं कि जो वनाने में साधन और साधारण निमित्त हो।

निमित्त का.ण दो प्रकार के हैं। एक—सब सृष्टि को मूल उपादान कारण से वनाने धारने और प्रलय करने वाला तथा सबकी व्यवस्था रखने वाला मुख्य निमित्त कारण **परमात्मा**। दूसरा—परमेश्वर की रची सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेक विधि कार्यान्तर वनाने वाला साधारण निमित्त कारण **'जीव'**।

उपादान कारण—प्रकृति परमाणु, जिसको सब संसार वनाने की सामग्री कहते हैं; वह जड़ होने से आप से आप न वन सकती है और न विगड़ सकती है। किन्तु दूसरे के वनाने से वनती और बिगाड़ने से विगड़ती है। कहीं-कहीं जड़ के निमित्त से जड़ भी वन और विगड़ भी जाता है। जैसे परमेश्वर के रचित वीज पृथिवी में गिरने और जल पाने से वृक्षाकार हो जाते हैं, और अग्नि आदि जड़ के संयोग से विगड़ भी जाते हैं। परन्तु इनका नियमपूर्वक वनना वा विगड़ना परमेश्वर के अधीन है। [कभी भी कोई बीज स्वयं अपनी इच्छा से कहीं उगने के लिए नहीं जाता, किसी दूसरे चेतन से वह गिरता है या गिराया जाता है।]

जव कोई वस्तु वनाई जाती है, तब जिन-जिन साधनों से अर्थात् ज्ञान, दर्शन, वल, हाथ और नाना प्रकार के साधन, और दिशाकाल और आकाश ये सब **साधारण कारण** हैं। जैसे घड़े को वनाने वाला कुम्हार निमित्त, मट्टी उपादान और दण्ड-चक्र आदि सामान्य निमित्त और दिशा काल, आकाश, प्रकाश, आँख, हाथ, ज्ञान, क्रिया आदि साधन, साधारण और निमित्त कारण भी होते हैं। इन तीन कारणों के विना कोई भी वस्तु नहीं वन सकती, और न बिगड़ सकती है।

प्रश्न—नवीन वेदान्ती लोग केवल परमेश्वर ही को जगत् का 'अभिन्न-निमित्तोपादान कारण' मानते हैं। उनका प्रमाण है कि—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च॥ मुण्डकोप. १।१।७॥

जैसे मकरी वाहर से कोई पदार्थ नहीं लेती, अपने ही में से तन्तु निकाल, जाला वनाकर आप ही उसमें खेलती है; वैसे ब्रह्म अपने में से जगत् को बना, आप हो क्रीड़ा कर रहा है। सो यह ब्रह्म, इच्छा और कामना करता हुआ कि **'मैं बहुरूप** अर्थात् जगदाकार हो जाऊं, संकल्पमात्र से सब जगद्रूप बन गया। क्योंकि—

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।।

माण्डूक्योपनिषद् गौड़पाद कारिका ३१

जो प्रथम न हो, अन्त में न रहे; वह वर्तमान में भी नहीं है। किन्तु सृष्टि की आदि में जगत् न था, प्रलय के अन्त में संसार न रहेगा। [इसलिए वर्तमान में वह नहीं है, मिथ्यावत् ही है।] और ब्रह्म सृष्टि बनने से पूर्व विद्यमान था; प्रलय के अन्त में भी केवल ब्रह्म ही रहेगा। ऐसी दशा में ब्रह्म ही 'सत्' है। इसलिए, वर्तमान में जो सब जगत् दृश्यमान है, वह ब्रह्म ही क्यों नहीं ?

उत्तर—प्रथम तो जो तुम्हारे कहने के अनुसार जगत् का उपादान कारण नित्य एकरस अपरिवर्तनशील ब्रह्म होवे, तो वह परिणामी, अवस्थान्तरयुक्त विकारी हो जावे। और दूसरे, उपादानकारण के गुण-कर्म-स्वभाव कार्य में भी आते हैं—

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः ।। वैशेषिक सू० २।१।२४।।

कणाद मुनि लिखते हैं—उपादान कारण के सदृश गुण ही कार्य में होते हैं। ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप और जगत् कार्यरूप से असत् जड़ और आनन्दरहित है, ब्रह्म अज और जगत् उत्पन्न हुआ है; ब्रह्म अदृश्य और जगत् दृश्य है; ब्रह्म अखण्ड और जगत् खण्डरूप है। जो ब्रह्म से ही पृथिव्यादि कार्य उत्पन्न होवे, तो पृथिव्यादि कार्य के जड़ादि गुण ब्रह्म में भी होवें। अर्थात् जैसे पृथिव्यादि जड़ हैं, वैसा ब्रह्म भी जड़ हो जाय। और जैसा परमेश्वर चेतन है, वैसा पृथिव्यादि कार्य भी चेतन होना चाहिए। क्योंकि कारण के सदृश गुण ही कार्य में आते हैं।

और जो तुमने मकरी का दृष्टान्त दिया है, वह तुम्हारे मत का साधक नहीं; किन्तु बाधक है। क्योंकि वह मकड़ी का जड़रूप शरीर, तन्तु का उत्पादन और उसमें स्थित जीवात्मा निमित्त कारण है। और यह भी परमात्मा की अद्भुत रचना का प्रभाव है। क्योंकि अन्य जन्तु के शरीर से जीव, तन्तु नहीं निकाल सकता। वैसे ही व्यापक ब्रह्म ने अपने भीतर व्याप्य प्रकृति और परमाणु कारण से स्थूल जगत् को बनाकर, बाहर स्थूल रूप कर आप उसी में व्यापक होके साक्षीभूत आनन्दमय हो रहा है।

और जो परमात्मा ने ईक्षण अर्थात् दर्शन विचार और कामना की कि मैं सब जगत् को बनाकर प्रसिद्ध होऊं, अर्थात् जब जगत् उत्पन्न होता है, तभी जीवों के विचार, ज्ञान, ध्यान, उपदेश, श्रवण में परमेश्वर प्रसिद्ध

और बहुत स्थूल पदार्थों से वह वर्त्तमान होता है। जब प्रलय होता है, तब परमेश्वर और मुक्त जीवों को छोड़के उसको कोई नहीं जानता।

और जो वह कारिका है, वह भ्रममूलक है। क्योंकि सृष्टि के आदि अर्थात् प्रलय में जगत् प्रसिद्ध अर्थात् व्यक्त नहीं था। और सृष्टि के अन्त अर्थात् प्रलय के आरम्भ से जब तक दूसरी बार सृष्टि न होगी, तब तक भी जगत् का कारण सूक्ष्म होकर अप्रसिद्ध अर्थात् अव्यक्त रहता है। क्योंकि—

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे ॥१॥ ऋग्वेद १०।१२९।३०॥[1]
आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।

अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥२॥ मनु. १।५॥

यह सब जगत् सृष्टि के पहिले प्रलय में 'अन्धकार से आवृत्त आच्छादित' था। और सृष्टि नष्ट होने के बाद प्रलयारम्भ के पश्चात् भी वैसा ही 'अन्धकार से आवृत्त' होता है। उस समय यह न किसा के जानने, न तर्क में लाने और न प्रसिद्ध चिन्हों से युक्त इन्द्रियों से जानने के योग्य था और न होगा। किन्तु वर्तमानमें जाना जाता है, और प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त जानने के योग्य होता है, और यथावत् उपलब्ध है। पुनः उस कारिकाकार ने वर्तमान में भी जगत् का अभाव लिखा, सो सर्वथा अप्रमाण है। क्योंकि जिसको प्रमाता अर्थात् ज्ञाता जानने ग्रहण करने वाला प्रमाणों अर्थात् ज्ञान साधनों से जानता और प्राप्त होता है, वह पदार्थ अन्यथा कभी नहीं हो सकता।

प्रश्न—जगत् के बनाने में परमेश्वर का क्या प्रयोजन है?

उत्तर—नहीं बनाने में क्या प्रयोजन है?

प्रश्न—जो न बनाता, तो आनन्द में बना रहता। और जीवों को भी सुख-दुःख प्राप्त न होता।

उत्तर—यह आलसी और दरिद्र मूर्ख लोगों की बातें हैं; पुरुषार्थी ज्ञानीजनों की नहीं। और जीवों को प्रलय में क्या सुख वा दुःख है? देखो जो सृष्टि के सुख-दुःख की तुलना की जाय, तो दुःख से सुख कई गुना अधिक प्राप्त होता है। और बहुत से पवित्रात्मा जीव मुक्ति के साधन कर मोक्ष के आनन्द को भी प्राप्त होते हैं। प्रलय में निकम्मे जैसे सुषुप्ति में पड़े

---

१. इस मन्त्र का व्याख्यान पूर्व भी आया है।

रहते हैं, वैसे रहते हैं। और प्रलय के पूर्व सृष्टि में जीवों के किये पाप-पुण्य कर्मों का दुःख-सुख रूप फल ईश्वर कैसे दे सकता ? और जीव क्योंकर उन्हें भोग सकते ? यदि वह सृष्टि न बनाता।

जो तुमसे कोई पूछे कि आंख के होने में क्या प्रयोजन है ? तुम यही कहोगे कि देखना। तो जो ईश्वर में जगत् की रचना करने का स्वाभाविक विज्ञान, बल और क्रिया है, उसका क्या प्रयोजन ? जगत् की उत्पत्ति करने के सिवा दूसरा कुछ भी प्रयोजन न कह सकोगे। और परमात्मा के न्याय, धारण, दया आदि गुण भी तभी सार्थक हो सकते हैं, जब वह जगत् को बनावे। उसका अनन्त सामर्थ्य, जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय और व्यवस्था करने ही से सफल है। जैसे नेत्र का स्वाभाविक गुण देखना है, वैसे परमेश्वर का स्वाभाविक गुण जगत् की उत्पत्ति करके सब जीवों को असंख्य पदार्थ देकर परोपकार करना है।

प्रश्न—बीज पहले है, वा वृक्ष ?

उत्तर—यदि प्रथम बीज है कहें, तो वृक्ष के बिना बीज कहां से आया और यदि प्रथम वृक्ष ही को कहें, तो बीज के बिना वृक्ष कैसे हुआ—ऐसा तुम पूछोगे। वस्तुतः प्रथम बीज ही आया। क्योंकि बीज हेतु निदान निमित्त और कारण इत्यादि शब्द एकार्थवाचक हैं। इसलिए, कारण का नाम बीज होने से बीज रूप कारण, कार्य रूप वृक्ष के प्रथम ही होता है (तु० उप० म० ८ व्या०)।

प्रश्न—जब परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है, तो वह सृष्टि के उपादान कारण और जीव को भी उत्पन्न कर सकता है। जो नहीं कर सकता, तो सर्वशक्तिमान् भी नहीं रह सकता।

उत्तर—सर्वशक्तिमान् शब्द का अर्थ पूर्व पृष्ठ...पर लिख आये हैं। परन्तु क्या सर्वशक्तिमान् वह कहाता है कि जो असम्भव बात को भी कर सके ? जो कोई असम्भव बात अर्थात् जैसा कारण के बिना कार्य को कर सकता है, तो बताओ कि परमेश्वर बिना कारण, दूसरे ईश्वर की उत्पत्ति कर सकता है वा नहीं ? और स्वयं मृत्यु को प्राप्त कर सकता है वा नहीं? जड़ दुःखी अन्यायकारी अपवित्र और कुकर्मी आदि हो सकता है वा नहीं ?

जो स्वाभाविक नियम अर्थात् जैसा अग्नि उष्ण, जल शीतल और पृथिव्यादि जड़ गुण वाले हैं, इनको विपरीत गुण वाले कि अग्नि को शीतल, जल को उष्ण और पृथिवी को चेतन आदि ईश्वर भी नहीं कर

सकता। क्योंकि ईश्वर के सब नियम सत्य और पूरे हैं; इसलिए वह उनमें परिवर्तन नहीं कर सकता। इसलिए **'सर्वशक्तिमान्'** का अर्थ इतना ही है कि परमात्मा बिना किसी के सहाय के अपने सब कार्य स्वयमेव पूर्ण कर सकता है।

प्रश्न – ईश्वर साकार है, वा निराकार? जो निराकार है, तो बिना हाथ आदि साधनों के जगत् को न बना सकेगा। और साकार है, तो कोई दोष नहीं आता।

उत्तर—ईश्वर निराकार है। जो साकार अर्थात् शरीरयुक्त है; वह ईश्वर नहीं हो सकता। क्योंकि वह परिमित-शक्तियुक्त, देश काल वस्तुओं में परिच्छिन्न, क्षुधा-तृषा, छेदन-भेदन, शीतोष्ण ज्वर-पीड़ादि सहित हो जावेगा। उस 'साकार शरीरयुक्त' में जीव के गुण तो घट सकते हैं, पर ईश्वर के गुण कभी नहीं घट सकते। जैसे तुम और हम साकार अर्थात् शरीरधारी हैं, इस कारण से सूक्ष्म त्रसरेणु अणु-परमाणु और प्रकृति को अपने वश में नहीं ला सकते हैं, वैसे ही स्थूल देहधारी परमेश्वर भी उन सूक्ष्म परमाणु पदार्थों से स्थूल जगत् नहीं बना सकता।

जो परमेश्वर भौतिक इन्द्रिय गोलक हस्तपादादि अवयवों से रहित है; परन्तु उसकी अनन्त शक्ति. बल पराक्रम है। उनसे सब काम करता है; जो जीव और प्रकृति से कभी न हो सकते। जब वह प्रकृति से भी सूक्ष्म और उन परमाणुओं में व्यापक है, तभी उनको पकड़ कर जगदाकार कर देता है।

प्रश्न—जैसे मनुष्यादि के माता-पिता साकार है, उनका सन्तान भी साकार होता है। जो ये निराकार होते, तो इनके लड़के भी निराकार होते। वैसे परमेश्वर निराकार हो, तो उसका बनाया जगत् भी निराकार होना चाहिये?

उत्तर—यह तुम्हारा प्रश्न बाल बुद्धियों के समान हैं, क्योंकि हम अभी कह चुके हैं कि परमेश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं; किन्तु निमित्तकारण है। और जो पदार्थ सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्मा की अपेक्षा से स्थूल हैं. वह प्रकृति और परमाणु नामक तत्त्व, जगत् का उपादान कारण है। और वे परमाणु भी सर्वथा निराकार नहीं; किन्तु परमेश्वर की अपेक्षा से स्थूल और अपने अन्य पंचभूतात्मक कार्य से सूक्ष्म आकार रखते हैं।

प्रश्न—क्या कारण के विना, परमेश्वर कार्य को नहीं कर सकता?

अर्थात् अभाव से भाव नहीं कर सकता ?

उत्तर—नहीं। क्योंकि जिसका अभाव अर्थात् जो वर्त्तमान=विद्यमान नहीं है, उसका भाव=वर्त्तमान होना सर्वथा असम्भव है। जैसे कोई गपोड़ा हांक दे कि मैंने वन्ध्या के पुत्र और पुत्री का विवाह देखा। वह वन्ध्यापुत्र नरश्रृंग का धनुष धारण किये और दोनों खपुष्प की माला पहिरे हुए थे। मृगतृष्णिका के जल में स्नान करते, और गन्धर्वनगर में रहते थे। वहाँ बद्दल के विना वर्षा, पृथिवी के विना सब अन्नों की उत्पत्ति आदि होती थी। वैसे ही कारण के विना कार्य का होना असम्भव है। जैसे कोई कहे कि **'मम मातापितरौ न स्तोऽहमेवमेव जातः। मम मुखे जिह्वा नास्ति, वदामि च'** अर्थात् मेरे माता पिता न थे, ऐसे ही मैं उत्पन्न हुआ हूं। मेरे मुख में जीभ नहीं है, परन्तु बोलता हूं। बिल में सर्प न था, निकल आया। मैं कहीं नहीं था, ये भी कहीं न थे, हम सब जने हैं। ऐसी असंभव बात प्रमत्तगीत अर्थात् पागल लोगों की है।

प्रश्न—जो कारण विना कार्य नहीं होता, तो कारण का कारण कौन है ?

उत्तर—जो केवल कारण रूप ही है, वे किसी के कार्य नहीं होते और जो किसी कार्य का कारण और किसी कारण का कार्य होता है, वह प्रकृति-विकृति कहाता है। जैसे पृथिवी, घर आदि का कारण होता है और स्वयं जल आदि का कार्य होता है। परन्तु जो इन वायु-अग्नि-जल-पृथिवी का आदि कारण प्रकृति है, वह अनादि है।

मूले मूलाभावादमूलं मूलम्। सांख्यसू० १।६७॥

मूल का मूल अर्थात् कारण का कारण नहीं होता। इससे 'अकारण-तत्त्व' सब कार्योंका कारण होता है। क्योंकि किसी कार्यके आरम्भसमय के के पूर्व तीनों निमित्त, उपादान और साधारण कारण अवश्य होते हैं। जैसे कपड़े बनाने के पूर्व तन्तुवाय, रुई का सूत और नालिका आदि पूर्व वर्त्तमान होने से वस्त्र बनता है; वैसे जगत् की उत्पत्ति के पूर्व जगत्कर्त्ता परमेश्वर. उपादान प्रकृति, काल और आकाश तथा जीवों के अनादि होने से अर्थात् पूर्व विद्यमान होने से, इस जगत् की उत्पत्ति होती है। यदि इनमें से एक भी न हो, तो जगत् भी उत्पन्न न हो सके।

यहाँ नास्तिक लोग जो कहते हैं, उसको विवेचना करते हैं—

पहिला नास्तिक—शून्य ही एक पदार्थ है। सृष्टि के पूर्व शून्य था,

अन्त में शून्य होगा। क्योंकि जो भाव है अर्थात् वर्त्तमान पदार्थ है, उसका अभाव होकर शून्य हो जायेगा। (तु० सांख्य १।४४)।

उत्तर—शून्य आकाश अदृश्य अवकाश और विन्दु को भी कहते हैं। शून्य जड़ पदार्थ है, इस शून्य में सब पदार्थ अदृश्य रहते हैं। जैसे एक विन्दु से रेखा, रेखाओं से वर्तुलाकार निर्माण होने से भूमि पर्वतादि स्थूल दृश्यमान पदार्थ, ईश्वर की रचना से वनते हैं। और शून्य आकाश या अदृश्य अवकाश और विन्दु नाम पदार्थ का जानने वाला, शून्य नहीं होता; क्योंकि वह 'शून्य' से भिन्न होता है।

दूसरा नास्तिक—अभाव से भाव की उत्पत्ति है। जैसे वीज का मर्दन किये बिना अंकुर उत्पन्न नहीं होता। और वीज को तोड़ कर देखें, तो वहाँ भी अंकुर का अभाव है। इस प्रकार उत्पत्ति से पूर्व जव प्रथम अंकुर नहीं दीखता है, तो अभाव से उत्पत्ति हुई कि नहीं?

उत्तर—यह बात ठीक नहीं। क्योंकि जो बीज का उपमर्दन करता है, वह प्रथम ही वीज में था। जो न होता, तो उत्पन्न कभी नहीं होता। पूर्व विद्यमान पदार्थ ही प्रकट होता है, चाहे वह अदृश्य अव्यक्त ही क्यों न हो? जैसे मक्खन दूध से।

तीसरा नास्तिक—कर्मों का फल पुरुष के कर्म करने से नहीं प्राप्त होता। क्योंकि कितने ही कर्म निष्फल दीखने में आते हैं। इसलिए अनुमान किया जाता है कि जीव को कर्मों का फल प्राप्त होना ईश्वर के आधीन है। जिस कर्म का फल ईश्वर देना चाहे, देता है; जिस कर्म का फल देना नहीं चाहता, नहीं देता। इस वात से सिद्ध है कि कर्मफल ईश्वराधीन अर्थात् ईश्वर की स्वेच्छा पर है। वह जव, जिसको, जितना, जैसा और जहां फल देना चाहता है, देता है।

उत्तर—जो तुम्हारे कहे प्रकार से, कर्म का फल ईश्वराधीन ही हो, तो बिना कर्म किये ईश्वर फल क्यों नहीं देता? इसलिए जैसा कर्म मनुष्य करता है; वैसा ही फल ईश्वर देता है। ईश्वर स्वतन्त्र होकर अर्थात् स्वेच्छा से पुरुष को कर्म का फल नहीं दे सकता। किन्तु जैसा कर्म जीव करता है, वैसा ही फल ईश्वर देता हैं, न न्यून न अधिक।

चौथा नास्तिक—बिना किसी निमित्त के पदार्थों की उत्पत्ति होती है। जैसा बबूल आदि वृक्षों के कांटे बिना किसी निमित्त के तीक्ष्ण अणिवाले या गुलाब के फूल के साथ काँटे देखने में आते हैं। इससे विदित होता

है कि जब-जब सृष्टि का आरम्भ होता है, तब-तब शरीरादि पदार्थ विना किसी निमित्त के होते हैं।

उत्तर—जिससे पदार्थ उत्पन्न होता है, वही उसी का निमित्त है। विना कटकी वृक्ष के अर्थात् जिन वृक्षों में काँटे नहीं होते, जैसा आम, उनमें कांटे उत्पन्न क्यों नहीं हो जाते ?

पांचवां नास्तिक—क्योंकि सब पदार्थ उत्पत्ति और विनाश वाले हैं, इसलिए सब अनित्य हैं।

उत्तर—जो सब पदार्थों की अनित्यता नित्य अर्थात् सदा रहती है, तो सब पदार्थ-जाल अनित्य नहीं हो सकता।

प्रश्न—सब की अनित्यता भी अनित्य है। जैसे अग्नि काष्ठों को नष्ट कर आप भी नष्ट=विलुप्त हो जाता है।

उत्तर—जो यथावत् उपलब्ध होता है, उसका वर्त्तमान में अनित्यत्व कहना और जगत् के परमसूक्ष्म कारण को अनित्य कहना कभी नहीं हो सकता। जो वेदान्ती लोग नित्य सत्य ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं, तो ब्रह्म के सत्य होने से उसका कार्य असत्य या अनित्य कभी नहीं हो सकता।

जो इस जगत् को स्वप्न रज्जू सर्प्पादिवत् कल्पित कहें, तो भी नहीं बन सकता। क्योंकि कल्पना गुण है। गुण से कभी कोई द्रव्य उत्पन्न नहीं होता और गुण द्रव्य से पृथक् भी नहीं रह सकता। जब कल्पना का कर्त्ता नित्य है, तो उसकी कल्पना भी नित्य होनी चाहिए। नहीं तो, उसको भी अनित्य मानना पड़ेगा; जो कि युक्ति और प्रमाण के विरुद्ध है।

दूसरे, स्वप्न विना देखे सुने कभी नहीं आता। जो जागृत अर्थात् वर्त्तमान समय में सत्य पदार्थ हैं, उनके साक्षात् सम्बन्ध से प्रत्याक्षादि ज्ञान होने पर संस्कार अर्थात् उनका वासना रूप ज्ञान आत्मा में स्थिर होता है। स्वप्न में उसी को प्रत्यक्ष देखता है। जैसे सुषुप्ति होने से बाह्य पदार्थों के ज्ञान के अभाव में भी बाह्य पदार्थ विद्यमान रहते हैं, वैसे प्रलय में भी कारण द्रव्य वर्त्तमान रहता है। जो संस्कार के विना स्वप्न होवे, तो जन्मान्ध को भी रूप का स्वप्न होवे। इसलिए वहाँ उनका ज्ञानमात्र है, और बाहर सब पदार्थ वर्त्तमान हैं।

प्रश्न—जैसे जागृत के पदार्थ स्वप्न में और जाग्रत और स्वप्न दोनों के सुषुप्ति में, अनित्य हो जाते हैं; वैसे जागृत के पदार्थों को भी स्वप्न के

तुल्य अनित्य मानना चाहिए।

उत्तर—ऐसा कभी नहीं मान सकते। क्योंकि स्वप्न और सुषुप्ति में बाह्य पदार्थों का अज्ञानमात्र होता है, अभाव नहीं। विद्यार्थी को गुरु का स्वप्न आने से गुरु का अभाव सिद्ध नहीं होता और जैसे किसी के हीछे की ओर वहुत से पदार्थ अदृष्ट रहते हैं, परन्तु उनका अभाव नहीं पोता, वैसे ही स्वप्न और सुषुप्ति की वात है। इसलिए जो पूर्व कह आये कि ब्रह्म, जीव और जगत् का कारण तीन पदार्थ अनादि नित्य हैं, वही सत्य है ॥५॥

छःठा नास्तिक—पाँच भूतों के नित्य होने से सब जगत् नित्य है।

उत्तर—यह वात सत्य नहीं। क्योंकि जिन पदार्थों का उत्पत्ति और विनाश का कारण देखने में आता है, वे सब नित्य हों, तो सब स्थूल जगत् तथा शरीर घटपटादि पदार्थों को उत्पन्न और विनष्ट होते देखते ही हैं, इससे कार्य को नित्य नहीं मान सकते।

सातवां नास्तिक—सब पृथक्-पृथक् हैं; कोई एक पदार्थ नहीं है। ज़िस-जिस पदार्थ को हम देखते हैं कि उनमें दूसरा एक पदार्थ को भी नहीं दीखता।

उत्तर—अवयवो में अवयवी, वर्त्तमान काल, आकाश, परमात्मा और जाति पृथक्-पृथक् पदार्थ समूहों में एक-एक हैं। उनसे पृथक् कोई पदार्थ नहीं हो सकता। इसलिए सब पृथक् पदार्थ नहीं; किन्तु स्वरूप से पृथक्-पृथक् हैं और पृथक्-पृथक् पदार्थों में एक पदार्थ भी है।

आठवां नास्तिक—सब पदार्थों में इतरेतर अभाव अर्थात् एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ के न होने की सिद्धि होने से, वस्तुतः सब अभावरूप हैं। जैसे 'अनश्वो गौः, अगौरश्वः' अर्थात् 'गाय घोड़ा नहीं' और 'घोड़ा गाय नहीं।' भाव यह कि 'दोनों ही नहीं'। इसलिये सबको अभावरूप मानना चाहिए।

उत्तर—यह ठीक है कि सब पदार्थों में इतरेतराभाव का योग होता है। जैसे 'गाय में घोड़ा' नहीं और 'घोड़े में गाय' नहीं परन्तु, गवि गौरश्वेऽश्वो भावरूपो वर्तत एव' अर्थात् गाय में गाय और घोड़े में घोड़े का तो भाव ही है; अभाव कभी नहीं हो सकता। जो वस्तुतः पदार्थों का भाव ही न हो, तो इतरेतराभाव भी किसमें कहा जावे ?

नवां नास्तिक—'स्वभाव' से जगत् की उत्पत्ति होती है। जैसे पानी

अन्न एकत्र हो सड़ने से कृमि उत्पन्न हो जाते हैं, और वीज पृथिवी जल के मिलने से घास वृक्षादि और पाषाणादि उत्पन्न होते हैं। जैसे समुद्र वायु के योग से तरङ्ग और तरङ्गों से समुद्रफैन, हल्दी-चूना और नीबू के रस मिलाने से रोरी वन जाती है; वैसे सब जगत्, तत्वों के स्वभाव गुणों से उत्पन्न हुआ। इसका वनाने वाला कोई भी नहीं।

उत्तर—जो स्वभाव से ही जगत् की उत्पत्ति होवे, तो जगत का विनाश कभी न होवे। और जो विनाश भी स्वभाव से मानो, तो फिर उत्पत्ति न होगी और जो उत्पत्ति और विनाश दोनों स्वभाव युगपत् अर्थात् एक साथ द्रव्यों में मानोगे, तो उत्पत्ति और विनाश की व्यवस्था कभी न हो सकेगी। और जो किसी निमित्त के होने से उत्पत्ति और विनाश मानोगे; तो निमित्त से उत्पत्ति और विनाश होनेवाले द्रव्यों से 'निमित्त को' पृथक् मानना पड़ेगा। जो स्वभाव ही से उत्पत्ति और विनाश होता, तो एक समय ही में उत्पत्ति और विनाश का होना संभव नहीं। जो स्वभाव से उत्पन्न होता हो, तो इस भूगोलके निकट में दूसरा भूगोल चन्द्र-सूर्य आदि उत्पन्न क्यों नहीं होते?

और जिस-जिस के योग से जो-जो उत्पन्न होता है, वह-वह ईश्वर के उत्पन्न किये हुए वीज-अन्न जलादि के संयोग से घास, वृक्ष और कृमि आदि उत्पन्न होते हैं; बिना उनके नहीं। जैसे हल्दी चूना और नीबू का रस दूर-दूर देश से आकर आप नहीं मिलते, किसी के मिलाने से मिलते हैं। उसमें भी यथायोग्य मिलाने से रोरी होती है; अधिक न्यून वा अन्यथा करने से रोरी नहीं होती। वैसे ही प्रकृति परमाणुओं को ज्ञान और युक्ति से परमेश्वर के मिलाये बिना जड़ पदार्थ स्वयं कुछ भी कार्यसिद्धि के लिए विशेष पदार्थ नहीं वन सकते। इसलिए स्वभाव आदिसे सृष्टि नहीं होती; किन्तु सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक परमेश्वर की रचना से होती है।

प्रश्न—इस जगत् का कर्त्ता न था, न है और न होगा; किन्तु अनादि काल से यह जैसा का वैसा बना है। न कभी इसकी उत्पत्ति हुई और न कभीं विनाश होगा[1]।

उत्तर—विना कर्त्ता के कोई भी क्रिया वा चेष्टा नहीं हो सकती और क्रियाजन्य पदार्थ भी नहीं बन सकता। जिन पृथिवी आदि पदार्थों में संयोग-विशेष से रचना दीखती है; वे अनादि कभी नहीं हो सकते। क्योंकि

१. यह मत जैनियों तथा नवीन मीमांसकों का है।

जो संयोग से बनता है, वह संयोग के पूर्व नहीं होता, और वियोग के अन्त में नहीं रहता। जो तुम इसको न मानो, तो कठिन-से-कठिन पाषाण हीरा और फोलाद आदि तोड़ टुकड़े कर गला वा भस्म कर देखो कि इनमें परमाणु पृथक्-पृथक् मिले हैं, वा नहीं ? जो मिले हैं, तो वे समय पाकर अलग-अलग भी अवश्य होते हैं। इससे सिद्ध है कि इनका रचना करने वाला कोई अवश्य है।

प्रश्न—अनादि अर्थात् सनातन नित्य सत्ता ईश्वर कोई नहीं; किन्तु जो योगाभ्यास से अणिमादि ऐश्वर्य को प्राप्त होकर सर्वज्ञादि-गुणयुक्त केवल ज्ञानी होता है, वही जीव परमेश्वर कहाता है।[1]

उत्तर—जो अनादि ईश्वर जगत् का स्रष्टा न हो, तो साधनों से सिद्ध होने वाले जीवों का आधार जीवनरूप जगत् शरीर और इन्द्रियों के गोलक कैसे बनते ? इनके विना जीव साधन नहीं कर सकता। जब साधन न होते, तो सिद्ध कहां से होता ? जीव चाहे जैसा साधन कर सिद्ध होवे, तो भी ईश्वर का जो स्वयं सनातन अनादि सिद्धि है, जिसमें अनन्त सिद्धि हैं, उसके तुल्य कोई भी जीव नही हो सकता। क्योंकि जीव का परम अवधि तक ज्ञान वा सामर्थ्य बढ़े, तो भी वह परिमित ज्ञान और सामर्थ्य-वाला होता है। जीव अनन्त ज्ञान और अनन्त सामर्थ्य वाला कभी नहीं हो सकता।

देखो, कोई भी योगी[2] आज तक ईश्वरकृत सृष्टिक्रम को बदलने-हारा नहीं हुआ है और न होगा। जैसा अनादि सिद्ध परमेश्वर ने नेत्र से देखने और कानों से सुनने का निबन्ध किया है, इसको कोई भी योगी बदल नहीं सकता। अतः जीव ईश्वर कभी नहीं हो सकता, चाहे उसमें गुणों की कितनी भी अधिकता क्यों न हो जावे ?

प्रश्न—कल्प-कल्पान्तर में ईश्वर सृष्टि विलक्षण-विलक्षण बनाता है, अथवा एक सी ?

उत्तर—'यथापूर्व' अर्थात् जैसी कि अब है, वैसी ही प्रलय से पहले थी और आगे होगी; कल्प-कल्पान्तर में भी भेद नहीं करता। वेद में लिखा है कि—

---

१. यह मत भी जैनियों का है।

२. यह पद प्रकरणानुरोध से आवश्यक हैं। योग दर्शन के व्यासभाष्य में अणिमादि-सिद्धि-संपन्न योगी के ऐसे कार्य करने का उल्लेख है। यह केवल उनकी शक्त्य-तिशयता का प्रशंसापरक अर्थवाद मात्र है।

सूर्याचन्द्रसमौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ ऋ० १०।१९०।३॥

धाता=परमेश्वर ने ही जैसे पूर्व कल्प में सूर्य चन्द्र विद्युत् पृथिवी अन्तरिक्ष आदि बनाये थे, वैसे ही अब बनाए हैं। और आगे भी वैसे ही बनावेगा ।

इसलिए कि परमेश्वर के काम विना भूल-चूक के हाने से सदा एक से ही हुआ करते हैं। जो अल्पज्ञ और जिसका ज्ञान वृद्धि-क्षय को प्राप्त होता है, उसी के काम में भूल-चूक होती है, ईश्वर के काम में नहीं।

'यथापूर्व' शब्द से, जैसा उस परमात्मा में ज्ञान था, वैसा ही उसने विश्व रचा, ऐसा भी बोध होता है।

यदि ईश्वर ने यथापूर्व जगत् उत्पन्न नहीं किया, तो क्या नवीन जगत् उत्पन्न करते समय उसने पुरानी भूलों को सुधारा ? अथवा जा बातें उसे पूर्वविदित न थी, क्या ऐसी बातों को इसमें डाला है ? (उप० म० व्या० ८)। क्योंकि सर्वज्ञ होने से परमात्मा का ज्ञान नित्य एक रस होता है; इसलिए रचना निर्दोष होती है, उसमें परिवर्तन अर्थात् संशोधन करने का अवकाश ही नहीं होता (सं. क.)

प्रश्न—सृष्टि-विषय में वेदादिशास्त्रों का अविरोध है, वा विरोध ? अर्थात् एक मत है वा मतभेद ?

उत्तर—अविरोध अर्थात् एकमत है।

प्रश्न—जो अविरोध है, तो—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ॥

तैत्ति. उप. ब्रह्मा १॥

उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश=अवकाश, अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था, उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न सा होता है। वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि विना आकाश के प्रकृति और परमाणु कहां ठहर सकें ? आकाश के पश्चात् वायु, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है।

यहां आकाशादि क्रम से, और छान्दोग्य में अग्न्यादि, ऐतरेय में जलादि क्रम से सृष्टि हुई, ऐसा लिखा है और ऐसे ही वेदों में कहीं पुरुष से, कहीं हिरण्यगर्भ आदि से; इसी प्रकार षट्शास्त्रों में, मीमांसा में कर्म, वैशेषिक में काल[1], न्याय में परमाणु, योग में पुरुषार्थ, सांख्य में प्रकृति और वेदान्त में ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। अब किसको सच्चा और किसको झूठा मानें ?

उत्तर—इसमें सब सच्चे, कोई झूठा नहीं। झूठा वह है, जो इन सत्य शास्त्रों के भाव को विपरीत समझता है। क्योंकि परमेश्वर निमित्त कारण और प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। जब महाप्रलय होता है; उसके पश्चात् आकाशादि क्रम, अर्थात् जब आकाश और वायु का प्रलय नहीं होता और अग्न्यादि का होता है, तब अग्न्यादि क्रम से; और जब विद्युत् अग्नि का भी नाश नहीं होता, तब जलक्रम से सृष्टि होती है। अर्थात् जिस-जिस प्रलय[2] में जहां-जहां तक प्रलय होता है, वहां-वहां से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। जो पुरुष और हिरण्यगर्भादि प्रथम प्रवाह में लिख भी आए हैं, वे सब नाम परमेश्वर के हैं। परन्तु **'विरोध'** उसको कहते हैं कि एक कार्य में एक ही विषय पर विरुद्ध वाद होवे।

छः शास्त्रों में अविरोध अर्थात् समन्वय व संगति देखो इस प्रकार है। **मीमाँसा में कर्म से**—'ऐसा कोई भी कार्य जगत् में नहीं होता कि जिसके बनानेमें कर्म-चेष्टा न की जाय'। **वैशेषिक में काल से** 'समय न लगे विना बने ही नहीं'। **न्याय में परमाणु से**—'उपादान कारण न होने से कुछ भी नहीं बन सकता'। **योग में पुरुषार्थ से**—विद्या ज्ञान विचार न किया जाय, तो भी कुछ नहीं बन सकता'। **सांख्य में प्रकृति से**—'तत्त्वोंका मेल न होने से अर्थात् तत्त्वों का मेल हुए विना भी कुछ नहीं बन सकता'। और **वेदान्त में ब्रह्म से**—'बनाने वाला न बनावे, तो कोई भी पदार्थ उत्पन्न न हो सके'। ये छहों कारण न हों, तो सृष्टि कभी बन नहीं सकती।

---

१. कबीर की परम्परा के सुन्दरदास के 'सुन्दरविलास' में यही बात लिखी है। भ० द०॥

२. यह अवान्तर प्रलय प्रति मन्वन्तर होती है। इसी कारण दो मन्वन्तरों के मध्य सन्धिकाल का निर्देश शास्त्रों में किया है। ईश्वर के द्वारा वेद का ज्ञान सृष्टि के आदि में दिया जाता है। अवान्तर प्रलय के पश्चात् सुप्तप्रबुद्ध न्याय से ऋषियों को वेद का स्मरण स्वयं हो जाता है।

इसलिए सृष्टि जिन छः कारणों से बनती है; उन छः कारणों की व्याख्या एक-एक करके एक-एक शास्त्र में है। इसलिए उनमें विरोध कुछ भी नहीं। जेसे छः पुरुष मिलके एक छप्पर उठाकर भित्तियों पर धरैं, वैसा ही सृष्टिरूप कार्य की व्याख्या छः शास्त्रकारों ने मिलकर पूरी की है।

आजकल के अनार्ष नवीन ग्रन्थों के पढ़ने और प्राकृतभाषा वालों ने ऋषि-प्रणीत ग्रन्थ न पढ़कर, नवीन क्षुद्रबुद्धिकल्पित संस्कृत और भाषाओं के ग्रन्थ पढ़कर, एक दूसरे की निन्दा में तत्पर होके झूठा झगड़ा मचाया है। इन का कथन बुद्धिमानों के वा अन्य के मानने योग्य नहीं। क्योंकि जो अन्धों के पीछे अन्धे चलें, तो दुःख क्यों न पावें ? वैसे ही आजकल के अल्पविद्यायुक्त, स्वार्थी, इन्द्रियाराम पुरुषों की लीला संसार का नाश करनेवाली है।

प्रश्न—जब कारण के बिना कार्य नही होता, तो कारण का कारण क्यों नहीं ?

उत्तर—देखो, संसार में दो ही पदार्थ होते हैं—एक कारण, दूसरा कार्य। जो कारण है, वह कार्य नहीं और जिस समय वह कार्य है- उस समय वह कारण नहीं। जब तक मनुष्य सृष्टि को यथावत् नहीं समझता, तब तक उसको यथावत् ज्ञान प्राप्त नहीं होता[1]।

प्रश्न—सृष्टि का लक्षण क्या है ?

उत्तर—नित्यायाः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थायाः प्रकृतेरुत्पन्नानां परमसूक्ष्माणां पृथक् पृथग्वर्त्तमानानां तत्त्वपरमाणूनां प्रथमः संयोगारम्भः, संयोगविशेषादवस्थान्तरस्य स्थूलाकारप्राप्तिः सृष्टिरुच्यते।

अर्थात् अनादि नित्यस्वरूप सत्व-रजस् और तमोगुणों की एकावस्थारूप प्रकृति से उत्पन्न जो परमसूक्ष्म पृथक्-पृथक् तत्त्वावयव विद्यमान हैं, उन्हीं का प्रथम ही जो संयोग का आरम्भ है, संयोग विशेषों से अवस्थान्तर=दूसरी-दूसरी अवस्था को सूक्ष्म [से] स्थूल-स्थूल बनते-बनाते विचित्ररूप बनी है। इसी से यह संसर्ग होने से '**सृष्टि**' कहाती है।

१. तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय (यजुः ३१।१८) में आधिदैविक पक्षानुसार विराट् पुरुष प्रजापति हिरण्यगर्भ आदि अनेक नाम वाला प्रकृति का विकाररूप जो महद् अण्ड है, उसके और उससे उत्पन्न कार्यजगत् के ज्ञान से ही मृत्यु से अतिक्रमण=अमृतत्व-प्राप्ति का निर्देश किया है।

भला जो प्रथम संयोग में मिलने और मिलानेवाला पदार्थ है, जो संयोग का आदि और वियोग का अन्त अर्थात् जिसका विभाग नहीं हो सकता, उसको **'कारण'** कहते हैं, और जो संयोग के पीछे बनता और वियोग के पश्चात् वैसा नहीं रहता, वह **'कार्य'** कहाता है। जो पुरुष उस कारण का कारण, कार्य का कार्य, कर्त्ता का कर्त्ता, साधन का साधन और साध्य का साध्य पूछता और कहता है, वह देखता हुआ भी अन्धा, सुनता हुआ भी बहिरा और जानता हुआ भी मूढ़ है। क्या आंख की आंख, दीपक का दीपक और सूर्य का सूर्य कभी हो सकता है ? जो जिससे उत्पन्न होता है, वह **'कारण'** और जो उत्पन्न होता है, वह **'कार्य'**, और जो कारण को कार्यरूप बनानेहारा है, वह **'कर्त्ता'** कहाता है। परमात्मा सब सृष्टि का कर्त्ता अर्थात् सबका आदिमूल परमेश्वर है। इस 'आदिमूल'=कारण का कोई कारण नहीं होता। विज्ञान और तर्कशास्त्र में भी 'कारण का कारण' नहीं मानते (सं. क.)।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।। गीता २।१६।।

कभी 'असत्' पदार्थ का भाव=वर्त्तमान, और 'सत्' पदार्थ का अभाव=अवर्त्तमान नहीं होता। इन दोनों का निर्णय तत्त्वदर्शी[1] लोगों ने जाना है। अन्य पक्षपाती आग्रही मलीनात्मा अविद्वान् लोग इस बात को सहज में कैसे जान सकते हैं ? क्योंकि जो मनुष्य विद्वान् सत्संगी होकर पूरा विचार नहीं करता, वह सदा भ्रमजाल में पड़ा रहता है।

धन्य वे पुरुष हैं कि जो सब विद्याओं के सिद्धान्तों को जानते हैं, और जानने के लिए परिश्रम करते हैं। जानकर औरों को निष्कपटता से जनाते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि जो कोई कारण के बिना सृष्टि मानता है, वह कुछ भी नहीं जानता।

प्रश्न—मनुष्य की सृष्टि प्रथम हुई, वा पृथिवी आदि की ?

उत्तर—पृथिवी आदि की। क्योंकि पृथिव्यादि के बिना मनुष्य की स्थिति और पालन नहीं हो सकता।

प्रश्न—सृष्टि की आदि में एक ही मनुष्य उत्पन्न हुआ था या अनेक मनुष्य उत्पन्न किए थे ?

---

१. अर्थात् तत्त्वों=परमाणुओं वा प्रकृति के साक्षात् कर्त्ता।

उत्तर—अनेक। क्योंकि जिन जीवों के कर्म ऐश्वरी सृष्टि में उत्पन्न होने के थे, उनका जन्म सृष्टि की आदि में ईश्वर देता है। यही निश्चय है कि आदि में अनेक अर्थात् सैकड़ों सहस्रों मनुष्य उत्पन्न हुए। और सृष्टि में देखने से भी निश्चित होता है कि मनुष्य अनेक मां-बाप के सन्तान हैं।

प्रश्न—आदिसृष्टि[1] में मनुष्य आदि की बाल्य युवा वा वृद्धावस्था में सृष्टि हुई थी, अथवा तीनों में ?

उत्तर—युवावस्था में। क्योंकि जो बालक उत्पन्न करता, तो उनके पालन के लिए दूसरे मनुष्य आवश्यक होते। और जो वृद्धावस्था में बनाता तो मैथुनी सृष्टि न होती। इसलिए युवावस्था में सृष्टि की है।

प्रश्न—मैथुनी सृष्टि कबसे प्रारम्भ हुई ?

उत्तर—ब्रह्मा तक 'दिव्य अर्थात् अमैथुनी सृष्टि' थी। पश्चात् मैथुनी सृष्टि उत्पन्न हुई (उप. म. व्या. ९)।

प्रश्न—कभी सृष्टि का प्रारम्भ है, वा नहीं ?

उत्तर—नहीं। जैसे दिन के पूर्व रात और रात के पूर्व दिन, तथा दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन, बराबर चला आता है; इसी प्रकार सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि, तथा सृष्टि के पीछे प्रलय और प्रलय के आगे सृष्टि का चक्र अनादिकाल से चला आता है। इस सृष्टिक्रम का आदि वा अन्त नहीं।

किन्तु जैसे दिन वा रात का आरम्भ और अन्त देखने में आता है, उसी प्रकार सृष्टि और प्रलय का आदि और अन्त होता रहता है।

क्योंकि जैसे, परमात्मा जीव और जगत् का कारण प्रकृति तीन स्वरूप से अनादि हैं; वैसे जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय प्रवाह से अनादि हैं। जैसे नदी का प्रवाह वैसा ही दीखता है, कभी सूख जाता, कभी नहीं दीखता; फिर बरसात में दीखता और उष्णकाल में नहीं दीखता, ऐसे व्यवहारों को '**प्रवाहरूप**' जानना चाहिए। जैसे परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव अनादि हैं, वैसे ही उसके जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करना

---

१. सृष्टेरादिः आदिसृष्टिः सृष्ट्यादि र्वा। अर्थ होगा—सृष्टि की आदि। ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इसी अर्थ में 'आदिसृष्टि' शब्द का बहुधा तथा क्वचित् 'सृष्ट्यादि' का प्रयोग किया है। दोनों प्रयोग साधु हैं।

भी अनादि हैं। जैसे कभी ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव का आरम्भ और अन्त नहीं। उसकी 'ज्ञान-बल-क्रिया' स्वाभाविक रूप से सदा प्रवर्त्तमान रहती है।

प्रश्न—ईश्वर ने किन्हीं जीवों को मनुष्य जन्म, किन्हीं को सिंहादि क्रूर जन्म, किन्ही को हरिण-गाय आदि पशु, किन्हीं को वृक्षादि कृमि कीट पतङ्गादि जन्म दिये हैं। क्या इससे परमात्मा में पक्षपात नहीं आता है?

उत्तर—पक्षपात नहीं आता। क्योंकि उन जीवों के पूर्व सृष्टि में किए हुए कर्मानुसार व्यवस्था करने से। हाँ, जो कर्म के विना स्वेच्छा से जीवों को भिन्न-भिन्न जन्म देता, तो अवश्य पक्षपात आता।

प्रश्न—मनुष्यों की आदि सृष्टि किस स्थल में हुई?

उत्तर—त्रिविष्टप अर्थात् जिसको 'तिब्बत' कहते हैं वहाँ।[1]

प्रश्न—आदिसृष्टि[2] में एक जाति थी वा अनेक?

उत्तर—एक मनुष्य जाति थी। पश्चात् **'विजानीह्यार्य्यान् ये च दस्यवः'** यह ऋग्वेद का (१।५१।८) वचन है। श्रेष्ठों का नाम **'आर्य'** विद्वान् देव, और दुष्टों के **'दस्यु'** अर्थात् डाकू मूर्ख नाम होने से **आर्य** और **दस्यु** दो नाम हुए। **'उत शूद्र उतार्ये'** (अथर्व १९। ६२। १)। आर्यों में पूर्वोक्त प्रकार से ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र चार भेद हुए। द्विज विद्वानों का नाम **आर्य** और मूर्खों का नाम **शूद्र** अथवा **'अनार्य'** अर्थात् अनाड़ी नाम हुआ।

प्रश्न—फिर वे यहां कैसे आये?

उत्तर—जब आर्य और दस्युओं में, अर्थात् विद्वान् जो देव और अविद्वान् जो असुर, उनमें लड़ाई-बखेड़ा हुआ। जब बहुत उपद्रव होने लगा, तब आर्य लोग सब भूगोल में उत्तम इस भूमि के खण्ड को जानकर त्रिविष्टप अर्थात् तिब्बत से नीचे उतर, यहीं आकर बसे। इसी से इस देश का नाम **'आर्य्यावर्त्त'** हुआ।

प्रश्न—आर्य्यावर्त्त की अवधि कहां तक है?

उत्तर—**आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।**
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्य्यावर्त्तं विदुर्बुधाः ॥१॥

---

१. द्र०—हिमवच्छिरप्रदेश एव स्वर्गभूमिरिति प्रसिद्धिः। सायण अथर्वभाष्य १९।३९।८॥ कोशों में स्वर्ग और त्रिविष्टप पर्यायवाची पढ़े हैं।

२. द्र० पूर्व पृष्ठ, टि० १।

सरस्वतीदृषद्वत्यो देवनद्योर्यदन्तरम्
तं देवनिर्मितं देशमार्यावर्त्तं प्रचक्षते ॥२॥ मनु. २।२२।१७॥

उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पूर्व और पश्चिम में समुद्र ॥१॥ तथा सरस्वती पश्चिम में अटक नदी, पूर्व में दृषद्वती जो नेपाल के पूर्व भाग पहाड़ से निकलके बङ्गाल के आसाम के पूर्व और ब्रह्मा के पश्चिम ओर होकर दक्षिण के समुद्र में मिली है, जिसको 'ब्रह्मपुत्रा' कहते हैं, और जो उत्तर के पहाड़ों से निकलके दक्षिण के समुद्र की खाड़ी में आकर मिली है। हिमालय की मध्य रेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वर-पर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर जितने देश हैं, उन सबको **'आर्यावर्त्त'** इसलिए कहते हैं कि यह आर्यावर्त्त, देव अर्थात् विद्वानों ने बसाया। और आर्यजनोंके निवास करनेसे **'आर्यावर्त'** कहाया है ॥२॥

प्रश्न—प्रथम इस देश का नाम क्या था ? और इसमें कौन बसते थे ?

उत्तर—तिब्बत से आर्यों के इस आगमन के पूर्व, इस देश का नाम कोई भी नहीं था, और न कोई आर्यों के पूर्व इस देश में वसते थे। क्योंकि आर्य लोग सृष्टि की आदि में कुछ काल के पश्चात् तिब्बत से सूधे इसी देश में आकर बसे थे।

प्रश्न—कोई कहते हैं कि ये लोग ईरान से आये। इसी से इन लोगों का नाम 'आर्य' हुआ है। इनके पूर्व यहाँ जङ्गली लोग वसते थे कि जिनको असुर और राक्षस कहते थे। आर्य लोग अपने को देवता बतलाते थे। और उनका जब संग्राम हुआ, उसका नाम 'देवासुर-संग्राम' कथाओं में ठहराया।

उत्तर—यह वात सर्वथा झूठ है। क्योंकि—

विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवो वर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान् ॥
ऋ० १।५१।८॥

उत शूद्र उतार्ये ॥ अथर्व०१९।६२।१॥

यह प्रथम लिख चुके हैं कि **'आर्य'** नाम धार्मिक विद्वान् आप्त पुरुषों का, और इनसे विपरीत जनों का नाम **'दस्यु'** अर्थात् डाकू दुष्ट अधार्मिक और अविद्वान् है। तथा ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य द्विजों का नाम **'आर्य'** और शूद्र का नाम **'अनार्य्य'** अर्थात् अनाड़ी है। शूद्र 'दस्यु' नहीं होते। वस्तुतः ये 'अविद्वान् आर्य' हैं; जिन्हें 'अनार्य'[२] भी कहा गया है। द्विज अर्थात् 'धार्मिक

१. द्वितीय श्लोक के चतुर्थ चरण का पाठ मनु में 'ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते' है।
२. अनावार्य अर्थात् 'आर्यसदृश', आर्य विरोधी नहीं; अब्राह्मणवत्।

विद्वान् 'आर्य' और शूद्र अर्थात् 'धार्मिक अविद्वान् आर्य (सं. क.)।

जब वेद ऐसे कहता है, तो दूसरे विदेशियों के कपोलकल्पित मत को बुद्धिमान् लोग कभी नहीं मान सकते। और देवासुर संग्राम में आर्यावर्तीय अर्जुन[1] तथा महाराजा दशरथ[2] आदि, हिमालय पहाड़ में आर्य और दस्यु म्लेच्छ[3] असुरों का जो युद्ध हुआ था, उसमें देव अर्थात् आर्यों की रक्षा और असुरों के पराजय करने को सहायक हुए थे।

इससे यही सिद्ध होता है कि आर्यावर्त्त के बाहर चारों ओर जो हिमालय के पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैर्ऋत्य, पश्चिम, वायव्य, उत्तर, ईशान देश में मनुष्य रहते हैं, उन्हीं का नाम 'असुर' सिद्ध होता है। क्योंकि जब-जब हिमालय प्रदेशस्थ आर्यों पर लड़ने को चढ़ाई करते थे, तब-तब यहां के राजा-महाराजा लोग उन्हीं उत्तर आदि देशों में आर्यों के सहायक थे। और जो श्रीरामचन्द्र से दक्षिण में युद्ध हुआ है, उसका नाम 'देवासुर-संग्राम' कहीं आर्यों के इतिहास में नहीं लिखा है। किन्तु उसको **राम-रावण** अथवा आर्य और राक्षसों का **'संग्राम'** कहते हैं।

किसी संस्कृत भाषा के ग्रन्थ में वा आर्यों के इतिहास में वा अन्य भारतीय भाषाओं के किसी ग्रन्थ में यह नहीं लिखा कि आर्य लोग ईरान से भारत में आये, और यहां के जङ्गलियों को लड़कर, उनपर जय पाके, उन्हें निकाल के इस देश के राजा हुए[4]। पुनः विदेशियों का लेख माननीय कैसे हो सकता है? और—

---

१. अर्जुन ने इन्द्र की आज्ञा से उसके शत्रु निवातकवच नामक दानवों से युद्ध किया था। द्र०—महा० वनपर्व अ० १६८।७१ से अ० १७५ तक।

२. द्र०—वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्ड सर्ग ११। श्लोक १८॥

३. म्लेच्छ असुरों की बस्तियां 'मोहन जोदड़ो' आदि में भी थीं। भगवत् दत्त।

४, यह युक्ति अत्यन्त प्रबल है। पाश्चात्य मतानुसार जिन आर्यों ने ऋग्वेद जैसा महाग्रन्थ लिखा, उन्होंने इतनी भारी विजय का कहीं उल्लेख ही नहीं किया। संसार में कौन ऐसी सभ्य जाति है, जिसने अपनी विजयों का उल्लेख न किया हो। यदि लङ्का-विजय का उल्लेख रामायण में, और पाण्डवों की विजय का उल्लेख महाभारत में यहाँ के कवि कर सकते थे, तो आर्यों ने तथाकथित द्रविड़ों पर जो महान् विजय प्राप्त की, उसका वर्णन क्यों नहीं किसी ग्रन्थ में मिलता है? इससे स्पष्ट है कि न आर्य बाहर से आए, और न यहां के तथाकथित पूर्वनिवासियों (द्रविड़ों) को यहां से खदेड़ा। यह पाश्चात्यों की एक कूटनीतिज्ञ चाल थी। दुःख है कि स्वतन्त्र भारत में अभी तक भी यही झूठा इतिहास देशवाशियों को पढ़ाया जाता है।

आर्यवाचो म्लेच्छवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥१॥[1]
म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥२॥ मनु. २।२३॥

जो आर्यावर्त्त देश से भिन्न देश है, वे **'दस्युदेश'** और **'म्लेच्छ-देश'** कहाते हैं[2]। इससे भी यह सिद्ध होता है कि आर्यावर्त्त से भिन्न पूर्वदेश से लेकर ईशान, उत्तर, वायव्य और पश्चिम देशों में रहनेवालों का नाम **'दस्यु'** और **'म्लेच्छ'** तथा **'असुर'** है।[3] और नैर्ऋत्य, दक्षिण तथा आग्नेय दिशाओं में आर्यावर्त्त देश से भिन्न [में] रहनेवाले मनुष्यों का नाम **'राक्षस'** है। अब भी देख लो, हबसी लोगों का स्वरूप भयंकर जैसा राक्षसों का वर्णन किया है, वैसा ही दीख पड़ता है।

और आर्यावर्त्त की सूध पर नीचे रहनेवाले का नाम **'नाग'**, और उस देश का नाम 'पाताल' इसलिए कहते हैं कि वह देश आर्यावर्त्तीय मनुष्यों के पाद अर्थात् पग तले है। और उनके शासक नागवंशी अर्थात् नाग नामवाले पुरुष के वंश के राजा होते थे। उसी की उलोपी राजकन्या से मंझले पांडव अर्जुन का विवाह हुआ था। अर्थात् इक्ष्वाकु से लेकर कौरव-पांडव वंश तक[4] सर्व भूगोल में आर्यों का राज्य और वेदों के धर्म का थोड़ा-थोड़ा प्रचार आर्यावर्त्त से भिन्न देशों में भी रहा।

तथा इसमें यह प्रमाण है कि ब्रह्मा का पुत्र विराट्, विराट् का मनु, मनु के मरीच्यादि दश, इनके स्वायंभवादि सात राजा, और उनके सन्तान इक्ष्वाकु आदि राजा, जो आर्यावर्त्त के प्रथम राजा हुए, जिन्होंने यह आर्यावर्त्त बसाया है।[5]

अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य-प्रमाद परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी; किन्तु आर्यावर्त्त में भी आर्यों का अखण्ड स्वतन्त्र स्वाधीन निर्भय राज्य इस समय नहीं है।

---

१. मनु. १०।४५ में **'म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः'** पाठ है।
२. ये म्लेच्छ देश ही उत्तरकालीन इतिहास में दैत्य और दानव देश कहाए। इन पर दिति और दनु माताओं के सन्तानों का राज्य रहा। इन्हें ही 'असुर देश' कहते हैं। भ० द०॥
३. 'असीरिया' इन्हीं असुरों का देश था।
४. भारत के प्राचीन इतिहास पर ऋषिदयानन्द ने पूना में ६ व्याख्यान दिए थे। द्र०—पूना-प्रवचन, प्रवचन संख्या ८-१३।
५. द्र०—पूनाप्रवचन, प्रवचन ८, पृष्ठ ६५ (रा० ला० क० ट्र० संस्करण)।

जो कुछ है, सो भी विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहा। कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है, तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है।[1]

'कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह-रहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है। परन्तु भिन्न-भिन्न भाषा, पृथक्-पृथक् शिक्षा, अलग व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है। विना इसके छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है। इसलिये जो कुछ वेदादिशास्त्रों में व्यवस्था वा इतिहास लिखे हैं, उसी का मान्य करना भद्रपुरुषों का काम है'।

प्रश्न—जगत् की उत्पत्ति में कितना समय व्यतीत हुआ ?

उत्तर—एक अर्व छानबे क्रोड़ कई लाख और कई सहस्र वर्ष जगत् की उत्पत्ति और वेदों के प्रकाश होने में हुए हैं। इसका स्पष्ट व्याख्यान ऋषिदयानन्द कृत ऋ. वे. भा. भूमिका के वेदोत्पत्ति विषय प्रकरण में लिखा है, देख लीजिए। इत्यादि प्रकार सृष्टि के वनाने और वनने में है। और यह भी जानना चाहिए कि सव से सूक्ष्म टुकड़ा अर्थात् जो काटा नहीं जाता, उसका नाम परमाणु; ऐसे साठ परमाणुओं के मिले हुए का नाम अणु; दो अणु का एक द्व्यणुक, जो स्थूल वायु है; तीन द्व्यणुक का अग्नि, चार द्व्यणुक का जल और पांच द्व्यणुक की पृथिवी अर्थात् तीन द्व्यणुक का त्रसरेणु और उसका दूना होने से पृथिवी आदि दृश्य पदार्थ होते हैं। इसी प्रकार क्रम से मिलकर भूगोलादि परमात्मा ने वनाये हैं।

प्रश्न—इसका धारण कौन करता है ? कोई कहता है—शेष, अर्थात् सहस्र फणवाले सर्प के शिर पर पृथिवी है। दूसरा कहता है कि—वैल के सींग पर। तीसरा कहता है—किसी पर नहीं। चौथा कहता है कि—वायु के आधार पर। पांचवाँ कहता है—सूर्य के आकर्षण से खेंची हुई अपने ठिकाने पर स्थित है। छःठा कहता है कि—पृथिवी भारी होने से नीचे-नीचे आकाश में चली जाती है, इत्यादि में किस वात को सत्य मानें ?

उत्तर—जो मनुष्य शेष=सर्प और वैल के सींग पर पृथिवी को स्थित वतलाता है, उसको पूछना चाहिये कि सर्प और वैल के मां-बाप के जन्म-

---

१. जब यह बात ऋषि दया. ने लिखी थी, देश परतन्त्र था। अब स्वतन्त्र है।

समय, यह किस पर थी ? तथा अब सर्प और बैल आदि किस पर हैं ? बैल के सींग पर स्थित पृथिवी को मानने वाले मुसलमान तो चुप ही कर जायेंगे; परन्तु सर्प वाले कहेंगे कि सर्प कूर्म पर, कूर्म जल पर, जल अग्नि पर, अग्नि वायु पर, और वायु आकाश में ठहरा है। उनसे पूछना चाहिये कि ये सब किस पर स्थित हैं ? तो अवश्य कहेंगे कि परमेश्वर पर।

जब उनसे कोई पूछेगा कि शेष और बैल किसका बच्चा है ? कहेंगे शेष, कश्यप कद्रू का और बैल, गाय का। और कश्यप मरीची का, मरीची मनु का, मनु विराट् का, और विराट् ब्रह्मा का पुत्र है। ब्रह्मा आदि सृष्टि का था। इस प्रकार जब शेष का जन्म न हुआ था, उसके पहिले पांच पीढ़ी हो चुकी हैं; तब किसने धारण की थी ? अर्थात् कश्यप के जन्म समय में पृथिवी किस पर थी ? तो 'तेरी चुप मेरी भी चुप' और लड़ने लग जायेंगे।

इसका सच्चा अभिप्राय यह है कि परमाणु से सृष्टि बनाकर, जीवों को उसमें भेजकर, जो 'बाकी' रहता है, उसको **'शेष'** कहते हैं। सो किसी कविने **'शेषाधारा पृथिवीत्युक्तम्'** ऐसा कहा कि 'शेष' के आधारपर पृथिवी है। दूसरे ने उसके अभिप्राय को न समझकर क्योंकि शेष नाम सर्प का भी होता है, सो सर्प की मिथ्या कल्पना कर ली। परन्तु जिसलिये परमेश्वर उत्पत्ति और प्रलय से 'बाकी' अर्थात् पृथक् रहता है, इसीसे उसको **'शेष'** कहते हैं, और उसी के आधार पर पृथिवी आदि लोक स्थित है।

सत्येनोत्तभिता भूमिः। ऋग्वेद १०।८५।१।।

इसका अभिप्राय है कि—'सत्य' अर्थात् जो त्रैकाल्याबाध्य, जिसका कभी नाश नहीं होता, उस परमेश्वर ने भूमि आदित्य और सब लोकों का धारण किया हुआ है।

उक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्त्ति (ऋ० १०।३१।८) और **अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्याम्** ।। (अथर्व ४।११।१)। इन वेद वचनों में इसी **'उक्षा'** शब्द को देखकर किसी ने बैल का ग्रहण किया होगा। क्योंकि **'उक्षा'** या अनड्वान् बैल का भी नाम है। परन्तु उसको यह विदित न हुआ कि इतने बड़े भूगोल के धारण करने का सामर्थ्य बैल में कहाँ से आवेगा ? इसलिए **'उक्षा'** अर्थात् वर्षा द्वारा भूगोल के सेचन करने से यह सूर्य का नाम है; जिसने अपने आकर्षण से पृथिवी को धारण किया है। परन्तु सूर्यादि का धारण करने वाला विना परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं है।

प्रश्न—इतने-इतने बड़े भूगोलों को परमेश्वर कैसे धारण कर सकता होगा ?

उत्तर—जैसे अनन्त आकाश के सामने बड़े-बड़े भूगोल कुछ भी अर्थात् समुद्र के आगे जल के छोटे कणे के तुल्य भी नहीं हैं, वैसे अनन्त परमेश्वर के सामने असंख्यात लोक एक परमाणु के तुल्य भी नहीं कह सकते। **'विभूः प्रजासु'** (यजु० ३२।८) अर्थात् वह बाहर भीतर सर्वत्र व्यापक। वह परमात्मा सब प्रजाओं में व्यापक होकर सबका धारण कर रहा है। जो वह ईसाई मुसलमान पुराणियों के कथनानुसार विभू[1] अर्थात् सर्वव्यापक न होता, तो इस सब सृष्टि का धारण कभी न कर सकता। क्योंकि विना प्राप्ति अर्थात् सान्निध्य के किसी को कोई धारण नहीं कर सकता।

कोई कहै कि ये सब लोक परस्पर आकर्षण से धारित होंगे; पुनः परमेश्वर के धारण करने की क्या अपेक्षा है? उनको यह उत्तर देना चाहिये कि यह सृष्टि अनन्त है वा सान्त ? जो अनन्त कहें, तो आकारवाली वस्तु अनन्त कभी नहीं हो सकती। और जो सान्त कहें, तो उनके पर-भाग सीमा अर्थात् जिसके परे कोई भी दूसरा लोक नहीं है, वहां किसके आकर्षण से धारण होगा ? जैसे समष्टि और व्यष्टि अर्थात् जब सब वृक्षों के समुदाय का नाम वन रखते हैं, तो वह **समष्टि** कहाता है। और एक-एक वृक्षादि की भिन्न-न्नि गणना करें, तो **व्यष्टि** कहाता है। वैसे सब भूगोलों को समष्टि गिनकर जगत् का धारण और आकर्षण का कर्त्ता विना परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं।

इसलिये जो सब जगत् को रचता है, वही—**'स दाधार पृथिवी द्यामुतेमाम्**।। (**यजु : १३।४**) अर्थात् जो पृथिव्यादि प्रकाशरहित लोकलोकान्तर तथा सूर्यादि प्रकाशसहित लोक और पदार्थों का रचन-धारण करता है और जो सबमें व्यापक हो रहा है, वही सब जगत् का कर्त्ता और धारण करने वाला है।

प्रश्न—पृथिव्यादि लोक घूमते हैं, वा स्थिर रहते हैं।

उत्तर—घूमते हैं।

प्रश्न—कितने ही लोग कहते हैं कि—सूर्य घूमता है, और पृथिवी

१. 'विभू' समानार्थक 'विभू' स्वतन्त्र शब्द है।

नहीं घूमती। दूसरे कहते हैं कि पृथिवी घूमती है, सूर्य नहीं घूमता। इसमें सत्य क्या माना जाय?

उत्तर—ये दोनों आधे झूठे हैं। क्योंकि वेद में लिखा है कि—

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः।
पितरं च प्रयन्त्स्वः॥ यजु॰ अ॰ ३। मं॰ ६॥

अर्थात् यह भूगोल जल के सहित सूर्य के चारों ओर घूमता जाता है। इसलिए भूमि घूमा करती है।

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥
यजु॰ अ॰ ३३। मं॰ ४३॥

जो सविता अर्थात् सूर्य वर्षादि का कर्त्ता, प्रकाश-स्वरूप, तेजो-मय, रमणीयस्वरूप के साथ वर्त्तमान, सब प्राणि-अप्राणियों में अमृतरूप वृष्टि वा किरणद्वारा अमृत का प्रवेश करा, और सब मूर्तिमान द्रव्यों को दिखलाता हुआ, सब लोकों के साथ आकर्षण गुण से सह-वर्त्तमान, अपनी परिधि में घूमता रहता है, किन्तु किसी लोक के चारों ओर नहीं घूमता।

वैसे ही एक-एक ब्रह्माण्ड में एक सूर्य प्रकाशक, और दूसरे सब लोक-लोकान्तर प्रकाश्य हैं। जैसे—

दिवि सोमो अधि श्रितः॥ अथर्व॰ का १४। अनु॰ १। मं॰ १॥

जैसे यह चन्द्रलोक सूर्य से प्रकाशित होता है, वैसे ही पृथिव्यादि लोक भी सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। परन्तु रात और दिन सर्वदा वर्त्तमान रहते हैं। क्योंकि पृथिव्यादि लोक का घूमकर जितना भाग सूर्य के सामने आता है। उतने में दिन, और जितना पृष्ठ में अर्थात् आड़ में होता जाता है, तो उतने में रात होती है। अर्थात् उदय-अस्त-संध्या-मध्याह्न-मध्यरात्रि आदि जितने कालावयव हैं, वे देशदेशान्तरों में सदा वर्त्तमान रहते हैं। अर्थात् जब आर्यावर्त्त में सूर्योदय होता है, उस समय पाताल अर्थात् 'अमेरिका' में अस्त होता है। और जब आर्यावर्त्त में अस्त होता है, तब पाताल देश में उदय होता है। जब आर्यावर्त्त में मध्य दिन वा मध्य रात है, उसी समय पाताल देश में मध्य रात और मध्य दिन रहता है।

जो लोग कहते हैं कि सूर्य घूमता है और पृथिवी नहीं घूमती, वे सब अज्ञ हैं। क्योंकि जो ऐसा होता, तो कई सहस्र वर्ष के दिन और रात होते। अर्थात् सूर्य का नाम 'ब्रघ्न'[1] है। वह पृथिवी से लाखों गुना बड़ा और क्रोडों कोश दूर है। जैसे राई के सामने पहाड़ घूमे, तो बहुत देर लगती, और राई के घूमने में बहुत समय नहीं लगता, वैसे ही पृथिवी के घूमने से यथायोग्य दिन-रात होता है, सूर्य के घूमने से नहीं। और जो सूर्य को स्थिर कहते हैं, वे भी ज्योतिर्विद्यावित् नहीं। क्योंकि यदि सूर्य न घूमता होता, तो राशि=स्थान से दूसरी राशि अर्थात् स्थान को प्राप्त न होता। और गुरु अर्थात् भारी पदार्थ विना घूमे आकाश में नियत स्थान पर कभी नहीं रह सकता।

और जो जैनी कहते हैं कि पृथिवी घूमती नहीं, किन्तु नीचे नीचे चली जाती है, और दो सूर्य और दो चन्द्र केवल जम्बूद्वीप में बतलाते हैं, हैं, वे तो गहरी भांग के नशे में निमग्न हैं। क्योंकि जो नीचे-नीचे चली जाती, तो चारों ओर वायु चक्र न बनने से पृथिवी छिन्न-भिन्न होती और निम्न स्थलों[2] में रहने वालों को वायु का स्पर्श न होता। नीचे वालों को अधिक होता, और एकसी वायु की गति होती। दो सूर्य चन्द्र होते, तो रात और कृष्णपक्ष का होना ही नष्ट-भ्रष्ट होता। इसलिए एक भूमि के पास एक चन्द्र[3] और अनेक चन्द्र तथा अनेक भूमियों के मध्य में एक सूर्य रहता है।

प्रश्न—जैसे इस देश में मनुष्यादि सृष्टि की आकृति अवयव हैं, वैसे ही क्या अन्य लोकों में भी होगी वा विपरीत?

प्रश्न—कुछ-कुछ आकृति में भेद होने का सम्भव है। जैसे इस देश में चीन हबशी और आर्यावर्त्त यूरोप में अवयव और रङ्गरूप और आकृति का भी थोड़ा-थोड़ा भेद होता है, इसी प्रकार लोक-लोकान्तरों में भी भेद होते हैं। परन्तु जिस जाति की सृष्टि इस देश में है, वैसी ही उस जाति की सृष्टि अन्य लोकों में भी है। जिस-जिस शरीर के प्रदेश में नेत्रादि अङ्ग हैं, उसी-उसी प्रदेश में लोकान्तर में भी उसी जाति के अवयव भी वैसे ही होते हैं। क्योंकि—

---

१. 'असौ वा आदित्यो ब्रघ्नः। शत० १३।२।६।१॥

२. अर्थात् ऊपर के निम्नस्थलों।

३. यहां 'भूमि' शब्द ग्रह का वाचक है, और 'चन्द्र' उपग्रह का। किसी-किसी ग्रह के एक से अधिक भी उपग्रह हैं।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ।।

ऋ० १० । १९० । ३ ।।

'धाता' परमात्मा ने जिस प्रकार के सूर्य चन्द्र द्यौ भूमि अन्तरिक्ष और तत्रस्थ सुख विशेष पदार्थ पूर्व कल्प में रचे थे, वैसे ही इस कल्प अर्थात् सृष्टि में रचे हैं । तथा सब लोक-लोकान्तरों में भी बनाये हैं । भेद किंचिन्मात्र नहीं होता ।

प्रश्न—जिन वेदों का इस लोक में प्रकाश है, उन्हीं का उन लोकों में प्रकाश है, वा नहीं ?

उत्तर—उन्हीं का है । जैसे एक राजा की राज्यव्यवस्था नीति सब देशों में समान होती हैं, उसी प्रकार परमात्मा राज राजेश्वर की वेदोक्त नीति भी अपने-अपने सृष्टि रूप सब राज्य में एकसो है ।

प्रश्न—जब ये जीव और प्रकृतिस्थ तत्त्व अनादि और ईश्वर के बनाये नहीं हैं, तो ईश्वर का अधिकार भी इन पर न होना चाहिये । क्योंकि सब स्वतन्त्र हुए ।

उत्तर—जैसे राजा और प्रजा समकाल में होते हैं, और राजा के आधीन प्रजा होती है, वैसे ही परमेश्वर के आधीन जीव और जड़ पदार्थ हैं । जब परमेश्वर सृष्टि का बनाने वाला जीवों के कर्मफलों के देने वाला सबका यथावत् रक्षक और अनन्त सामर्थ्यवाला है, तो सब अल्पसामर्थ्य जीव और जड़ पदार्थ उसके आधीन क्यों न हों ? इसलिए जीव कर्म करने में स्वतन्त्र, परन्तु कर्मों के फल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतन्त्र हैं । वैसे ही सर्वशक्तिमान् ईश्वर, सृष्टि पालन और संहार सब विश्व का करता है ।

यह संक्षेप से सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति प्रलय के विषय में लिखा है । इसके आगे विद्या-अविद्या, बन्ध और मोक्ष के विषय में लिखा जायेगा ।

।। इति अष्टमः प्रवाह ।।

अथ नवमः प्रवाहः

अथ विद्याऽविद्याबन्धमोक्षविषयान् व्याख्यास्यामः

अब विद्या-अविद्या और बन्ध-मोक्ष के विषय का विचार करते हैं।

विद्या—जिससे ईश्वर से लेके पृथिवी पर्यन्त सब पदार्थों का सत्य विज्ञान यथावत् होकर उनसे यथायोग्य उपकार लेके अपने और दूसरे के लिये सब सुखों को सिद्ध कर सकें, वह **'विद्या'** कहाती है। (तु. आ. र. मा. १६; व्यव. भा.; स. प्र. ९ समु.)।

अविद्या—जो विद्या से विपरीत है, भ्रम, अन्धकार और अज्ञान है, और जिससे पदार्थों के स्वरूप को उलटा जानकर अपना और पराये का अनुपकार कर लेवें, वह **'अविद्या'** कहाती है। (आ. र. मा. १७; व्यव. भा.; स. प्र. ९ समु.)।

बन्ध—आवागमन अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में, जीव का अपने कर्मों के सुखदुःखात्मक फल भोगने के लिये पड़े रहना 'बन्ध' कहाता है। [सं० क०]। यह सनिमित्तिक अर्थात् अविद्या के निमित्त से होता। जो-जो पापकर्म, ईश्वर से भिन्न [कल्पित देवों' या जड़ पदार्थ] की उपासना और अज्ञानादि हैं, सब दुःखरूप फल के करने वाले हैं। इसीलिये यह **'बन्ध'** [अर्थात् बन्धन] है कि जिसकी इच्छा नहीं होती और भोगना पड़ता है (तु.। स्व. मं. प्र. ११)।

मोक्ष—अर्थात् मुक्ति। जिससे सब अशुभकर्मों और सर्वदुःखों अर्थात् जन्ममरणादि दुःख सागर से छूटकर सुखस्वरूप, बन्धनरहित सर्वव्यापक परमेश्वर को प्राप्त होके, उसके सुख ही में रहना और उसकी सृष्टि में स्वेच्छा-स्वतन्त्रता से विचरना, नियत समय पर्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोग के पुनः संसार में आना होता है, वह **'मुक्ति'** कहाती है (स्व० मं० प्र० १२ और आ० र० भा० २९ मिलाकर पढ़े)।

यजुर्वेद अ० ४०। मं० १४ में लिखा है कि—

विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ ही साथ जानता है, वह अविद्या[1] अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तरके विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है। (३६२)।

अविद्या का लक्षण[2]—योगद० सा० पा० ३ में निम्न प्रकार से दिया है—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥

जो अनित्य संसार और देहादि में नित्य, अर्थात् जो कार्य-जगत् देखा-सुना जाता है, सदा रहेगा, सदा से है, और योगबल से यही देवों का शरीर सदा रहता है, वैसी विपरीत बुद्धि होना अविद्या का प्रथम भाग है। अशुचि अर्थात् मलमय स्त्री आदि के शरीर और मिथ्याभाषण चोरी आदि अपवित्र में पवित्र-बुद्धि दूसरा। अत्यन्त विषय सेवन रूप दुःख में सुख-बुद्धि आदि तीसरा। अनात्मा में आत्म-बुद्धि करना अविद्या का चौथा भाग है। यह चार प्रकार का विपरीत ज्ञान '**अविद्या**' कहाती है।

इसके विपरीत अर्थात् अनित्य में अनित्य और नित्य में नित्य, अपवित्र में अपवित्र और पवित्र में पवित्र, दुःख में दुःख और सुख में सुख, अनात्मा में अनात्मा और आत्मा में आत्मा का ज्ञान होना '**विद्या**' है। अर्थात् '**वेत्ति यथावत् तत्त्वपदार्थस्वरूपं यया सा विद्या**'; '**यया तत्त्वस्वरूपं न जानाति भ्रमादन्यस्मिन्नन्यन्निश्चिनोति यया साऽविद्या**' अर्थात् जिससे पदार्थों का यथार्थस्वरूप बोध होवे, वह '**विद्या**' और जिससे तत्त्वस्वरूप न जान पड़े, अन्य में अन्य बुद्धि होवे, वह '**अविद्या**' कहाती है।

और कर्म और उपासना 'अविद्या' इसलिए है कि यह बाह्य और अन्तर क्रियाविशेष का नाम है; ज्ञानविशेष का नहीं। इसी से मन्त्र में कहा है कि

---

१. न विद्या='अविद्या'। नञ्पद से युक्त समास उत्तरपद का निषेध करता हुआ तत्सदृश अर्थ का बोधक होता है। '**नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः**' यह महाभाष्य (३।१।१२) का वचन इसमें प्रमाण है। '**अश्वमानय**' ऐसा भृत्य को आदेश देने पर भृत्य अश्वसदृश चतुष्पाद प्राणी को लाता है। विद्या और कर्म का शास्त्रों में सहभाव कहा है। इस कारण यहां अविद्या शब्द से विद्या अर्थात् '**ज्ञान**' से भिन्न तत्सदृश '**कर्म**' का ग्रहण होता है।

२. यह प्रसंगप्राप्त अविद्या—'**नास्ति विद्या यथार्थज्ञानं यस्या सा**' जिसमें यथार्थ ज्ञान नहीं है, उस विपरीत या मिथ्या ज्ञान का लक्षण दिया है। यह विपरीत या मिथ्या ज्ञान बन्ध का कारण होता है।

विना 'अविद्या' अर्थात् शुद्ध कर्म और परमेश्वर की उपासना के मृत्यु-दुःख से पार कोई नहीं होता। और विद्या अर्थात् शुद्ध ज्ञान के विना अमृत-परमेश्वर के अक्षय सुख को कोई प्राप्त नहीं कर सकता। अर्थात् पवित्र कर्म पवित्रोपासना और ज्ञान ही से मुक्ति, और अपवित्र मिथ्याभाषणादि कर्म पाषाणमूर्त्यादि की उपासना और मिथ्याज्ञान से बन्ध होता है। (३६३) कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी 'अविद्या' कर्म उपासना और 'विद्या' =ज्ञान से रहित नहीं होता। इसलिये धर्मयुक्त सत्यभाषणादि कर्म करना और मिथ्या भाषाणादि अधर्म को छोड़ देना ही मुक्ति का साधन है।

प्रश्न—मुक्ति किसको प्राप्त नहीं होती ?

उत्तर—जो वद्ध है।

प्रश्न—वद्ध कौन है ?

उत्तर—जो अधर्म अज्ञान में फंसा हुआ जीव है।

प्रश्न—वन्ध और मोक्ष स्वभाव से होता है, वा निमित्त से ?

उत्तर—निमित्त से। क्योंकि जो स्वभाव से होता, तो बन्ध और मुक्ति की निवृत्ति कभी नहीं होती।

प्रश्न—न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्तिरित्येषा परमार्थता॥

माण्डूक्योपनिषद् गौड़पादकारिका।२।३२॥

जीव ब्रह्म होने से वस्तुतः जीव का निरोध अर्थात् न कभी आवरण में आया, न जन्म लेता, न वद्ध है, और न साधक अर्थात् न कुछ साधना करनेहारा है, न छूटने की इच्छा करता, और न इसकी कभी मुक्ति है। क्योंकि जब परमार्थ से वन्ध ही नहीं हुआ, तो मुक्ति क्या ? (३६४)

उत्तर—यह नवीन वेदान्तियों का कहना सत्य नहीं। क्योंकि जीव का स्वरूप अल्प[1] होने से वह आवरण में आता, शरीर के साथ प्रकट होने रूप जन्म लेता, पापरूप कर्मों के फल भोगरूप बन्धन में फंसता, उसके छुड़ाने का साधन करता, दुःख से छूटने की इच्छा करता, और दुःखों से छूटकर परमानन्द परमेश्वर को प्राप्त होकर मुक्ति को भी भोगता है।

प्रश्न—ये सब धर्म देह और अन्तःकरण के हैं, जीव के नहीं। क्योंकि जीव तो पाप पुण्य से रहित साक्षी-मात्र है। शीतोष्णादि शरीरादि के धर्म हैं, आत्मा निर्लेप है।

---

१. जीव ज्ञान, सामर्थ्य तथा परिणाम आदि की दृष्टि से परमात्मा की अपेक्षा अल्प है।

उत्तर—देह और अन्तःकरण जड़ हैं। उनको शीतोष्ण प्राप्ति और भोग नहीं है। जो चेतन मनुष्यादि प्राणी उसका स्पर्श करता है[1] उसी को शीत-उष्ण का भान और भोग होता है। वैसे प्राण भी जड़ हैं, न उसको भूख, न पिपासा होती है। किन्तु प्राणवाले जीव को क्षुधा-तृषा लगती है। वैसे ही मन भी जड़ है, न उसको हर्ष, न शोक हो सकता हैं। किन्तु मन से हर्ष-शोक, दुःख-सुख का भोग जीव करता है। जैसे वहिष्करण श्रोत्रादि इन्द्रियों से अच्छे-बुरे शब्दादि-विषयों का ग्रहण करके जीव सुखी-दुःखी होता है, वैसे ही अन्तःकरण अर्थात् मन-बुद्धि-चित्त अहंकार से क्रमशः संकल्प-विकल्प, निश्चय, स्मरण और अभिमान का करने वाला दण्ड और मान्य का भागी होता है। जैसे तलवार से मारने वाला दण्डनीय होता है, तलवार नहीं। वैसे ही देहेन्द्रिय अन्तःकरण और प्राण रूप साधनों से अच्छे-बुरे कर्मों का कर्त्ता जीव सुख-दुःख का भोक्ता है। जीव कर्मों का साक्षी नहीं, किन्तु कर्त्ता-भोक्ता है (३६५)। कर्मों का साक्षी तो एक अद्वितीय परमात्मा है। जो कर्म करने वाला जीव है, वही कर्मों में लिप्त होता है; वह ईश्वर के समान साक्षी नहीं।

प्रश्न—जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। जैसे दर्पण के टूटने-फूटने से विम्ब की कुछ हानि नहीं होती, इसी प्रकार अन्तःकरण में ब्रह्म का प्रति-विम्ब रूप जीव, तब तक है, जब तक वह अन्तःकारणोपाधि है। जव अन्तः-करण नष्ट हो गया, तव जीव मुक्त है।

उत्तर—यह बालकपन की बात है। क्योंकि प्रतिबिम्ब साकार का साकार में होता है। जैसे मुख और दर्पण आकार वाले हैं, और दोनों पृथक्-पृथक भी हैं। जो पृथक् न हों, तो प्रतिविम्ब भी नहीं हो सकता। ब्रह्म निराकार सर्वव्यापक होने से उसका प्रतिबिम्ब ही नहीं हो सकता।

प्रश्न—देखो, गम्भीर स्वच्छ जल में निराकार और व्यापक आकाश का आभास पड़ता है। इसी प्रकार स्वच्छ अन्तःकरण में परमात्मा का आभास है। इसलिए इसको 'चिदाभास' कहते हैं।

उत्तर—यह वालबुद्धि का मिथ्या प्रलाप है। क्योंकि आकाश दृश्य नहीं, तो उसको आंख से कोई भी क्योंकर देख सकता है?

---

१. उस शरीर का स्पर्श करता अर्थात् उसमें युक्त होता है, तभी उस शरीर को…।

प्रश्न—यह जो ऊपर को मिला अर्थात् एक सा नीला और धूंधलापन दीखता है, वह क्या है ? वह आकाश नीला दीखता है वा नहीं ?

उत्तर—अलग-अलग पृथिवी जल और अग्नि के त्रसरेणु दीखते हैं। उसमें जो नीलता दीखती है, वह अधिक जल, जो कि वर्षता है, सो वही नील है। जो धुंधलापन दीखता है, वह पृथिवी से धूली उड़कर वायु में घूमती है, वह दीखती है। और उसी का प्रतिविम्ब जल वा दर्पण में दीखता है, आकाश का कभी नहीं (३६६)।

प्रश्न—जैसे घटाकाश, मठाकाश, मेघाकाश और महदाकाश के भेद व्यवहार में होते हैं; वैसे ही ब्रह्म के, ब्रह्माण्ड और अन्तःकरण उपाधि के भेद से ईश्वर और जीव नाम होते हैं। जब घटादि नष्ट हो जाते हैं, तब महदाकाश ही कहाता है।

उत्तर—यह भी बात अविद्वानों की है। क्योंकि आकाश कभी छिन्न-भिन्न नहीं होता। व्यवहार में भी 'घड़ा लाओ' इत्यादि व्यवहार होते हैं। कोई नहीं कहता कि 'घड़े का आकाश' लाओ।

प्रश्न—जैसे समुद्र के वीच में मच्छी कीड़े, और आकाश के वीच में पक्षी आदि घूमते हैं, वैसे ही चिदाकाश ब्रह्म में सब अन्तःकरण घूमते हैं। वे तो स्वयं जड़ हैं, परन्तु सर्वव्यापक परमात्मा की सत्ता से जैसा कि अग्नि से लोहा उष्ण होता है, वैसे चेतन हो रहे हैं। जैसे वे मच्छी कीड़े और अन्तःकरण चलते-फिरते हैं और आकाश तथा ब्रह्म निश्चल है, वैसे जीव को ब्रह्म मानने में कोई दोष नहीं आता।

उत्तर—यह भी तुम्हारा दृष्टांत सत्य नहीं। क्योंकि जो सर्वव्यापी ब्रह्म अन्तःकरणों में प्रकाशमान होकर जीव होता है, तो सर्वज्ञादि गुण होते हैं वा नहीं ? जो कहो कि आवरण होने से सर्वज्ञता नहीं होती, तो कहो कि ब्रह्म आवृत्त और खण्डित है वा अखण्डित ? जो कहो कि अखण्डित है, तो वीच में कोई भी परदा नहीं डाल सकता। जब पड़दा नहीं, तो सर्वज्ञता क्यों नहीं ? जो कहो कि अपने स्वरूप को भूलकर अन्तःकरण के साथ चलता सा है, स्वरूप से नहीं। जब स्वयं नहीं चलता, तो अन्तःकरण जितना-जितना पूर्व प्राप्त देश छोड़ता और आगे-आगे जहां-जहां सरकता जाएगा, वहां-वहां का ब्रह्म भ्रांत अज्ञानी हो जाएगा। और जितना-जितना छूटता जायगा, वहां-वहां का ब्रह्म ज्ञानी पवित्र और मुक्त होता जायगा। इसी प्रकार सर्वत्र सृष्टि के ब्रह्म को अन्तःकरण विगाड़ा करेंगे,

और बन्ध-मुक्ति भी क्षण-क्षण से हुआ करेगी। तुम्हारे कहे प्रमाणे जो वैसा होता, तो किसी जीव को पूर्व देखे सुने का स्मरण भी नहीं होता। क्योंकि जिस ब्रह्म ने देखा, वह नहीं रहा। इसलिए ब्रह्म जीव, जीव ब्रह्म एक कभी नहीं होता, सदा पृथक्-पृथक् हैं (३६७)।

प्रश्न—यह सब अध्यारोपमात्र है। अर्थात् अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का स्थापन करना, '**अध्यारोप**' कहाता है। वैसे ही ब्रह्म वस्तु में सब जगत् और इसके व्यवहार का अध्यारोप करने से, जिज्ञासु को वोध कराना होता है; वास्तव में सब ब्रह्म ही है।

प्रश्न[1]—अध्यारोप का करनेवाला कौन है?

उत्तर—जीव।

प्रश्न—जीव किसको कहते हो?

उत्तर—अन्तःकरणावच्छिन्न अर्थात् अन्तःकरण से आवृत्त चेतन को।

प्रश्न—अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन दूसरा है, वा वही ब्रह्म?

उत्तर—वही ब्रह्म है।

प्रश्न—तो क्या ब्रह्म ही ने अपने में जगत् की झूठी कल्पना करली?

उत्तर—हो, ब्रह्म की इससे क्या हानि?

प्रश्न - जो मिथ्या कल्पना करता है, क्या वह झूठा नहीं होता?

उत्तर—नहीं। क्योंकि जो मन वाणी से कल्पित वा कथित है, वह सब झूठा है।

प्रश्न=फिर मन वाणी से झूठी कल्पना करने और मिथ्या वोलने वाला ब्रह्म कल्पित और मिथ्यावादी हुआ वा नहीं?

उत्तर—हो, हमको इष्टापत्ति है अर्थात् स्वीकार है।

वाह रे वेदान्तियो! तुमने सत्यस्वरूप, सत्यकाम, सत्यसंकल्प परमात्मा को मिथ्याचारी कर दिया। किस उपनिषद् सूत्र वा वेद में लिखा है कि परमेश्वर मिथ्यासंकल्प और मिथ्यावादी है? (३६८)। जो ब्रह्म मिथ्याज्ञानी मिथ्यावादी मिथ्याकारी होवे, तो सब अनन्त ब्रह्म वैसा ही हो जाय। क्योंकि वह एकरस है; सत्यस्वरूप सत्यमानी सत्यवादी और

---

१. यहां से आगे ६ प्रश्न उत्तरपक्ष के, और उत्तर नवीन वेदान्ती के हैं।

सत्यकारी है। ये सब दोष तुम्हारे हैं, ब्रह्म के नहीं। जिसको तुम विद्या कहते हो, वस्तुतः वह अविद्या है। और तुम्हारा अध्यारोप भी मिथ्या है। क्योंकि आप ब्रह्म न होकर अपने को ब्रह्म समझना और ब्रह्म को जीव मानना यह मिथ्याज्ञान नहीं तो क्या है? जो तत्त्व सर्वव्यापक है, वह परिच्छिन्न अज्ञान और बन्ध में कभी नहीं गिरता। क्योंकि अज्ञान परिच्छिन्न एकदेशी अल्प अल्पज्ञ जीव में होता है, सर्वज्ञ सर्वव्यापी ब्रह्म में नहीं।

अब मुक्ति-बन्ध का वर्णन करते हैं—

प्रश्न—मुक्ति किसको कहते हैं?

उत्तर—**'मुञ्चन्ति पृथग्भवन्ति जना यस्यां सा मुक्तिः'** जिसमें छूट जाना हो, उसका नाम **'मुक्ति'** है।

प्रश्न—किससे छूटने की इच्छा सब जीव करते हैं?

उत्तर—दुःख से।

प्रश्न—छूटकर किसको प्राप्त होते, और कहां रहते हैं?

उत्तर—सुख को प्राप्त होते, और ब्रह्म में रहते हैं।

प्रश्न—मुक्ति और बन्ध किन-किन बातों में होता है (३६६)?

उत्तर—परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म-अविद्या-कुसङ्ग-कुसंस्कार बुरे व्यसनों से अलग रहने, और सत्यभाषण परोपकार विद्या पक्षपातरहित न्याय-धर्म की वृद्धि करने, पूर्वोक्त प्रकार से परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढ़ने-पढ़ाने, और धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनों को करने, और जो कुछ करे, वह सब पक्षपातरहित न्यायधर्मानुसार ही करे, इत्यादि साधनों से **मुक्ति**, और इनसे विपरीत ईश्वराज्ञा भङ्ग करने आदि से **बन्ध** होता है।

प्रश्न—मुक्ति में जीव का ब्रह्म में लय होता है, वा स्वयं विद्यमान रहता है?

उत्तर—ब्रह्म में लय नहीं होता, किन्तु ब्रह्म में ही विद्यमान रहता है।

प्रश्न—ब्रह्म कहां है? और वह मुक्त जीव एक ठिकाने रहता है, वा स्वेच्छाचारी होकर सर्वत्र विचरता है?

उत्तर—जो ब्रह्म सर्वत्र पूर्ण है, उसी में मुक्त जीव अव्याहतगति

अर्थात् उसको कहीं रुकावट नहीं, विज्ञान आनन्द पूर्वक स्वतन्त्र विचरता है।

प्रश्न—मुक्त जीव का स्थूल शरीर होता है, वा नहीं ?

उत्तर—नहीं रहता।

प्रश्न—तो फिर वह जीव सुख और आनन्द-भोग कैसे करता है ?

उत्तर उसके सत्यसङ्कल्पादि स्वाभाविक गुण सामर्थ्य सब मुक्ति में रहते हैं, भौतिक सङ्ग नहीं रहता (३७०)।

शृण्वन् श्रोत्रं भवति, स्पर्शयन् त्वग्भवति, पश्यन् चक्षुर्भवति, रसयन् रसना भवति, जिघ्रन् घ्राणं भवति, मन्वानो मनो भवति, बोधयन् बुद्धिर्भवति, चेतयँश्चित्तम्भवत्यहङ्कुर्वाणोऽहङ्कारो भवति।

शतपथ कां० १४।।

मोक्ष में भौतिक शरीर वा इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते; किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। जब सुनना चाहता है, तब श्रोत्र; स्पर्श करना चाहता है, तब त्वचा; देखने के संकल्प से चक्षु; स्वाद के अर्थ रसना; गन्ध के लिए घ्राण; संकल्प-विकल्प करते समय मन; निश्चय करने के लिए बुद्धि; स्मरण करने के लिये चित्त, और अहंकार के अर्थ अहंकाररूप, अपनी स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्ति में हो जाता है। और संकल्पमात्र शरीर होता है। जैसे शरीर के आधार रहकर संसार में इन्द्रियों के गोलक के द्वारा जीव स्वकार्य करता है, वैसे अपनी शक्ति से मुक्ति में सब आनन्द भोग लेता है।

प्रश्न—उसकी शक्ति कै प्रकार की है और कितनी है ?

उत्तर—मुख्य एक प्रकार की शक्ति है। परन्तु बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भीषण=भय, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन, और गन्धग्रहण तथा ज्ञान इन चौबीस प्रकार के सामर्थ्य-से युक्त जीव है। इससे मुक्ति में भी आनन्द की प्राप्ति भोग करता है।

जो मुक्ति में जीव का लय होता, तो मुक्ति का सुख कौन भोगता ? और जो जीव के नाश ही को मुक्ति समझते हैं, वे तो महामूढ़ हैं। क्योंकि मुक्ति यह है कि दुःखों से छूटकर आनन्दस्वरूप सर्वव्यापक अनन्त परमेश्वर में जीव का आनन्द में रहना (३७२)।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥

कठो० २।३।१०॥

जब शुद्ध-मनयुक्त पांच ज्ञानेन्द्रिय जीव के साथ रहती हैं, और बुद्धि का निश्चय स्थिर होता है, उसको परमगति अर्थात् **'मोक्ष'** कहते हैं (३७३)।[1]

स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते। य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषाँ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ॥१॥ छान्दो· ८।१२।६॥

मघवन् मर्त्यं वा इदँ शरीरमात्तं मृत्युना तदस्याऽमृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥२॥

छन्दो० उप० ८।१२।१॥

सो यह मुक्ति को प्राप्त जीव शुद्ध दिव्यनेत्र और शुद्ध मन से कामों-इष्टों को देखता, प्राप्त होता हुआ रमण करता है। जो ये ब्रह्म लोक अर्थात् दर्शनीय परमात्मा में स्थित होके मोक्षसुख को भोगते हैं, और इसी परमात्मा का जो कि सबका अन्तर्यामी आत्मा है, उसकी उपासना मुक्ति की प्राप्ति करनेवाले विद्वान् लोग करते हैं, उससे उनको सब लोक और सब काम प्राप्त होते हैं। अर्थात् जो-जो संकल्प करते हैं, उनको वह-वह लोक और वह-वह काम प्राप्त होता है। और वे मुक्त जीव स्थूल शरीर छोड़कर संकल्पमय शरीर से आकाश में परमेश्वर में स्वतन्त्रता से विचरते हैं। क्योंकि जो शरीरवाले होते हैं, वे सांसारिक दुःख से रहित नहीं हो सकते ॥१॥

हे परमपूजित धनयुक्त पुरुष! यह स्थूल शरीर मरणधर्मा है। और जैसे सिंह के मुख में बकरी होवे, वैसे यह शरीर मृत्यु के मुख के बीच में है। सो यह शरीर इस मरण रहित और शरीर रहित जीवात्मा का

---

१. यह जीवनमुक्त की अवस्था है, विदेह-मुक्ति इस से उत्तर अवस्था है। विदेह-मुक्ति में उक्त अवस्था साधनरूप है। साध्य-साधन में अभेदोपचार से यहाँ इसे ही मोक्ष कहा है।

निवासस्थान है। इसीलिए यह जीव सुख और दुःख से सदा ग्रस्त रहता है। क्योंकि शरीर सहित जीव को सांसारिक प्रसन्नता की निवृत्ति ही होती है[1]? और जो शरीररहित मुक्त जीवात्मा ब्रह्म में रहता है, उसको सांसारिक सुख-दुःख का स्पर्श भी नहीं होता; किन्तु वह सदा आनन्द में रहता है ॥२॥

प्रश्न—जीव मुक्ति को प्राप्त होकर पुनः जन्म-मरणरूप दुःख में कभी आते हैं, वा नहीं? क्योंकि—

न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तत इति ॥ छा० ८।१५।१।

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥ वे० शारीरक सूत्र ४।४।२२।

यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मतम ॥ गीता १५।६ ॥

इत्यादि वचनों से विदित होता है कि मुक्ति वही है कि जिससे निवृत्त होकर पुनः संसार में मुक्त जीव कभी नहीं आता (३७४)।

उत्तर—यह बात ठीक नहीं। क्योंकि वेद में और अन्य सत्य शास्त्रों ने इस बात का निषेध किया है—

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ॥१॥
अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ॥२॥

ऋ० मं० १। सू० २४। मं० १-२

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः ॥ ३ ॥ सांख्य सू० १।१६०॥

प्रश्न—हम लोग किसका नाम पवित्र जानें? कौन नाशरहित पदार्थों के मध्य में वर्त्तमान देव सदा प्रकाशस्वरूप है? कौन हमको मुक्ति का सुख भुगाकर पुनः इस संसार में जन्म देता और माता तथा पिता का दर्शन कराता है? ॥१॥

उत्तर—हम इस स्वप्रकाशस्वरूप अनादि सदामुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जानें, जो हमको मुक्ति में आनन्द भुगाकर पृथिवी में पुनः इस माता-पिता के सम्बन्ध में जन्म देकर माता-पिता का दर्शन कराता है। वही परमात्मा मुक्ति की व्यवस्था करता तथा सबका स्वामी है? ॥२॥

---

१. अर्थात् सदा प्रसन्न नहीं होता।

जैसे इस समय बन्ध युक्त और मुक्त-जीव हैं; वैसे ही सर्वदा रहते हैं। अत्यन्त विच्छेद बन्ध और मुक्ति का कभी नहीं होता। अर्थात् बन्ध और मुक्ति सदा नहीं रहती ।।३।।

प्रश्न—तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ।।१।। न्या. द. १।१।२२।।

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ।। २ न्याय सू० ।१।१।२।।

जो दुःख का अत्यन्त विच्छेद होना होता है, वही 'मुक्ति' कहाती है ।।१।। क्योंकि जब मिथ्याज्ञान अविद्या, लोभादि दोष, विषय, दुष्ट व्यसनों में प्रवृत्ति, जन्म और दुःख का उत्तर-उत्तर के छूटने से पूर्व-पूर्व के निवृत्त होने ही से मोक्ष होता है, जो कि सदा बना रहता ।।२।।

उत्तर—यह आवश्यक नहीं है कि अत्यन्त शब्द अत्यन्ताभाव ही का नाम होवे। जैसे '**अत्यन्त दुःखमत्यन्तं सुखं चास्य वर्त्तते**' बहुत दुःख और बहुत सुख इस मनुष्य को है। इससे यही विदित होता है कि इसको बहुत सुख वा दुःख है, अक्षयसुख या नित्यदुःख नहीं। इसी प्रकार यहां भी अत्यन्त शब्द का अर्थ जानना चाहिए।

प्रश्न—जो मुक्ति से भी जीव फिर आता है, तो वह कितने समय तक मुक्ति में रहता है (३७६)?

उत्तर—ते ब्रह्मलोके ह परान्तकाले परामृतात्[1] परिमुच्यन्ति सर्वे ।। मुण्डक उप. ३।२।६।

वे मुक्त जीव मुक्ति में प्राप्त होके, ब्रह्म में आनन्द को तब तक भोग के पुनः महाकल्प के पश्चात् मुक्ति-सुख को छोड़ के संसार में आते हैं। इसकी संख्या यह है कि तैंतालीस लाख बीस सहस्र वर्षों की एक चतुर्युगी दो सहस्र चतुर्युगियों का एक अहोरात्र, ऐसे तीस अहोरात्रों का एक महीना, ऐसे बारह महिनों का एक वर्ष ऐसे शत वर्षों का परान्तकाल होता है। इसको गणित की रीति से यथावत् समझ लीजिये[2]। इतना समय मुक्ति में सुख भोगने का है।

प्रश्न—सब संसार और ग्रन्थकारों का यही मत है कि जिससे पुनः जन्म-मरण में कभी न आयें, वही मुक्ति है।

---

१. 'परामृतात्' पाठ पर पूर्व पृष्ठ टि० द्रष्टव्य है। कैवल्योप० १।१ में भी यही पाठ है।

२. यह काल ३१ नील, १० खरब, ४० अरब वर्ष होता है।

उत्तर—यह बात कभी नहीं हो सकती। क्योंकि प्रथम तो जीव का सामर्थ्य, शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित हैं; पुनः उसका फल अनन्त कैसे हो सकता है दूसरे, अनन्त आनन्द को भोगने का असीम सामर्थ्य, कर्म और साधन जीवों में नहीं। इसलिए अनन्त सुख नहीं भोग सकते। जिनके साधन अनित्य हैं, उनका फल नित्य कभी नहीं हो सकता। और जो मुक्ति में से कोई भी लौटकर जीव इस संसार में न आये, तो संसार का उच्छेद अर्थात् जीव निश्शेष हो जाने चाहियें।

प्रश्न—जितने जीव मुक्त होते हैं, उतने ईश्वर नये उत्पन्न करके संसार में रख देता है। इसलिए निश्शेष नहीं होते।

उत्तर—जो ऐसा होवे, तो जीव अनित्य हो जायें। क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है, उनका नाश अवश्य होता है। फिर तुम्हारे मतानुसार मुक्ति पाकर भी विनष्ट हो जायें, तो मुक्ति अनित्य हो गई (३७७); और मुक्ति के स्थान में बहुत-सा भीड़-भड़क्का हो जायगा। क्योंकि वहां आगम अधिक और व्यय कुछ नहीं होने से बढ़ती का पारावार न रहेगा।

और दुःख के अनुभव के विना सुख कुछ भी नहीं हो सकता। जैसे कटु न हो तो मधुर क्या और जो मधुर न हो, तो कटु क्या कहावे? क्योंकि एक स्वाद के एक रस के विरुद्ध होने से दोनों की परीक्षा होती है। जैसे कोई मनुष्य मीठा-मधुर ही खाता-पीता जाय, उसको वैसा सुख नहीं होता, जैसा सब प्रकार के रसों के भोगने वाले को होता है।

और जो ईश्वर अन्तवाले कर्मों का अनन्त फल देवे, तो उसका न्याय नष्ट हो जाय। जो जितना भार उठा सके, उतना उस पर धरना बुद्धिमानों का काम है। जैसे एक मन भार उठाने वाले के शिर पर दश मन धरने से भार धरने वाले की निन्दा होती है, वैसे अल्पज्ञ अल्प सामर्थ्य वाले जीव पर अनन्त सुख का भार धरना ईश्वर के लिए ठीक नहीं।

और जो परमेश्वर नये जीव उत्पन्न करता है, तो जिस कारण [अर्थात् साधन सामग्री] से उत्पन्न होते हैं, वह चुक जाएगा। क्योंकि चाहे कितना ही बड़ा धनकोश हो; परन्तु जिसमें व्यय है और आय नहीं, उसका कभी न कभी दिवाला निकल ही जाता है। इसलिये यही व्यवस्था ठीक है कि जीव का मुक्ति में जाना, वहाँ से पुनः आना ही अच्छा है। क्या थोड़े से कारागार से जन्म-कारागार दण्डवाले प्राणी अथवा फाँसी को कोई अच्छा मानता है? जब वहां से आना ही न हो, तो जन्म-कारागार

से इतना ही अन्तर है कि वहाँ मजूरी नहीं करनी पड़ती। और जीव का ब्रह्म में लय होना तो समुद्र में डूब मरना सा है।

प्रश्न—जैसे परमेश्वर नित्यमुक्त पूर्ण सुखी है, वैसे ही जीव भी नित्यमुक्त और सुखी रहेगा। तब तो कोई भी दोष न आवेगा?

उत्तर—परमेश्वर अनन्त स्वरूप, सामर्थ्य, गुण-कर्म-स्वभाववाला रहता है; इसलिए वह कभी अविद्या और दुःख वन्धन में नहीं गिर सकता। जीव मुक्त होकर भी शुद्धस्वरूप अल्पज्ञ और परिमित गुण कर्म स्वभाव वाला होता है। इसीलिये वह परमेश्वर के सदृश कभी नहीं होता (३७८)।

प्रश्न—जब ऐसी है, तो मुक्ति भी जन्म-मरण के सदृश है। इसलिये मुक्ति के लिये श्रम करना व्यर्थ है।

उत्तर—मुक्ति जन्म-मरण की अल्प अवधि के सदृश नहीं। क्योंकि जब तक ३६,००० (छत्तीस सहस्र) बार उत्पत्ति और प्रलय का जितना समय होता है, उतने समय पर्य्यन्त जीवों को मुक्ति के आनन्द में रहना, दुःख का न होना, क्या छोटी बात है? जब आज खाते-पीते, हो, कल भूख लगने वाली है, पुनः इसका उपाय क्यों करते हो? जब क्षुधा-तृषा, क्षुद्र धन, राज्य-प्रतिष्ठा, स्त्री, सन्तान आदि के लिये उपाय करना आवश्यक है, तो मुक्ति के लिये क्यों न करना? जैसे मरना अवश्य है, तो भी जीवन का उपाय किया जाता है; वैसे ही मुक्ति से लौटकर जन्म में आना है। तथापि उसका करना अत्यावश्यक।

मुक्ति—मुक्ति के क्या साधन हैं?

उत्तर—कुछ साधन तो प्रथम लिख आये हैं। परन्तु विशेष उपाय ये हैं—जो मुक्ति चाहे, वह जीवनमुक्त अर्थात् जिन मिथ्याभाषणादि पाप-कर्मों का फल दुःख है, उनको छोड़ सुखरूप फल को देनेवाले सत्यभाषणादि धर्माचरण अवश्य करे। जो कोई दुःख को छुड़ाना और सुख को प्राप्त होना चाहे, वह अधर्म को छोड़ धर्म अवश्य करे। क्योंकि दुःख-प्राप्ति=दुर्गति का पापाचरण और सुख-प्राप्ति=सुगति का धर्माचरण मूल कारण है।

सत्पुरुषों के संग से विवेक अर्थात् सत्यासत्य धर्माऽधर्म कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य का निश्चय अवश्य करे, अर्थात् इन्हें पृथक्-पृथक् जाने। और शरीर अर्थात् जीव **पञ्च कोशों** का विवेचन करे—

पञ्चकोष :–

एक—**'अन्नमय'** जो त्वचा से लेकर अस्थिपर्यन्त का समुदाय पृथिवीमय है।

दूसरा—**'प्राणमय'** जिसमें 'प्राण' अर्थात् जो भीतर से बाहर जाता,[1] 'अपान' जो बाहर से भीतर आता[1], 'समान' जो नाभिस्थ होकर सर्वत्र शरीर में रस पहुंचाता, 'उदान' जिससे कण्ठस्थ अन्न-पान खैंचा जाता, और बल पराक्रम होता है (३७९), 'व्यान' जिससे सब शरीर में चेष्टा आदि कर्म जीव करता है।

तीसरा–**'मनोमय'** जिसमें मन के साथ अहङ्कार, वाक्, पाद, पाणि, पायु और उपस्थ पाँच कर्म इन्द्रियां हैं।

चौथा—**'विज्ञानमय'** जिसमें बुद्धि, चित्त, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका ये पाँच ज्ञान इन्द्रियां हैं, जिनसे जीव ज्ञानादि व्यवहार करता है।

पांचवां—**'आनन्दमयकोश'** जिसमें प्रीति प्रसन्नता, न्यून आनन्द, अधिक आनन्द और आनन्द का आधार कारणरूप प्रकृति है। ये **'पांच कोश'** कहाते हैं। इन्हीं से जीव सब प्रकार के [अविद्या अर्थात्] कर्म उपासना और [विद्या अर्थात्] ज्ञानादि व्यवहारों को करता है।

अवस्था त्रय :–

तीन अवस्था। एक–**'जागृत'** दूसरी–**'स्वप्न'** और तीसरी—**'सुषुप्ति'** अवस्था कहाती है।

शरीर-त्रय—

तीन शरीर हैं। एक—**'स्थूल'** जो यह दीखता है। दूसरा—पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच सूक्ष्मभूत और मन तथा बुद्धि इन सत्रह तत्त्वों का समुदाय **'सूक्ष्मशरीर'** कहाता है। यह सूक्ष्मशरीर जन्म-मरणादि में भी जीव के साथ रहता है। इसके दो भेद हैं—एक भौतिक, अर्थात् जो सूक्ष्म भूतों के अंशों से बना है। दूसरा स्वभाविक, जो जीव के स्वाभाविक गुणरूप हैं। यह दूसरा अभौतिक शरीर मुक्ति में भी रहता है। इसी से जीव मुक्ति में सुख को भोगता है। तीसरा—**'कारण'** जिसमें सुषुप्ति अर्थात्

१. प्राण अपान के इन लक्षणों के लिए देखो ऋषि दया. कृत स. प्र.।

गाढ़निद्रा होती है। वह प्रकृतिरूप होने से सर्वत्र विभु और सब जीवों के लिए एक है।

चौथा—'**तुरीय**' शरीर वह कहाता है, जिसमें समाधि से परमात्मा के आनन्दस्वरूप में मग्न जीव होते हैं। इसी समाधि-संस्कारजन्य शुद्ध शरीर का पराक्रम मुक्ति में भी यथावत् सहायक रहता है।

इन सब कोशों, अवस्थाओं और शरीरों से जीव पृथक् है। क्योंकि जब मृत्यु होता है, तब सब कोई कहते हैं कि जीव निकल गया (३८०)। यही जीव सबका प्रेरक, सबका धर्त्ता, दैहिक-क्रियाओं व तीन अवस्थाओं का साक्षी, कर्त्ता-भोक्ता कहाता है। जो ऐसा कहे कि जीव कर्त्ता-भोक्ता नहीं, तो उसको जानो की वह अज्ञानी अविवेकी है। क्योंकि बिना जीव के जो ये सब जड़ पदार्थ हैं, इनको सुख-दुख का भोग वा पाप-पुण्य-कर्तृत्व कभी नहीं हो सकता। हां; इनके सम्बन्ध से जीव पाप-पुण्यों का कर्त्ता और सुख-दुःखों का भोक्ता है।

जब इन्द्रियां अर्थों में, मन इन्द्रियों में और आत्मा मन के साथ संयुक्त होकर प्राणों को प्रेरणा करके अच्छे वा बुरे कर्मों में लगाता है, तभी वह बहिर्मुख हो जाता है। उसी समय भीतर से आनन्द उत्साह निर्भयता और बुरे कर्मों में भय शङ्का लज्जा उत्पन्न होती है; वह अन्तर्यामी परमात्मा की शिक्षा है। जो कोई उस शिक्षा के अनुकूल वर्त्तता है, वही मुक्तिजन्य सुखों को प्राप्त होता है। और जो विपरीत वर्त्तता है, वह बन्धजन्य दुःख भोगता है।

साधन-चतुष्टय—

प्रथम साधन—'**विवेक**' अर्थात् जो पृथिवी से लेकर परमेश्वर-पर्यन्त पदार्थों के गुण-कर्म-स्वभाव से जानकर उसकी आज्ञा-पालन और उपासन में तत्पर होना, उससे विरुद्ध न चलना, सृष्टि से उपकार लेना '**विवेक**' कहाता है (३८१)।

दूसरा साधन—'**वैराग्य**' अर्थात् जो विवेक से सत्यासत्य को जाना हो, उसमें से सत्याचरण का ग्रहण और असत्याचरण का त्याग करना 'वैराग्य' है।

तीसरा साधन-'**षट्क-सम्पत्ति**' अर्थात् छः प्रकार के कर्मकरना। एक '**शम**' जिससे अपने आत्मा और अन्तः करण को अधर्माचरण से हटाकर धर्माचरणमें सदा प्रवृत्त रखना। दूसरा—'**दम**' जिससे श्रोत्रादि इन्द्रियों और

शरीर को व्यभिचारादि बुरे कर्मों से हठाकर जितेन्द्रियत्वादि शुभ कर्मों में प्रवृत्त रखना। तीसरा–'**उपरति**' जिससे दुष्ट कर्म करनेवाले पुरुषों से सदा रहना। चौथा-'**तितिक्षा**' चाहे निन्दा-स्तुति, हानि-लाभ कितना ही दूर क्यों न हो, परन्तु हर्ष-शोकको छोड़ मुक्तिसाधनों में सदा लगे रहना। पांचवां '**श्रद्धा**' जो वेदादिसत्यशास्त्र और इनके बोध से पूर्ण आप्त विद्वान् सत्योपदेष्टा महाशयों के वचनों पर विश्वास करना। छःठा—'**समाधान**' चित्त की एकाग्रता। ये छ. मिलकर 'तीसरा साधन' कहाता है।

चौथा साधन—'**मुमुक्षुत्व**' अर्थात् जैसे क्षुधा ग्रस्त तथा तृषातुर को सिवाय अन्न-जल के दूसरा कुछ भी अच्छा नहीं लगता; वैसे मुक्ति के साधने में तीव्र इच्छा और मुक्ति के बाधक दूसरे विषयों में प्रीति न होना।

ये मुक्ति के चार साधन, और आगे लिखे चार ही अनुवन्ध अर्थात् इन साधनों के पश्चात् करने योग्य कर्म होते हैं—

अनुबन्ध-चतुष्टय—

प्रथम—'**अधिकारी**' इनमें से जो इन चार साधनों से युक्त पुरुष होता है, वही मोक्ष का 'अधिकारी' होता है।

दूसरा—'**सम्बन्ध**' अर्थात् ब्रह्म की प्राप्तिरूप मुक्ति प्रतिपाद्य और वेदादिशास्त्र प्रतिपादक इन दोनों को यथावत् समझकर अन्वित करना।

तीसरा—'**विषयी**' सब शास्त्रों का प्रतिपादन विषय ब्रह्म, उसकी प्राप्तिरूप विषयवाले पुरुष का नाम 'विषयी' है।

चौथा—'**प्रयोजन**' सब दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द को प्राप्त होकर; मुक्ति सुख का होना, ये 'चार अनुवन्ध' कहाते हैं (३८२)।

श्रवण-चतुष्टय—

तदनन्तर 'श्रवणचतुष्टय'। एक ='**श्रवण**' जव कोई विद्वान् उपदेश करे, तव शान्त ध्यान देकर सुनना। विशेष ब्रह्मविद्या के सुनने में अत्यन्त ध्यान देना चाहिये कि यह सव विद्याओं में सूक्ष्म विद्या है। सुनकर—

दूसरा—'**मनन**' एकान्त देश में बैठ के सुने हुए का विचार करना। जिस वात में शङ्का हो पुनः पूछना। और सुनते समय वक्ता और श्रोता उचित समझें, तो पूछना और समाधान करना।

तीसरा—'**निदिध्यासन**' जब सुनने और मनन करने से मन निःसन्देह अर्थात् संशयरहित हो जाय, तब समाधिस्थ होकर उस बात को

देखना समझना कि वह जैसा सुना था, विचारा था, वैसा ही है वा नहीं, अर्थात् ध्यान-योग से देखना।

चौथा—'**साक्षात्कार**' अर्थात् जैसा पदार्थ का स्वरूप गुण और स्वभाव हो, वैसा याथातथ्य से जान लेना। यह सब '**श्रवणचतुष्टय**' कहाता है।

सदा **तमोगुण** अर्थात् क्रोध मलीनता आलस्य प्रमाद आदि, **रजोगुण** अर्थात् ईर्ष्या-द्वेष काम अभिमान विक्षेप आदि दोषों से अलग होके, **सत्त्व** अर्थात् शान्त-प्रकृति पवित्रता विद्या विचार आदि गुणों को धारण करे। (**मैत्री**) सुखी जनों में मित्रता, (**करुणा**) दुःखी जनों पर दया, (**मुदिता**) पुण्यात्माओं से हर्षित होना, (**उपेक्षा**) दुष्टात्माओं से न प्रीति और न वैर करना।

नित्यप्रति न्यून-से-न्यून दो घण्टा पर्यन्त मुमुक्षु पुरुष ध्यान अवश्य करे, जिससे भीतर के मन आदि पदार्थ साक्षात् हों।

देखो, क्योंकि हम चेतनस्वरूप हैं, इसी से ज्ञानस्वरूप और मन के साक्षी हैं। क्योंकि जब मन शान्त, चञ्चल, आनन्दित वा विषादयुक्त होता है, उसको यक्षावत् देखते हैं, वैसे ही इन्द्रियां प्राण आदि का ज्ञाता जीव, पूर्वदृष्ट का स्मरणकर्त्ता और हम स्वयं जीव एक काल में अनेक पदार्थों के वेत्ता धारणाकर्षणकर्त्ता और मन प्राण इन्द्रियों आदि से पृथक् हैं। जो इनसे पृथक् न होते, तो हम चेतन स्वरूप स्वतन्त्रकर्त्ता और इन मन प्राण इन्द्रियों के प्रेरक अधिष्ठाता कभी नहीं हो सकते (३८४)।

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ॥ योग २।३॥

इनमें से '**अविद्या**' का स्वरूप कह आये। पृथक् वर्त्तमान बुद्धि को आत्मा से भिन्न न समझना '**अस्मिता**', सुख में प्रीति '**राग**', दुःख में अप्रीति '**द्वेष**', और सब प्राणिमात्र को यह इच्छा सदा रहती है कि मैं सदा शरीरस्थ रहूं मरूं नहीं, मृत्यु-दुःख से त्रास '**अभिनिवेश**' कहाता है। इन '**पांच क्लेशों**' को, योगाभ्यास व विज्ञान से छुड़ाके ब्रह्म को प्राप्त होके मुक्ति के परमानन्द को भोगना चाहिये।

प्रश्न—जैसी मुक्ति आप मानते हैं, वैसी अन्य कोई नहीं मानता। देखो, **जैनी लोग** मोक्ष-शिला, शिवपुर में जाके चुपचाप बैठे रहना। **ईसाई**

---

१. द्र० मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणाम्...। योग दर्शन १।३२॥

चौथा आसमान, जिसमें विवाह लड़ाई बाजे-गाजे वस्त्रादि धारण से आनन्द भोगना। वैसे ही **मुसलमान** सातवें आसमान, **वाममार्गी** श्रीपुर, **शैव** कैलाश, **वैष्णव** वैकुण्ठ, और **गोकुलिए** गोसाईं (३८४) गोलोक आदि में जाके उत्तम स्त्री अन्न-पान वस्त्र स्थान आदि को प्राप्त होकर आनन्द में रहने को मुक्ति मानते हैं।

पौराणिक लोग **'सालोक्य'**[1] अर्थात् ईश्वर के लोक में निवास, **'सानुज्य'** अर्थात् छोटे भाई के सदृश ईश्वर के साथ रहना अथवा **'सारूप्य'** जैसी उपासनीय देव की आकृति है, वैसा बन जाना, **'सामीप्य'** अर्थात् सेवक के समान ईश्वर के समीप रहना और **सायुज्य** अर्थात् ईश्वर से संयुक्त हो जाना, ये चार प्रकार की मुक्ति मानते हैं। और **नवीन वेदान्ती** लोग ब्रह्म मेंलय होने को मोक्ष समझते हैं।

उत्तर—जैनी बारहवें, ईसाई तेरहवें, और चौदहवें प्रवाह में मुसलमानों की मुक्ति आदि का विषय विशेष कर लिखेंगे।

यहाँ दूसरों के मत का विचार जो वाममार्गी श्रीपुर में जाकर लक्ष्मी के सदृश स्त्रियां, मद्य-मांसादि खाना-पीना, रङ्गराग भोग करना मानते हैं, वह यहाँ उपलब्ध सांसारिक भोगों से कुछ विशेष नहीं। वैसे ही महादेव और विष्णु के सदृश आकृतिवाले पार्वती और लक्ष्मी के सदृश स्त्रीयुक्त होकर आनन्द भोगना, यहां के धनाढ्य राजाओं से अधिक इतना ही लिखते हैं कि वहां रोग न होंगे, और युवावस्था सदा रहेगी। यह उनकी बात मिथ्या है। क्योंकि जहां भोग, वहां रोग[1] अवश्य होते हैं, और जहां रोग, वहां वृद्धावस्था अवश्य होती है।

और पौराणिकों से पूछना चाहिए कि जैसी तुम्हारी चार प्रकार की मुक्ति है, वैसी तो कृमि-कीट-पतङ्ग-पश्वादिकों की भी स्वतः सिद्ध प्राप्त है। क्योंकि ये जितने लोक हैं, वे सब ईश्वर के हैं। इन्हीं में सब जीव रहते हैं। इसलिए इन सबको भी **'सालोक्य'** मुक्ति अनायास प्राप्त

---

१. यहां 'सालोक्य' आदि पांच का निर्देश है। आगे 'उत्तर' में सारूप्य का निर्देश नहीं है। इससे स्पष्ट है कि यहां पाठ में कुछ गड़बड़ी है। पौराणिक 'सारूप्य का निर्देश करते हैं, 'सानुज्य' का नहीं करते। चार प्रकार की मुक्तियों का वर्णन ऋषिदयानन्द ने **'वेदविरुद्धमतखण्डन'** में भी किया है। वहां सारूप्य से भिन्न चार का निर्देश है। द्र० शताब्दी सं० भाग २ पृष्ठ ७९४।

१. **'भोगे रोगभयम्' भर्तृहरिकृत नीतिशतक।**

है। **'सामीप्य'** ईश्वर सर्वत्र व्याप्त होने से सब उसके समीप हैं, इसलिए 'सामीप्य, मुक्ति भी स्वतः सिद्ध है। **'सानुज्य'** जीव ईश्वर से (३८५) सब प्रकार छोटा और चेतन होने से स्वतः बन्धुवत् है। इससे 'सानुज्य' मुक्ति भी विना प्रयत्न के सिद्ध है। और **सायुज्य** सब जीव सर्वव्यापक परमात्मा में व्याप्य होने से संयुक्त हैं। इससे भी 'सायुज्य' मुक्ति भी स्वतः सिद्ध है।

और जो अन्य साधारण नास्तिक लोग मरने से तत्त्वों में तत्त्व मिलकर परममुक्ति मानते हैं, वह तो कुत्ते गदहे आदि को भी प्राप्त है। ये मुक्तियां नहीं हैं; किन्तु एक प्रकार का बन्धन है। क्योंकि ये लोग शिवपुर, मोक्षशिला, चौथे आसमान, सातवें आसमान, श्रीपुर, कैलाश, वैकुण्ठ, गोलोक को एकदेश में स्थानविशेष मानते हैं। जो वे उन स्थानों से पृथक् हों, तो मुक्ति छूट जाय।

मुक्ति तो यही है कि जहां इच्छा हो, वहां विचरे; कहीं अटके नहीं। न भय, न शङ्का, न दुःख होता है। जो जन्म है, वह उत्पत्ति, और जो मृत्यु है, वह प्रलय कहा है। समय पर सब जन्म लेते हैं।

प्रश्न—क्या एक ही जन्म होता है?

उत्तर—नहीं; जन्म अनेक होते हैं अर्थात् मरने के पश्चात् फिर दूसरे जन्म होते हैं।

प्रश्न—जो अनेक जन्म हों, तो पूर्व जन्म और मृत्यु की बातों का स्मरण क्यों नहीं? सारा न सही, उसका कुछ हाल तो स्मरण रहना चाहिए?

उत्तर—जीव अल्पज्ञ है, त्रिकालदर्शी नहीं; इसलिये स्मरण नहीं रहता। और जिस मन से ज्ञान करता है, वह भी एक समय में दो ज्ञान नहीं कर सकता। भला पूर्व जन्म की बात तो दूर रहने दीजिये, इसी देह में जब गर्भ में जीव था, शरीर बना, पश्चात् जन्मा, पांचवें वर्ष से पूर्व तक जो-जो बातें हुई हैं, उनका स्मरण क्यों नहीं कर सकता? और जागृत वा स्वप्न में बहुत-सा व्यवहार प्रत्यक्ष में करके (३८६) जब सुषप्ति अर्थात् गाढ़निद्रा होती है, तब जागृत आदि व्यवहार का स्मरण क्यों नहीं कर सकता?

और तुमसे कोई पूछे कि बारह वर्ष के पूर्व तेरहवें वर्ष के पांचवें महीने के नवमें दिन दश बजे पर पहिली मिनट में तुमने क्या किया था?

तुम्हारा मुख हाथ कान नेत्र शरीर किस ओर किस प्रकार का था? और मन में क्या विचार था? तो तुमको कोई उत्तर न बनेगा। जब इसो शरीरमें ऐसा है, तो पूर्व जन्म की बातों में स्मरण में शंका करनी केवल बालपन की बात है।

दूसरे, और जो जीव को पूर्वजन्म के कर्मों का स्मरण नहीं होता है, इसी से जीव सुखी है। नहीं तो सब जन्मों के दुःखों को देख-देख दुःखित होकर मर जाता। और सब जन्मों के सुखों को वर्त्तमान जन्म के सुखों से तुलना कर व्यथित होता। जो कोई पूर्व और पीछे जन्म के वर्त्तमान को जानना चाहे, तो भी नहीं जान सकता। क्योंकि जीव का ज्ञान और स्वरूप, अल्प है। यह बात ईश्वर के जानने योग्य है, जीव के नहीं।

इसका तीसरा समाधान यह है कि जीव का ज्ञान दो प्रकार का होता है– एक स्वभाविक और दूसरा नैमित्तिक। स्वाभाविक ज्ञान नित्य रहता है और नैमित्तिक ज्ञान के न्यून अधिक तथा नष्ट [=विस्मृत] भी होने का प्रसंग आता रहता है। जैसे-अग्नि में 'दाह करना' स्वाभाविक धर्म है; अर्थात् यह गुण तो अग्नि के परमाणुओं में भी रहता है। यह उसका निजधर्म, उसे कभी भी नहीं छोड़ता। अग्नि में 'दाहकता' स्वाभाविक रूप से रहती है; परन्तु अग्नि के जल से संयोग के कारण जल में उष्णता दाहकता, यह जो धर्म उत्पन्न होता है, वह नैमित्तिक होता है; वियोग होने से उष्णता यह धर्म जल में नहीं रहता। इसी प्रकार "जब जीव को अहमस्मि='मैं हूं' अर्थात् अपने अस्तित्व=अस्मिता का जो ज्ञान होता है, यह स्वाभाविक ज्ञान है। परन्तु, इन्द्रियों से जो प्रत्यक्ष ज्ञान मन के माध्यम से होता है, वह आत्मा का नैमित्तिक ज्ञान है।

यह नैमित्तिक ज्ञान तीन कारणों से उत्पर्न्न होता है—देश, काल वस्तु। इन तीन का जैसा जैसा जितना जितना इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होता है, वैसे वैसे उतने-उतने संस्कार आत्मा पर होते हैं। और जब जैसे जैसे ये निमित्त निकल जाते हैं, तब वैसे वैसे इस नैमित्तिक ज्ञान का नाश होता है।

मृत्यु हो जाने पर पूर्वजन्म के 'देश काल और वस्तु अर्थात् शरीर से जीव का वियोग=सम्बन्ध छूट जाने से, उस पूर्वजन्म के समय का नैमि-

---

१. यह पुनर्जन्म का विषय ऋषि दया. कृत 'उपदेशमञ्जरी' से लिखा है, वहां अधिक विस्तार से होने के कारण।

त्तिक ज्ञान जीव को नहीं रहता; यही पूर्वजन्म के वृत्तान्तों के विस्मरण का कारण है।

दूसरे, ज्ञान का ऐसा स्वभाव है कि वह 'अयुगपत् क्रम' से होता है अर्थात् एक समय में एक ज्ञान आत्मा को स्फुरता है; आत्मा के बीच दो तीन ज्ञान एक दम नहीं स्फुरने लगते। वर्त्तमान जन्म में, 'मैं हूं' अर्थात् अपनी स्थिति का ज्ञान आत्मा को ठीक ठीक रहता है, और इन्द्रियादि साधनों से उपलब्ध नैमित्तिक ज्ञान भी बहुत कुछ रहता है।

परन्तु, वर्त्तमान जन्म में भी, बाल्यकाल से लेकर जितना ज्ञान जीव उपलब्ध करता है, वह भी सारा का सारा और वैसे का वैसा जीव को नहीं रहता। ऐशी दशा में 'देश काल और शरीर' बदल जाने के कारण आत्मा को पूर्व जन्म के ज्ञान का स्फुरण होना सम्भव ही नहीं। देखो! जो बातें बाल्यावस्था में हुई; उनका अब विस्मरण हो गया; सो क्या इससे यह सिद्ध होता है कि वे बातें बाल्यावस्था में हुई ही नहीं? और क्योंकि स्मरण नहीं, इस लिये क्या कोई अपनी बाल्यावस्था का ही खण्डन करता है?

ऐसे ही जागृत-अवस्था में जो जो घटित होता है और जिन जिन बातों का स्मरण रहता है, उन उन बातों का निद्रा में वा सुषुप्ति में सर्वथैव विस्मरण रहता है। तो क्या इससे, 'जाग्रतावस्था की अपनी सत्ता' सें ही इन्कार कर सकते हैं?

मन का धर्म कैसा है, इसका विचार करो। मन का स्वभाव ऐसा है कि 'सन्निहित पदार्थ' रूप विषय से राग-द्वेष उत्पन्न करता रहता है। उनका सान्निध्य=समीपता छूटने से उसको विस्मरण होता है। फिर पूर्व-जन्मावस्था में के दूर गत पदार्थों के विषयों का यदि आत्मा को विस्मरण हो जावे, तो इसमें आश्चर्य क्या है?

हाँ, जिनकी बुद्धि अति तीव्र और धारणाशक्ति प्रबल होती है; जैसे उनको जीवन में घटित विषयों का स्मरण अन्योंकी अपेक्षा से अधिक होता है, ठीक वैसे ही जिनकी आत्मा के संस्कार तीव्र होते हैं, उनमें से किन्ही किन्ही को बालपन में पूर्वजन्म का स्मरण होता है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं।

न्यायकारी परमात्मा द्वारा बुद्धि पूर्वक निर्मित और प्रशासित संसार में जो प्राणियों में भेद, एक प्राणीवर्ग के व्यक्तियों के मध्य शारीरिक

स्थिति और बौद्धिक स्थिति का भेद, एक ही माता पिता के सन्तानों के गुण कर्म स्वभावों में भेद, एक ही गुरु अध्यापक से एक ही पाठ्यक्रम पढ़ने वाले विद्यार्थियों की धारणाशक्ति में भेद, तो इसका क्या कारण है ? यदि निष्कारण निरर्थक भेद है, तो ईश्वर अन्यायकारी पक्षपाती ठहरता है। इसलिये पूर्वजन्मार्जित पाप पुण्य के अनुसार यह व्यवस्था होती है, ऐसा माने बिना दूसरी कोई भी कल्पना नहीं जमती।

पूर्वजन्म के विषय में उपर्युक्त अनुमान के सिवा एक प्रत्यक्ष प्रमाण भी है। जीव के द्वारा किसी कर्म के लिये शरीर-चेष्टा होने से पूर्व, प्रथम हमें उस विषय का प्रत्यक्ष होता है, फिर आत्मा पर संस्कार होता है, फिर स्मृति होती है और पश्चात् किसी कार्य करने के विषय में प्रवृत्ति या निवृत्ति होती है। यह प्रकार सर्वत्र दिखाई पड़ता है। अब देखो, शरीर, योनि में से बाहर आने से पूर्व, माता के पेट में था, बाहर आते ही श्वास लेने वा रोने लगता है, माता का स्तन मुख को लगते ही खींच कर दूध पीने लग जाता है, तृप्त होने पर स्तन से स्वयं निवृत्त हो जाता। ये सब प्रवृत्ति या निवृत्ति की चेष्टायें उसे पूर्व संस्कारों के बिना कैसे होती हैं ? इससे 'निश्चयपूर्वक पूर्वजन्म था', यह प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों से सिद्ध होता है।

अस्तु इस संसार में सुखदुःख के जो भेद दिखते हैं, ये वास्तविक हैं, भ्रम नहीं। उनका कुछ न कुछ कारण अवश्य होना चाहिये, क्योंकि कारण के बिना कार्य नहीं होता। यदि एक ही जन्म है तो, इस भेद का कोई युक्ति युक्त समुचित समाधान नहीं दीखता और सृष्टिकर्त्ता ईश्वर अन्यायी सिद्ध होता है। इसलिये 'जन्म अनेक हैं', यही मानना योग्य है और जन्मान्तर के अपराधानुरूप जावों को वह ईश्वर दण्ड देता है; जितना तीव्र पाप जीव करता है, उतना ही उसे दुःख भोगना पड़ता है। और इसी प्रकार जन्मान्तर के पुण्यानुरूप वह जीवों को उत्तम भोग देता है, जितना तीव्र पुण्य जीव करता है, उतना ही अधिक सुख उसको मिलता है।

इसी प्रकार पर जन्म की बात अर्थात् इस जन्म के पश्चात् दूसरे जन्म का विषय है। जीव नाना कर्म करता है। सबका फल इसी जन्म में प्राप्त नहीं होता। इसलिये शेष शुभाशुभ कर्मों के सुखदुःखरूप फलों के भोग के लिये आगामी जन्म का मानना भी सिद्ध होता है।

प्रश्न—जब जीवों को पूर्व जन्मकृत कर्मों का ज्ञान नहीं, और ईश्वर उनको दण्ड देता है, तो जीवों का सुधार नहीं हो सकता। क्योंकि जब उनको यह ज्ञान हो कि हमने अमुक काम किया था, उसी का यह फल

है, तभी वे पाप-कर्मों से बच सकें।

उत्तर—तुम ज्ञान कितने प्रकार का मानते हो ?

प्रश्न[1]—प्रत्यक्षादि प्रमाणों के भेद से आठ प्रकार का।

उत्तर—तो जब तुम जन्म से लेकर समय-समय में राजधन बुद्धि विद्या दारिद्रय निर्बुद्धि मूर्खता आदि सुख-दुःख संसार में देखकर पूर्व जन्म का ज्ञान क्यों नहीं करते ? जैसे एक अवैद्य और एक वैद्य को कोई रोग हो, उसका निदान अर्थात् कारण वैद्य तो जान लेता है, पर अवैद्य नहीं जान सकता। क्योंकि उसने वैद्यकविद्या पढ़ी है, और दूसरे ने नहीं। परन्तु ज्वरादि रोग के होने से अवैद्य भी इतना जान सकता है कि मुझ से कोई कुपथ्य हो गया है, जिससे मुझे यह रोग हुआ है। वैसे ही जगत् में विचित्र सुख-दुःख आदि की घटती-बढ़ती देखके पूर्व जन्म का अनुमान क्यों नहीं जान लेते (३८७) ?

और जो पूर्व जन्म को न मानोगे, तो परमेश्वर पक्षपाती हो जाता है। क्योंकि किसी को विना पाप के दारिद्रयादि दुःख, और विना पूर्व-सञ्चित पुण्य के किसी को राज्य धनाढ्यतादि सुख और किसी को निष्कारण बुद्धि, किसी को निर्बुद्धिता क्यों दी ? और पूर्व जन्म के पापपुण्य के अनुसार दुःख-सुख के देने से परमेश्वर न्यायकारी यथावत रहता है।

प्रश्न—जीव का एक जन्म होने से भी परमेश्वर न्यायकारी हो सकता है। जैसे सर्वोपरि राजा जो करे, सो न्याय। जैसे माली अपने उपवन में छोटे और बड़े वृक्ष लगाता, किसी को काटता, उखाड़ता और किसी की रक्षा करता, बढ़ाता है। जिसकी जो वस्तु है, उसको वह चाहे जैसे रक्खे। उसके उपर कोई भी दूसरा न्याय करनेवाला नहीं है, जो ईश्वर के स्वेच्छा से किए के लिए उसको दण्ड दे सके, वा ईश्वर किसी दूसरे से डरे।

उत्तर—जिसलिये परमात्मा न्याय चाहता वा करता है, अन्याय कभी नहीं करता, इसीलिए वह पूजनीय और बड़ा है। जो न्यायविरुद्ध करे, वह ईश्वर ही नहीं। जैसे माली युक्ति के विना मार्ग वा अस्थान में वृक्ष लगाने, न काटने योग्य को काटने, अयोग्य को बढ़ाने, योग्य को न बढ़ाने से दूषित व निन्दित होता है, इसी प्रकार विना कारण के करने से ईश्वर को भी अवश्य दोष लगेगा।

परमेश्वर के लिये न्याययुक्त काम करना अवश्य है, अनिवार्य है।

---

१. यह पूर्वपक्षी का वचन है।

क्योंकि वह स्वभाव से पवित्र और न्यायकारी है। जो उन्मत्त के समान काम करे, तो जगत् को श्रेष्ठ न्यायाधीश से भी न्यून और अप्रतिष्ठित होवे। क्या इस जगत् के सामाजिक व्यवहारों में विना योग्यता के उत्तम काम किये प्रतिष्ठा, और दुष्ट काम किये विना दण्ड देनेवाला निन्दनीय अप्रतिष्ठित नहीं होता? इसलिये ईश्वर अन्याय नहीं करता, इसीसे किसी से नहीं डरता।

प्रश्न—परमात्मा ने प्रथम ही से जिसके लिये जितना देना विचारा है, उतना देता, और जितना काम करना है, उतना करता है।

उत्तर—उसका विचार जीवों के कर्मानुसार होता है, अन्यथा नहीं। जो अन्यथा हो, तो वही अपराधी अन्यायकारी होवे (३८८)।

प्रश्न—बड़े-छोटों को एकसा ही सुख-दुःख है। बड़ों को बड़ी चिंता और छोटों को छोटी। जैसे किसी साहूकार का विवाद राजघर में लाख रुपये का हो, तो वह अपने घर से पालकी में बैठकर अदालत-कचहरी में उष्णकाल में जाता हो। बाजार में होके उसको जाता देखकर अज्ञानी लोग कहते हैं कि—'देखो पुण्य-पाप का फल। एक पालकी में आनन्दपूर्वक बैठा है, और दूसरे विना जूते पहिरे ऊपर नीचे से तप्यमान होते हुए पालकी को उठाकर ले जाते हैं'; 'एक गाड़ी में बैठा है, दूसरा इसे खींच रहा है।'

परन्तु बुद्धिमान् लोग इसमें यह जानते हैं कि जैसे-जैसे कचहरी निकट आती-जाती है, वैसे-वैसे साहूकार को बड़ा शोक और सन्देह बढ़ता जाता, और कहारों को आनन्द होता जाता है। जब कचहरी में पहुंचते हैं, तब सेठ जी इधर-उधर जाने का विचार करते हैं कि प्राड्विवाक् (वकील) के पास जाऊं वा सरिश्तेदार के पास? आज हारूंगा वा जीतूंगा, न जाने क्या होगा। और कहार लोग तमाखू पीते, परस्पर बातें-चीतें करते हुए प्रसन्न होकर आनन्द में सो जाते हैं। जो वह जीत जाय, तो कुछ सुख, और हार जाय, तो सेठ जी दुःख सागर में डूब जाय। और वे कहार जैसे के वैसे रहते हैं। इसी प्रकार जब राजा सुन्दर कोमल विछौने में सोता तो है, तो भी शीघ्र निद्रा नहीं आती। और मजूर कंकर पत्थर और मट्टी ऊंचे नीचे स्थल पर सोता है, उसको झट ही निद्रा आती है। ऐसे ही सर्वत्र समझो।

उत्तर—यह समझ अज्ञानियों की है। जब किसी साहूकार से कहें कि तू कहार बन जा, और कहार से कहें कि तू साहूकार बन जा; तो साहूकार कभी कहार बनना नहीं चाहता और कहार साहूकार बनना

चाहते हैं। जो सुख-दुःख बराबर होता, तो अपनी-अपनी अवस्था छोड़ नीच और ऊंच बनना दोनों क्यों न चाहते ?

देखो, एक जीव विद्वान् पुण्यात्मा श्रीमान् राजा की राणी के गर्भ में आता, और दूसरा महादरिद्र घसियारी के गर्भ में आता है। एक को गर्भ से लेकर सर्वथा सुख, और दूसरे को सब प्रकार दुःख मिलता है। एक जब जन्मता है, तब सुन्दर सुगन्धियुक्त जलादि से स्नान, युक्ति से नाड़ीछेदन, दुग्धपानादि यथायोग्य प्राप्त होते हैं। जब वह दूध पीना चाहता है, तो उसके साथ मिश्री आदि (३८९) मिलाकर यथेष्ट मिलता है। उसको प्रसन्न रखने के लिये नौकर-चाकर, खिलौना सवारी उत्तम स्थानों में लाड़ से आनन्द होता है। दूसरे का जन्म जङ्गल में होता, स्नान के लिये जल भी नहीं मिलता। जब दूध पीना चाहता, तब दूध के बदले में घूंसा, थपेड़ा आदि से पीटा जाता है। अत्यन्त आर्तस्वर से रोता है, कोई नहीं पूछता।

इत्यादि विचार करने से स्पष्ट है कि पूर्वजन्म को न मान, जीवों को विना पुण्य-पाप के सुख-दुःख होने से परमेश्वर पर दोष आता है।

दूसरा—जैसे, यदि विना किये कर्मों के सुख-दुःख मिलते हैं, तो आगे नरक-स्वर्ग भी न होना चाहिये। क्योंकि जैसे परमेश्वर ने इस समय विना कर्मों के सुख-दुःख दिया है, वैसे मेरे पीछे भी जिसको चाहेगा उसको स्वर्ग में, और जिसको चाहे नरक में भेज देगा। पुनः सब जीव अधर्मयुक्त हो जायेंगे, धर्म क्यों करें ? क्योंकि धर्म का फल मिलने में सन्देह है। परमेश्वर के हाथ है; जैसी उसकी प्रसन्नता होगी, वैसा करेगा; तो पापकर्मों में भय न होकर संसार में पाप की वृद्धि और धर्म का क्षय हो जायगा। इसलिये पूर्व जन्म के पुण्य-पाप के अनुसार वर्त्तमान जन्म, और वर्त्तमान तथा पूर्व जन्म के कर्मानुसार भविष्यत् जन्म होते हैं।

प्रश्न—मनुष्य और अन्य पश्वादि के शरीर में जीव एकसा है, वा भिन्न-भिन्न जाति के ?

उत्तर—जीव एक से हैं। परन्तु पाप-पुण्य के योग से मलिन और पवित्र होते हैं।

प्रश्न—मनुष्य का जीव पश्वादि में और पश्वादि का मनुष्य के शरीर में, और स्त्री का पुरुष के और पुरुष का स्त्री के शरीर में आता-जाता है वा नहीं ?

उत्तर—हां, आता जाता है। क्योंकि जब पाप बढ़ जाता, पुण्य न्यून

होता है; तब मनुष्य का जीव पश्वादि नीच शरीर और जब धर्म अधिक तथा अधर्म न्यून होता है, तब देव अर्थात् विद्वानों का शरीर मिलता। और जब पुण्य-पाप बराबर होता है, तब साधारण मनुष्य-जन्म होता है। इसमें भी पुण्य-पाप के उत्तम मध्यम और निकृष्ट होने से मनुष्यादि में भी उत्तम मध्यम और (३६०) निकृष्ट शरीरादि सामग्रीवाले होते हैं। और जब अधिक पाप का फल पश्वादि शरीर में भोग लिया है, पुनः पाप-पुण्य के तुल्य रहने से मनुष्य शरीर में आता, और पुण्य के फल भोगकर फिर भीं मध्यस्थ मनुष्य के शरीर में आता है।

जब शरीर से निकलता है उसी का नाम **'मृत्यु'**. और शरीर के साथ संयोग होने का नाम **'जन्म'** है। जब शरीर छोड़ता, तब यमालय अर्थात् आकाशस्थ वायु में रहता है। क्योंकि **'यमेन वायुना'** वेद में लिखा है[1] कि **'यम'** नाम वायु का है, गरुड़पुराण का कल्पित यम नहीं। इसका विशेष खण्डन-मण्डन ग्यारहवें प्रवाह में किया जावेगा। पश्चात् धर्मराज अर्थात् परमेश्वर उस जीव के पाप-पुण्यानुसार जन्म देता है।

वह जीव वायु अन्न जल अथवा शरीर के छिद्र द्वारा दूसरे के शरीर में ईश्वर की प्रेरणा व व्यवस्था से प्रविष्ट होता है। प्रविष्ट होकर क्रमशः पुरुष के वीर्य में जा, स्त्री गर्भ में स्थित हो, शरीर धारण कर बाहर आता है। जब उस जीव के स्त्री के शरीर धारण करने योग्य कर्म हों, तो वह स्त्री शरीर में और पुरुष के शरीर धारण करने योग्य कर्म हों, तो पुरुष के शरीर में प्रवेश करता है। और नपुंसक, गर्भ की स्थिति समय स्त्री-पुरुष के शरीर में सम्बन्ध करके रजवीर्य के बराबर होने से होता है।

इसी प्रकार नाना प्रकार के जन्म-मरण में तब तक जीव पड़ा रहता है कि जब तक उत्तम कर्मोपासना-ज्ञान को करके मुक्ति को नहीं पाता। क्योंकि उत्तम कर्मादि करने से मनुष्यों में उत्तम जन्म और मुक्ति में महाकल्पपर्यन्त जन्म मरण दुःखों से रहित होकर आनन्द में रहता है।

प्रश्न—मुक्ति एक जन्म में होती है, वा अनेक जन्मों में (३६१)?

---

१. ऋषि दयानन्द ने स. प्र. के ११ वें समुल्लास में **'यमेन वायुना सत्यराजन्'** इत्यादि वेदवाक्यों से ऐसा लिखा है। संस्कारविधि (पृष्ठ ३४३, रा. ला. क. ट्र. सं. ३) में अनेक वेदमन्त्रों को उद्धृत करके यम शब्द के कई अर्थ दर्शाये हैं। शतपथ १४।२।२।११ ने **यमाय त्वा** (यजु: ३८।९) मन्त्र की व्याख्या की है—**अयं वै यमो योऽयं (वायुः) पवते।**

उत्तर—अनेक जन्मों में। क्योंकि—मुण्ड० उप० २।२।१८ में लिखा है:—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

जब इस जीव के हृदय की अविद्या-अज्ञानरूपी गांठ कट जाती, सब संशय छिन्न होते, और दुष्ट कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं, तभी उस परमात्मा, जो कि अपने आत्मा के भीतर और बाहर व्याप रहा है, उसमें निवास करता है।

प्रश्न—मुक्ति में परमेश्वर में जीव मिल जाता है, वा पृथक् रहता है?

उत्तर—इसका उत्तर पूर्व कह आये हैं। मुक्ति में जीव परमेश्वर से पृथक् रहता है। क्योंकि जो उसमें पूर्णतः मिल जाय, तो मुक्ति का सुख कौन भोगे? और मुक्ति के जितने साधन हैं, वे सब निष्फल हो जावें। वह मुक्ति तो नहीं; किन्तु जीव का प्रलय जानना चाहिये। जो जीव परमेश्वर की आज्ञा पालन उत्तम कर्म सत्संग योगाभ्यास पूर्वोक्त सब साधन करता है, वही मुक्ति को पाता है। देखो, तैत्ति० उप०। आ० व० १।१। में लिखा है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति॥

(यः) जो जीवात्मा (गुहायां) अपनी बुद्धि में (परमे व्योमन्) और आत्मा में (निहितं) स्थित (सत्यं ज्ञानं अनन्तं) सत्य-ज्ञान और अनन्त आनन्दस्वरूप (ब्रह्म वेद) परमात्मा को जानता है, (सः) वह उस व्यापकरूप ब्रह्म में स्थित होके (विपश्चिता ब्रह्मणा सह) उस 'विपश्चित्' अनन्त-विद्यायुक्त ब्रह्म के साथ (सर्वकामान्) सब कामनाओं को अर्थात् जिस-जिस आनन्द की कामना करता है, उस-उस आनन्द को (अश्नुते) प्राप्त होता है। यही **'मुक्ति'** कहाती है (३९२)।

प्रश्न—जैसे शरीर के विना सांसारिक सुख नहीं भोग सकता, वैसे मुक्ति में विना शरीर आनन्द कैसे भोग सकेगा?

उत्तर—इसका समाधान पूर्व कह आये हैं। और इतना अधिक सुनो—जैसे सांसारिक सुख शरीर के आधार से भोगता है, वैसे परमेश्वर के आधार से मुक्ति के आनन्द को जीवात्मा भोगता है। वह मुक्त जीव

अनन्त व्यापक ब्रह्म में स्वच्छन्द घूमता, शुद्ध ज्ञान से सब सृष्टि को देखता अन्य मुक्तों के साथ मिलता, सृष्टि-विद्या को क्रम से देखता हुआ सब लोक-लोकान्तरों में, अर्थात् जितने ये लोक दीखते हैं और नहीं दीखते, उन सब में घूमता है। वह सब पदार्थों को, जो कि उसके ज्ञान के आगे हैं, सब को देखता है। जितना ज्ञान अधिक होता है, उसको उतना ही आनन्द अधिक होता है।

मुक्ति में जीवात्मा, निर्मल होने से पूर्ण ज्ञानी सा हो जाता है; उसको सब सन्निहित पदार्थों का भान यथावत् होता है। यही सुखविशेष **'स्वर्ग'**, और विषयतृष्णा में फंसकर दुःखविशेष भोग करना **'नरक'** कहाता है। 'स्वः' सुख का नाम है, **'स्वः सुखं गच्छति यस्मिन् स स्वर्गः'**, **'अतो विपरीतो दुःखभोगो नरक इति'** जो सांसारिक सुख है वह **'सामान्य स्वर्ग'**, और जो परमेश्वर की प्राप्ति से अक्षय आनन्द प्राप्त होता है, वही **'विशेष स्वर्ग'** कहाता है।

सब जीव स्वभाव से सुख-प्राप्ति की इच्छा करते हैं और दुःख का वियोग होना चाहते हैं। परन्तु जब तक धर्म नहीं करते (३९३) और पाप नहीं छोड़ते, तब तक उनको सुख का मिलना और दुःख का छूटना न होगा। क्योंकि जिसका कारण अर्थात् मूल होता है, वह नष्ट कभी नहीं होता। जैसे—**'छिन्ने मूले वृक्षो नश्यति तथा पापे क्षीणे दुःख नश्यति।'** जैसे मूल कट जाने से वृक्ष नष्ट होता है, वैसे पाप के क्षीण होने अर्थात् छोड़ने से दुःख नष्ट होता है।

देखो! मनुस्मृति अ. १२ में पाप और पुण्य की बहुत प्रकार की गतियों के विषय में निम्न लेख है:—★

अर्थात् मनुष्य इस प्रकार अपने श्रेष्ठ मध्य और निकृष्ट स्वभाव को जानकर उत्तम स्वभाव का ग्रहण, मध्य और निकृष्ट का त्याग करे। और यह भी निश्चय जाने कि यह जीव मन से जिस शुभ वा अशुभ कर्म को करता है, उसको मन से, वाणी से किये को वाणी से, और शरीर से किये को शरीर से अर्थात् सुख-दुःख को भोगता है। श्लो. ८॥

जो नर (शरीरजैः) शरीर से चोरी, परस्त्रीगमन, श्रेष्ठों को मारने आदि दुष्ट कर्म करता है, उसको वृक्षादि स्थावर का जन्म, (वाचिकैः) वाणी से किये पापकर्मों से पक्षी और मृगादि, तथा (मानसैः) मन से किए दुष्टकर्मों से चांडाल आदि का शरीर मिलता है॥९॥

★ मूल श्लोक नहीं दिए। मूल का हिन्दी मात्र दिया है।

इन जीवों के देह में जो गुण अधिकता से वर्त्तता=प्रभाव रखता है, वह गुण उस जीव को अपने सदृश कर देता है ॥२५॥

जब आत्मा में ज्ञान हो, तब सत्त्व; जब अज्ञान रहे, तब तम; और जब राग-द्वेष में आत्मा लगे, तब रजोगुण [का प्राबल्य] जानना चाहिये। ये तीन प्रकृति के गुण सब संसारस्थ पदार्थोंमें व्याप्त होकर रहते हैं।२६॥

उसका विवेक इस प्रकार करना चाहिये कि जब आत्मा में प्रसन्नता, मन प्रसन्न, प्रशान्त के सदृश शुद्धभानयुक्त वर्ते, तब समझना कि सत्त्वगुण प्रधान है, और रजोगुण तथा तमोगुण अप्रधान हैं (३६५) ॥२७॥

जब आत्मा और मन दुःखसंयुक्त, प्रसन्नता-रहित, विषय में इधर-उधर गमन-आगमन में लगे, तब समझना कि रजोगुण प्रधान है, और सत्त्व-गुण तथा तमोगुण अप्रधान हैं ॥२८॥

जब मोह अर्थात् सांसारिक पदार्थों में फंसा हुआ आत्मा और मन हो, जब आत्मा और मन में कुछ विवेक न रहे, विषयों में आसक्त, तर्क-वितर्क-रहित, जानने के योग्य न हो, तब निश्चय समझना चाहिये कि इस समय मुझमें तमोगुण प्रधान है और सत्त्वगुण तथा रजोगुण अप्रधान हैं। ॥२९॥

अब जो इन तीन गुणों का उत्तम मध्यम और निकृष्ट फलोदय होता है, उनको पूर्ण भाव से कहते हैं ॥३०॥

जो वेदों का अभ्यास, तप अर्थात् कष्ट सहकर भी धर्मानुष्ठान, ज्ञान की वृद्धि, पवित्रता की इच्छा, इन्द्रियों का निग्रह, धर्मक्रिया और आत्मा का चिन्तन होता है, यही सत्त्वगुण का लक्षण है ॥३१॥

जब रजोगुण का उदय, सत्त्व और तमोगुण का अन्तर्भाव होता है, तब कर्म आरम्भ करने मात्र में रुचिता, धैर्यत्याग, असत् कर्मों का ग्रहण, निरन्तर विषयों की सेवा में प्रीति होती है, तभी समझना कि रजोगुण, प्रधानता से मुझमें वर्त्त रहा है ॥३२॥

जब तमोगुण का उदय और शेष दोनों का अन्तर्भाव होता है, तब अत्यन्त लोभ अर्थात् सब पापों का मूल बढ़ता, अत्यन्त आलस्य और निद्रा, धैर्य का नाश, क्रूरता का होना, नास्तिक्य अर्थात् वेद और ईश्वर में श्रद्धा का न रहना, भिन्न-भिन्न अन्तःकरण की वृत्ति का न होना अर्थात् एकाग्रता का अभाव जिस किसी से याचना अर्थात् मांगते रहना और किन्हीं प्रमाद

अर्थात् मद्यपानादि व्यसनों में फंसता होवे, तब समझना कि तमोगुण मुझमें वर्त्त रहा है ।।३३।।

तथा तव तमोगुण का लक्षण विद्वान् को जानने योग्य है, जब अपना आत्मा जिस कर्म को करके करता हुआ और करने की इच्छा से लज्जा शंका और भय को प्राप्त होवे, तब जानो कि मुझमें तमोगुण प्रवृद्ध है।३५।।

जिस कर्म से इस लोक में जीवात्मा पुष्कल प्रसिद्धि चाहता, दरिद्रता होने में भी चारण भाट आदि को दान देना नहीं छोड़ता, तब समझना कि मुझमें रजोगुण प्रवल है ।।३६।।

और जब मनुष्य का आत्मा सवसे जानने को चाहे, गुण ग्रहण (३९६) करता जाय, अच्छे कर्मों में लज्जा न करे, और जिस कर्म से आत्मा प्रसन्न होवे अर्थात् धर्माचरण में ही रुचि रहे, तव समझना कि मुझमें सत्त्वगुण प्रबल है ।।३८।।

[संग्रह रूप में] तमोगुण का लक्षण काम, रजोगुण का अर्थसंग्रह की इच्छा और सत्त्वगुण का लक्षण धर्म-सेवा करना है । इनमें उत्तरोत्तर गुण श्रेष्ठ होता है अर्थात् तमोगुण से रजोगुण और रजोगुण से सत्त्वगुण श्रेष्ठ है ।।३८।।

अब जिस-जिस गुण से जिस-जिस गति को जीव प्राप्त होता है, उस-उस को आगे मनु. अ० १२ से ही लिखते हैं—

जो मनुष्य सात्त्विक हैं, वे देवत्त्व अर्थात् देव विद्वानों का जन्म पाते हैं; जो रजोगुणी होते हैं, वे मध्यम मनुष्य बनते हैं और जो तमोगुणयुक्त होते हैं, वे तिर्यङ्योनि=नीच गति को प्राप्त होते हैं ।।४०।।

जो अत्यन्त तमोगुणी हैं, वे स्थावर, वृक्षादि, कृमि-कीट, मत्स्य, सर्प, कच्छप, पशु और मृग के जन्म को प्राप्त होते हैं ।।४२।।

जो मध्यम तमोगुणी हैं, वे हाथी, घोड़ा, शूद्र, म्लेच्छ, निन्दित कर्म करनेहारे सिंह, व्याघ्र, वराह अर्थात् सूकर के जन्मको प्राप्त होते हैं ।४३।।

जो उत्तम तमोगुणी हैं, वे चारण (जो कि कवित्त दोहा आदि बना कर मनुष्यों की प्रशंसा करते हैं), सुन्दर पक्षी, दांभिक पुरुष अर्थात् अपने सुख-स्वार्थ के लिए अपनी प्रशंसा करनेहारे, राक्षस जो हिंसक, पिशाच, अनाचारी अर्थात् मद्यादि के आहार कर्त्ता और मलिन रहते हैं, वह उत्तम तमोगुण के कर्म का फल है ।।४४।।

जो अधम रजोगुणी हैं, वे झल्ला अर्थात् तलवार आदि से मारने वा

कुदार आदि से खोदनेहारे, भल्ला[1] अर्थात् नौका आदि के चलाने वाले, नट जो बांस आदि पर कला-कूदना चढ़ना-उतरना आदि (३९८) करते हैं, शस्त्रधारी भृत्य और मद्य पीने में आसक्त हों, ऐसे जन्म नीच रजोगुण का फल हैं ॥४५॥

जो मध्यम रजोगुणी होते हैं, वे राजा, क्षत्रिय वर्णस्थ राजाओं के पुरोहित, वाद-विवाद करने वाले, दूत, प्राड्विवाक (वकील वारिष्टर), युद्ध विभाग के अध्यक्ष के जन्म पाते हैं ॥४६॥

जो उत्तम रजोगुणी हैं वे गन्धर्व (गाने वाले), गुह्यक (वादित्र-बजानेहारे), यक्ष (धनाढच), विद्वानों के सेवक, और अप्सरा अर्थात् उत्तम रूपवाली स्त्री का जन्म पाते हैं ॥४७॥

जो तपस्वी, यति, संन्यासी, वेदपाठी, विमान के चलानेवाले, ज्योतिषी और **दैत्य** अर्थात् देहपोषक मनुष्य होते हैं, उनको प्रथम सत्त्वगुण के कर्म का फल जानो ॥४८॥

जो मध्यम सत्त्वगुण युक्त होकर कर्म करते हैं, वे जीव यज्ञकर्त्ता वेदार्थवित् विद्वान्, वेद विद्युत् आदि और कालविद्या के ज्ञाता, रक्षक, ज्ञानी और **साध्य**=कार्यसिद्धि के लिये सेवन करने योग्य अध्यापक का जन्म पाते हैं ॥४९॥

जो उत्तम सत्त्वगुणयुक्त होके उत्तमकर्म करते हैं, वे ब्रह्मा=सब वेदों का वेत्ता, **विश्वसृज**=सब सृष्टिक्रम विद्या को जानकर विविध विमानादि यानों को बनानेहारे, धार्मिक सर्वोत्तम बुद्धियुक्त, और अव्यक्त के जन्म और प्रकृतिवशित्व सिद्धि को प्राप्त होते हैं ॥५०॥

जो इन्द्रिय के वश होकर विषयी, धर्म को छोड़कर अधर्म करनेहारे अविद्वान् हैं, वे मनुष्यों में नीच जन्म=बुरे-बुरे दुःखरूप जन्म को पाते हैं ॥५२॥

इस प्रकार सत्त्व रज और तमोगुणयुक्त वेग से जिस-जिस प्रकार का कर्म जीव करता है, उस-उस को उसी-उसी प्रकार फल प्राप्त होता है। जो मुक्त होना चाहते है वे गुणातीत अर्थात् सब गुणों के स्वभावों में

---

१. इस अर्थ का मूल अन्वेष्टव्य है। हिन्दी में नौका चलाने वाले को मल्लाह कहते हैं। **मीमांसा** १।३ के **पिकनेमादि** अधिकरणानुसार यह अर्थ भी किया जा सकता है। ऋषि दयानन्द ने स. प्र. के प्रथम सं० में 'मल्ला' का अर्थ 'मल्लाह और कुश्ती करनेवाले' दोनों किया है।

न फंसकर महयोगी होके मुक्ति का साधन करें। क्योंकि (३९९)—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥१॥
तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥२॥ यो. द.।१।२,३॥

मनुष्य रजोगुण-तमोगुणयुक्त कर्मों से मन को रोक, शुद्ध सत्त्वगुण-युक्त कर्मों से भी मन को रोक, शुद्ध सत्त्वगुणयुक्त हो, पश्चात् उसका निरोध कर एकाग्र अर्थात् एक परमात्मा और धर्मयुक्त कर्म नाभि, हृदय, कण्ठ, नेत्र और नासिका के अग्रभाग में चित्त को ठहरा रखना निरुद्ध अर्थात् सब ओर से मन की वृत्ति को रोकना ॥१॥ इसका नाम योग है।

जब चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है, तब सबके द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है ॥२॥—इसी स्थिति का नाम मुक्ति है।

भाव यह है कि—"चित्त की वृत्तियों का **बाहर और भीतर के** सब विषयों से निरोध करके, परमेश्वर के समीप में मोक्ष को प्राप्त करने को **'योग'** कहते हैं। जैसे, जल का प्रवाह एक ओर से दृढ़ बांध के रोक देने से, जिस ओर नीचा होता है, उस ओर चलके वहीं स्थिर हो जाता है, वैसे ही मन की वृत्ति जिस समय अन्दर बाहर के सब व्यवहारों से रुकती है, उसी समय वह द्रष्टा अर्थात् चेतनस्वरूप परमेश्वर में स्थित [=स्थिर] हो जाती है।" [मिलाकर द्र., ऋ. वे. भा. भू.। उपा. वि. पृ. १९३ तथा ऋ. दया. पत्र विज्ञा.। विज्ञापन पत्र २। द्वि. सं. पृ. १७।]

इत्यादि साधन मुक्ति के लिए करे। और—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥ सांख्य. १।२॥

जो **आध्यात्मिक** अर्थात् शरीर-सम्बन्धी पीड़ा, **आधिभौतिक** जो दूसरे प्राणियों से दुःखित होना, **आधिदैविक** जो अतिवृष्टि अतिताप अति-शीत मन इन्द्रियों की चञ्चलता से होता है, इस त्रिविध दुःख को छुड़ाकर मुक्ति पाना अत्यन्त पुरुषार्थ है।

यह संक्षेप से विद्या-अविद्या, बन्ध-मोक्ष, जन्म-मरण, स्वर्ग-नरक, जीवों की नाना गतियों के विषय में लिखा है। इसके आगे आचार अना-चार और भक्ष्याऽभक्ष्य का विषय लिखेंगे। (४००)॥

॥ इति नवमः प्रवाहः ॥

दशमः प्रवाहः

अथाऽऽचारानाचारभक्ष्याऽभक्ष्यविषयान् व्याख्यास्यामः

आगे आचार-अनाचार और भक्ष्य-अभक्ष्य विषय में लिखेंगे।

अब जो धर्मयुक्त कामों का आचरण, सुशीलता, सत्पुरुषों का संग और सद्विद्या के ग्रहण में रुचि आदि 'आचार' और इनसे विपरीत अर्थात् जो अधर्मयुक्त कामों का आचरण, दुःशीलता दुष्टपुरुषों का संग और सद्विद्या के ग्रहण में अरुचि तथा असद्विद्या के ग्रहण में रुचि आदि है, वह 'अनाचार' कहाता है, उसको लिखते हैं—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ॥१॥
कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥२
सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसंभवाः।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः ॥३॥
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चिद् तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥४॥
वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥५॥
सर्वन्तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै ॥६॥
श्रुतिप्रामाण्यतो धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्त्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥७॥
श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥८॥
योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥९॥
वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥१०॥

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥११॥
वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्य्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥१२॥
केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥१३॥

मनु० अ० २।१-४, ६, ८-१३, २६, ६५ ॥

मनुष्यों को सदा इस बात पर ध्यान रखना चाहिए कि जिसका सेवन राग-द्वेषरहित विद्वान् लोग नित्य करें, जिसको हृदय अर्थात् आत्मा से सत्यकर्त्तव्य जानें, वही धर्म माननीय और करणीय है ॥ १ ॥

क्योंकि इस संसार में अत्यन्त कामात्मता प्रशस्त नहीं है, और निष्कामता भी श्रेष्ठ नहीं है । क्योंकि वेदार्थज्ञान और वेदोक्त कर्म, ये सब कामना ही से सिद्ध होते हैं ॥ २॥

जो कोई कहे कि मैं निरिच्छ और निष्काम हूं वा हो जाऊं, तो वह कभी नहीं हो सकता । क्योंकि सब काम अर्थात् यज्ञ, सत्यभाषणादि व्रत, यम-नियमरूपी धर्म आदि सङ्कल्प ही से बनते हैं ॥ ३ ॥

क्योंकि जो-जो हस्त पाद नेत्र मन आदि चलाये जाते हैं, वे सब कामना ही से चलते हैं । जो इच्छा न हो, तो आंख का खोलना और मीचना भी नहीं हो सकता ॥ ४॥

इसलिये सम्पूर्ण वेद, मनुस्मृति तथा ऋषिप्रणीत शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार, और जिस-जिस कर्म में अपना आत्मा प्रसन्न रहे, अर्थात् भय शंका लज्जा जिसमें न हो, उन कर्मों का सेवन करना उचित है । देखो, जब कोई मिथ्याभाषण चोरी आदि की इच्छा करता है, तभी उसके आत्मा में भय शंका लज्जा अवश्य उत्पन्न होती हैं । इसलिए वह कर्म करने योग्य नहीं (४०२) ॥ ५ ॥

मनुष्य सम्पूर्ण शास्त्र, वेद, सत्पुरुषों का आचार, अपने आत्मा के अविरुद्ध अच्छे प्रकार विचार कर ज्ञाननेत्र से देख करके श्रुति-प्रमाण से स्वात्मानुकूल धर्म में प्रवेश करें ॥ ६ ॥

क्योंकि जो मनुष्य वेदोक्त धर्म और जो वेद से अविरुद्ध स्मृत्युक्त धर्म का अनुष्ठान करता है, वह इस लोक में कीर्ति और मरके सर्वोत्तम सुख को प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

'श्रुति' वेद और 'स्मृति' धर्मशास्त्र को कहते हैं। इनसे सब कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य का निश्चय करना चाहिये [क्योंकि धर्म इनसे निश्चित होता है। ये धर्म निर्णय में आधार हैं] ॥ ८ ॥

जो कोई मनुष्य वेद और वेदानुकूल आप्तग्रन्थों का अपमान करे, उसको श्रेष्ठ लोग जातिबाह्य [अर्थात् सामाजिक अधिकारों से वञ्चित] कर दें। क्योंकि जो वेद की निन्दा करता है, वही 'नास्तिक' कहाता ॥९॥

इसलिए वेद, स्मृति, सत्पुरुषों का आचार, और अपने आत्मा के ज्ञान से अविरुद्ध प्रियाचरण, ये चार धर्म के लक्षण अर्थात् इन्ही से धर्म लक्षित होता है ॥ १० ॥

परन्तु जो अर्थ अर्थात् द्रव्यों के लोभ और काम अर्थात् विषयसेवा में फंसा हुआ नहीं होता, उसी को धर्म का ज्ञान होता है। जो धर्म को जानने की इच्छा करें, उनके लिये वेद ही परम प्रमाण है ॥ ११ ॥

इसी से सब मनुष्यों को उचित है कि वेदोक्त पुण्यरूप कर्मों से दिज अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य अपने सन्तानों का निषेकादि संस्कार करें, जो इस जन्म वा परजन्म में पवित्र करने वाला है ॥ १२ ॥

ब्राह्मण के सोलहवें, क्षत्रिय के बाईसवें, और वैश्य के चौबीसवें वर्ष में केशान्तकर्म=क्षौर मुण्डन हो जाना चाहिये। अर्थात् इस विधि के पश्चात् केवल शिखा को रखके अन्य दाढ़ी मूंछ और शिर के बाल सदा मुंडवाते रहना चाहिए, अर्थात् पुनः कभी न रखना। और जो शीतप्रधान देश हो, तो कामचार है। चाहे पञ्च[1] केश रक्खे। और जो अति उष्ण देश हो, तो सब शिखासहित छेदन करा देनां चाहिये [४०३]। क्योंकि शिर के ब्राल रहने से उष्णता अधिक होती है, और उससे बुद्धि कम हो जाती है। डाढ़ी मूंछ रखने से भोजन-पान अच्छे प्रकार नहीं होता, और उच्छिष्ट भी बालों में रह जाता है ॥ १३ ॥

आगे मनुस्मृति से आचार के विषय में विशेष लिखते हैं—

---

१. 'पांच ओर केश रखने' का निर्देश ऋषिदया० ने संस्कारविधि 'चुड़ाकर्मसंस्कार' (पृष्ठ १०३, रा० ला० क० ट्र० संस्करण ३) में भी किया है। यहाँ 'एक' ओर केश रखने का भी उल्लेख है।

२. चरक सं० सूत्र ८।१९ के अनुसार कम-से-कम एक पक्ष में तीन बार दाढ़ी मूंछ तथा सिर के बाल कटवाने चाहियें।

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥१॥

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥२॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥३॥

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥४॥

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥५॥

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥६॥

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥७॥

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥८॥

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥९॥

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥१०॥

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥११॥

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥१२॥

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥१३॥

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।
वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥१४॥

मनु० २।८८,९३,९४,९७,९८,१००,११०,१३६,१५३-१५७,१५९ ।

मनुष्य का यही मुख्य आचार है कि जो इन्द्रियां, चित्त को हरण

करने वाले विषयों में प्रवृत्त कराती हैं, उनको रोकने में प्रयत्न करे। जैसे घोड़े को सारथी रोक कर शुद्ध मार्ग में चलाता है, इस प्रकार इन इन्द्रियों को अपने वश में करके अधर्ममार्ग से हटा के धर्म मार्ग में सदा चलाया करे ॥१॥

क्योंकि, इन्द्रियों को विषयाशक्ति और अधर्म में चलाने से मनुष्य निश्चित दोष को प्रप्त होता है। और जब इनको जीतकर धर्म में चलाता है, तभी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ २ ॥

यह निश्चय है कि जैसे अग्नि में हवि अर्थात् इन्धन और घी डालने से अग्नि बढ़ता जाता है, वैसे ही कामों के उपभोग से काम शान्त कभी नहीं होता, किन्तु बढ़ता ही जाता है। इसलिये मनुष्य को विषयासक्त कभी न होना चाहिए ॥ ३ ॥

जो अजितेन्द्रिय पुरुप है, उसको 'विप्रदुष्ट' कहते हैं। उसके करने से, न वेदज्ञान, न त्याग, न यज्ञ, न नियम और न धर्माचरण कभी सिद्धि को प्राप्त होते हैं; किन्तु ये सब जितेन्द्रिय धार्मिक जन को ही सिद्ध अर्थात् फलदायक होते हैं ॥ ४ ॥

इसलिये पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय और ग्यारहवें मन को अपने वश में करके, युक्ताहारविहार[1] योग से शरीर की रक्षा करता हुआ सब अर्थों को सिद्ध करे ॥ ५ ॥

जितेन्द्रिय' उसको कहते हैं कि जो स्तुति सुनके हर्ष और निन्दा सुन के शोक, अच्छा स्पर्श करके सुख और दुष्ट स्पर्श से दुःख, सुन्दर रूप देख के प्रसन्न और दुष्ट रूप देख अप्रसन्न, उत्तम भोजन करके आनन्दित और निकृष्ट भोजन करके दुःखित, सुगन्ध में रुचि और दुर्गन्ध में अरुचि नहीं करता (४०५) [अर्थात् सब स्थितियों में स्थिरमति और शान्त-चित्त रहता है] ॥ ६ ॥

कभी विना पूछे जाने पर वा अन्याय अर्थात् जो कपट से पूछता हो, उसको उत्तर न देवे। उनके सामने बुद्धिमान सबकुछ जानता हुआ भी जड़ के समान रहे। हाँ, जो निष्कपट और जिज्ञासु हों, उनको विना पूछे भी उपदेश करे ॥ ७ ॥

एक धन, दूसरे बन्धु कुटुम्ब कुल, तीसरी अवस्था, चौथा उत्तम कर्म, और पांचवीं श्रेष्ठ विद्या, ये पांच मान्य के स्थान हैं। परन्तु धन से उत्तम बन्धु, बन्धु से अधिक अवस्था, अवस्था से श्रेष्ठ कर्म, और कर्म

१. 'युक्ताहारविहारस्य·········योगो भवति दुःखहा।' गीता ६।१७॥

से पवित्र विद्यावाले उत्तरोत्तर अधिक माननीय हैं ।। ८ ।।

क्योंकि चाहे कोई पुरुष सौ वर्ष का भी हो, परन्तु जो विद्या-विज्ञान रहित है, वह बालक, और जो विद्या-विज्ञान का दाता है, उस बालक को भी वृद्ध अर्थात् ज्येष्ठ व श्रेष्ठ मानना चाहिये । क्योंकि सब शास्त्र, आप्त विद्वान् अज्ञानी को बालक और ज्ञानी को 'पिता' कहते हैं ।। ९ ।।

अधिक वर्षों के बीतने से, श्वेत बाल के होने से, अधिक धन से, और बड़े कुटुम्ब के होने से कोई पुरुष वृद्ध नहीं होता । किन्तु ऋषि-महात्माओं का यही निश्चय है कि जो हमारे बीच में विद्या-विज्ञान में अधिक है, वही 'वृद्ध' पुरुष कहाता है । ।। १० ।।

ब्राह्मण ज्ञान से, क्षत्रिय बल से, वैश्य धन-धान्य से, और शूद्र जन्म अर्थात् अधिक आयु से वृद्ध होता [=बड़ा होकर माननीय] है ।। ११ ।।

शिर के बाल श्वेत हो जाने मात्र से कोई बुड्ढा रहीं होता, किन्तु जो युवा विद्या पढ़ा हुआ है, उसी को विद्वान् लोग वृद्ध=बड़ा जानते हैं ।। १२ ।।

और जो विद्या नहीं पढ़ा है, वह जैसा काष्ठ का हाथी, चमड़े का मृग होता है, वैसा अविद्वान् मनुष्य जगत् में नाममात्र मनुष्य कहाता है ।। १३ ।।

इसलिये विद्या पढ़ विद्वान् धर्मात्मा होकर अहिंसा अर्थात् निर्वैरता से सब प्राणियों के श्रेय कल्याण का उपदेश करे, और उपदेश में वाणी मधुर और कोमल बोले । जो सत्योपदेश से धर्म की वृद्धि और अधर्म का नाश करते हैं, वे पुरुष धन्य हैं ।। १४ ।।

नित्य स्नान, [उत्तम शुद्ध] वस्त्र, [सात्त्विक] और [निवास व अन्य] स्नान सब शुद्ध रक्खे । क्योंकि इनके शुद्ध होने में चित्त की शुद्धि और आरोग्यता प्राप्त होकर (४०६) पुरुषार्थ अर्थात् काम करने का उत्साह बढ़ता है । शौच उतना करना योग्य है कि जितने से मल दुर्गन्ध दूर हो जाय ।

आचारः प्रथमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च । मनु० १।१०८।।[1]

---

१. मनुस्मृति में **'प्रथमो'** के स्थान पर **'परमो'** पाठ है । दोनों का भाव 'मुख्य' होने से है ।

जो सत्यभाषणादि कर्मों का ग्राचरण है, वही वेद और स्मृति में कहा हुआ 'आचार' है।

मा नो वधीः पितरं मोत मातरम्। यजु० १६।१५।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणमिच्छते।[1]

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। ग्राचार्यदेवो भव। ग्रतिथिदेवो भव।
तैत्तिरी० ग्रार० ७।११॥

माता पिता ग्राचार्य ग्रौर ग्रतिथि की सेवा करना, **'देवपूजा'** कहाती है। ग्रौर जिस-जिस कर्म से जगत् का उपकार हो, वह-वह कर्म करना ग्रौर हानिकारक छोड़ देना ही मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य कर्म है। कभी नास्तिक लम्पट विश्वासघाती मिथ्यावादी स्वार्थी कपटी छली ग्रादि दुष्ट मनुष्यों का संग न करे। [इनके संग करने का नाम 'दुराचार' है ग्रौर] ग्राप्त जो सत्यवादी धर्मात्मा परोपकार प्रिय विद्वान् जन हैं, उनका सदा संग करने ही का नाम **'श्रेष्ठाचार'** है।

प्रश्न—ग्रार्यावर्त देशवासियों का आर्यावर्त्त देश से भिन्न-भिन्न देशों [ग्रथवा एक देशवासी का दूसरे देशों] में जाने से ग्राचार नष्ट हो जाता है, वा नहीं (४०७)?

उत्तर—यह बात मिथ्या है। क्योंकि जो बाहर-भीतर की पवित्रता करनी, सत्यभाषणादि आचरण करना है, वह जहां कहीं भी करेगा, उसका ग्राचार ग्रौर धर्म नष्ट कभी न होगा। ग्रौर जो आर्यावर्त्त में [ग्रथवा किसी देशविशेष में] रहकर भी दुष्टाचार करेगा, वही धर्म और ग्राचार भ्रष्ट कहावेगा। जो ऐसा ही होता, तो देखो महाभारत शान्तिपर्व (३२२। १४,१५) मोक्षधर्म में व्यासशुक-संवाद में क्या लिखा है?

अर्थात एक समय व्यासजी ग्रपने पुत्र शुक ग्रौर शिष्य सहित पाताल, ग्रर्थात् जिसको इस समय 'ग्रमेरिका' कहते हैं, उसमें निवास करते थे। शुकाचार्य ने पिता से एक प्रश्न पूछा कि ग्रात्मविद्या इतनी ही है वा ग्रधिक? व्यासजी ने जानकर उस बात का प्रत्युत्तर न दिया। क्योंकि

---

१. ग्रथर्व० ११।५।३ में 'इच्छते' के स्थान पर 'कृणुते' पाठ है। ग्रथवा यहां 'ग्राचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते' तथा ग्राचार्यो ब्रह्मचारिणमिच्छते (ग्र० ११।५।३, १७) इन दो उद्धरणों में मध्य का 'ब्रह्मचारिणं कृणुते। ग्राचार्यो ब्रह्मचर्येण' भाग लिपिक=लेखक प्रमाद से छूट गया है

उस बात का उपदेश कर चुके थे। दूसरे की साक्षी के लिए अपने पुत्र शुक से कहा कि हे पुत्र ? तू मिथिलापुरी में जाकर यही प्रश्न जनक राजा से कर। वह इसका यथायोग्य उत्तर देगा।

पिता का वचन सुनकर शुकाचार्य पातल से मिथिलापुरी की ओर चले। प्रथम मेरु अर्थात् हिमालय से ईशान उत्तर और वायव्य दिशा में जो देश वसते हैं, उनका नाम हरिवर्ष था, अर्थात् हरि कहते हैं, वन्दर को। उस देश के मनुष्य अब भी रक्तमुख अर्थात् वानर के समान भूरे नेत्रवाले होते हैं। जिन देशों का नाम इस समय 'यूरोप' है, उन्हीं को संस्कृत में 'हरिवर्ष' कहते थे। उन देशों को देखते हुए और जिनको हूण 'यहूदी' भी भी कहते हैं, उन देशों को देखकर चीन में आये। चीन से हिमालय और हिमालय से मिथिलापुरी को आये।

और इसी प्रकार श्रीकृष्ण तथा अर्जुन पाताल में अश्वतरी अर्थात् जिसको अग्नियान नौका कहते हैं, उस पर बैठ के पाताल में जाके (४०९) महाराजा युधिष्ठिर के यज्ञ में उद्दालक ऋषि को ले आये थे। धृतराष्ट्र का विवाह गांधार जिसको 'कंधार' कहते हैं, वहां की राजपुत्री से हुआ; माद्री पाण्डु की स्त्री 'ईरान' के राजा की कन्या थी। और अर्जुन का विवाह पाताल में जिसको 'अमेरिका' कहते हैं, वहां के राजा की लड़की उलोपी के साथ हुआ था। जो देश-देशान्तर द्वीप-द्वीपान्तर में आर्यावर्त्त वासी न जाते होते, तो ये सब बातें क्योंकर हो सकतीं ? [इसी प्रकार अन्य देशवासी कोलम्बस की यात्रा की बात है]

मनुस्मृति में जो समुद्र में जानेवाली नौका पर कर लेना लिखा है,[१] वह भी आर्यावर्त्त से द्वीपान्तर में जाने के कारण है। और जब महाराजा युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया था, उसमें सब भूगोल के राजाओं को बुलाने को निमंत्रण देने के लिये भीम अर्जुन नकुल और सहदेव चारों दिशाओं में गये थे। जो ये लोग विदेशयात्रा में दोष मानते होते, तो कभी न जाते।

सो प्रथम आर्यावर्त्तदेशीय लोग व्यापार राजकार्य और भ्रमण के लिए सब भूगोल में घूमते थे। और जो आजकल छूतछात और धर्म नष्ट

---

१. द्र० मनु० ८।४०६।। ऋषिदयानन्द ने इस श्लोक को समु० ६ (पृष्ठ २६९) पर उद्धृत करके (पृष्ठ २७१ पर) इसकी व्याख्या की है। पीछे षष्ठ प्रवाह में भी इसका उल्लेख है।

होने की शंका है, वह केवल मूर्खों के बहकाने और अज्ञान बढ़ने से है।

जो मनुष्य देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तरमें जाने-आनेमें शंका नहीं करते, वे देश-देशान्तर के अनेकविध मनुष्यों के समागम, रीति-भांति[1] देखने, अपना राज्य और व्यवहार बढ़ाने से निर्भय शूरवीर होने लगते हैं, और अच्छे व्यवहार का ग्रहण, बुरी बातों के छोड़ने में तत्पर होके बड़े ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं। [देखो, इस समय संसार के सब देश परस्पर आवागमन करके, एक दूसरे से विद्या-विज्ञान की बातें सीख, कैसे समृद्ध हो रहे हैं ? क्या वह एक दूसरे देश में जाये विना कभी सम्भव हैं ?]

भला जो लोग महाभ्रष्ट म्लेच्छकुलोत्पन्न वेश्या आदि के समागम से तो आचारभ्रष्ट धर्महीन नहीं होते, किन्तु देश-देशान्तर के उत्तम पुरुषों के साथ समागम में छूत और दोष मानते हैं !!! यह केवल मूर्खता की बात नहीं तो क्या है ?

हां, इतना कारण तो है कि जो लोग मांसभक्षण और मद्यपान करते हैं, उनके शरीर और वीर्यादि धातु भी दुर्गन्धादि से दूषित होते हैं (४०६)। इसलिये उनके संग करने से आर्यों को भी यह कुलक्षण न लग जायें, यह तो ठीक है। परन्तु इनसे व्यवहार और गुणग्रहण करने में कोई भी दोष वा पाप नहीं है, किन्तु जब इनके मद्यपानादि दोषों को छोड़ गुणों को ग्रहण करें, तो कुछ भी हानि नहीं। जब इनके स्पर्श और देखने से भी मूर्ख जन पाप गिनते हैं, इसी से उनसे युद्ध कभी नहीं कर सकते। क्योंकि युद्ध में उनको देखना और उनका स्पर्श होना अवश्य होता है। [इसीलिये आर्यावर्त्त देश, कुछसमय तक इनके पराधीन रह नाना कष्ट भोगता रहा]

सज्जन लोगों को राग-द्वेष अन्याय मिथ्याभाषणादि दोषों को छोड़ निर्वैर प्रीति परोपकार सज्जनतादि का धारण करना ही उत्तम 'आचार' है। और यह भी समझ लें कि धर्म हमारे आत्मा और कर्त्तव्य के साथ है। जब हम अच्छे काम करते हैं, तो हमको देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर जाने में कुछ भी दोष नहीं लग सकता। दोष तो पाप के काम करने में लगते हैं। हां इतना अवश्य चाहिये कि वेदोक्त धर्म का निश्चय और पाखण्डमत का खण्डन करना अवश्य सीख लें, जिससे कोई हमको झूठा और उलटा निश्चय न करा सके।

क्या बिना देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में राज्य वा व्यापार

१. अर्थात् 'रीति रिवाज'

किये स्वदेश की उन्नति कभी हो सकती है ? जब स्वदेश ही में स्वदेशी लोग व्यवहार करते, और परदेशी स्वदेश में व्यवहार वा राज्य करें, तो सिवाय दारिद्र्य और दुःख के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता (४१०)।

पाखण्डी लोग यह समझते हैं कि जो हम सामान्यजनों और देश-देशान्तर में जाने की आज्ञा देवेंगे, तो ये बुद्धिमान् होकर हमारे पाखण्ड-जाल में न फँसने से हमारी प्रतिष्ठा और जीविका नष्ट हो जावेगी। इसी-लिए भोजन-छादन में बखेड़ा डालते हैं कि वे दूसरे देश में न जा सकें। हां, इतना अवश्य चाहिये कि मद्यमांस का ग्रहण [परस्त्रीगमन आदि] कदापि भूलकर भी न करें।

क्या सब बुद्धिमानों ने यह निश्चय नहीं किया है कि जो राजपुरुषों में युद्ध समय में भी चौका लगाकर रसोई बनाके खाना अवश्य पराजय का हेतु है ? किन्तु क्षत्रिय लोगों का युद्ध में एक हाथ से रोटी खाते, जल पीते जाना, और दूसरे हाथ से शत्रुओं को घोड़े हाथी रथ पर चढ़ वा पैदल होके मारते जाना, अपना विजय करना ही **'आचार'** और शत्रुओं से परा-जित होना **'अनाचार'** है।

इसी मूढ़ता से इन लोगों ने चौका लगाते-लगाते, विरोध करते-कराते सब स्वातन्त्र्य आनन्द धन राज्य विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगाकर हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं, और इच्छा करते हैं कि कुछ पदार्थ मिले, तो पकाकर खावें। परन्तु वैसा न होने पर, जानो सब आर्यावर्त्त देशभर में चौका लगाके सर्वथा नष्ट कर दिया है। हाँ, जहाँ भोजन करें, उस स्थान को धोने, लेपन करने, झाड़ू लगाने, कूड़ा कर्कट दूर करने में प्रयत्न अवश्य करना चाहिये न कि मुसलमान वा ईसाइयों के समान भ्रष्ट पाकशाला करना।

प्रश्न—तो फिर, यह सखरी निखरी क्या है ?

उत्तर—जो जल आदि में अन्न पकाये जाते हैं, वह **'सखरी'** और जो घी दूध में पकाते हैं वह **'निखरी'** अर्थात् चोखी। यह भी इन धूर्तों का (४११) चलाया हुआ पाखण्ड है। क्योंकि जिसमें घी दूध अधिक लगे, उसको खाने में स्वाद, और उदर में चिकना पदार्थ अधिक जावे, इसीलिये यह प्रपंच रचा है। नहीं तो जो अग्नि वा काल से पका हुआ पदार्थ है, वह **'पक्का'**, और न पका हुआ **'कच्चा'** है जो पक्काखाना और कच्चा नखाना है, यह भी सर्वत्र ठीक नहीं। क्योंकि चणे आदि कच्चे[1] भी खाये जाते हैं।

---

१. कच्चे चने भिगोकर अथवा हरे चने कच्चे।

प्रश्न—द्विज अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य अपने हाथ से रसोई बनाके खावें, वा शूद्र के हाथ की बनाई खावें।

उत्तर—शूद्र के हाथ की बनाई खावें। क्योंकि द्विज अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य वर्णस्थ स्त्री-पुरुष विद्या पढ़ाने, राज्य पालने और पशु-पालन खेती और व्यापार के काम में तत्पर रहते हैं। परन्तु शूद्र के पात्र तथा उसके घर का पका हुआ अन्न आपत्काल के विना न खावें। सुनो प्रमाण—**आर्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्त्तारः स्युः ॥** आपस्तम्ब २।२।४।४॥

आर्यों के घर में शूद्र अर्थात् विद्याहीन अनाड़ी मूर्ख स्त्री-पुरुष (संस्कर्त्तारः) पाकादि-सेवा करें, परन्तु वे शरीर वस्त्र आदि से पवित्र रहें। आठवें दिन क्षौर नखछेदन करावें,[1] प्रतिदिन स्नान करके पाक बनाया करें, आर्यों को खिलाके आप खावें (४१२)।

प्रश्न—शूद्र के छूए हुए पके अन्न के खाने में जब दोष लगाते हैं, तो उसके हाथ का बनाया कैसे खा सकते हैं।

उत्तर—यह बात कपोलकल्पित झूंठी है। क्योंकि जिन्होंने गुड़ चीनी घृत पिशान शाक फल-मूल खाया उन्होंने जानो सब जगत् भर के हाथ का बनाया और उच्छिष्ट खा लिया। क्योंकि जब शूद्र चमार भङ्गी मुसलमान ईसाई आदि लोग खेतों में से ईख को काटते छीलते पीलकर रस निकालते हैं, तब मलमूत्रोत्सर्ग करके उहीं विना धोये हाथों से छूते, उठाते-धरते, आधा सांठा चूस रस पीके आधा उसी में डाल देते हैं और रस पकाते समय उस रस में रोटी भी पकाकर खाते हैं। जब चीनी बनाते हैं, तब पुराने जूते कि जिसके तले में विष्ठा मूत्र गोबर धूली लगी रहती है, उन्हीं जूतों से उसको रगड़ते हैं।[2] दूध में अपने घर के उच्छिष्ट पात्रों का जल डालते, उसी मे घृतादि रखते, और आटा पीसने के समय भी वैसे ही उच्छिष्ट हाथों से उठाते, और पसीना भी आटा में टपकता जाता है, इत्यादि। और फल मूल कन्द में भी ऐसी लीला होती है। जब इन पदार्थों को खाया, तो जानो सबके हाथ का खा लिया।

---

१. **शूद्राणामार्याधिष्ठितानामर्धमासि मासि वा वपनम्, आर्यवद् आचमनकल्पः ॥** बौधायन धर्मशास्त्र प्रश्न १, अ० ५, सूत्र ८९॥ चरक सं० सूत्र ८।१९। में पक्ष में तीन बार अर्थात् पांचवें दिन क्षौर आदि का विधान किया है। ऋषि दयानन्द ने मध्यम पक्ष स्वीकार करके स. प्र. में ८ वें दिन क्षौरादि का विधान लिखा है।

२. अब ऐसा न होकर, यन्त्रादि से होता है।

प्रश्न—फल-फूल-कन्द और रस इत्यादि अदृष्ट में दोष नहीं होता।

उत्तर—वाह जी वाह ! सत्य है कि जो ऐसा उत्तर न देते तो क्या धूल राख खाते ? गुड़ शक्कर मीठी लगती, दूध घी पुष्टि करता है, इसीलिये यह मतलबसिन्धु क्या नहीं रचा है ? अच्छा जो अदृष्ट में दोष नहीं तो भङ्गी वा मुसलमान अपने हाथों से (४१३) दूसरे स्थान में वनाकर तुमको आके देवें, तो खा लोगे वा नहीं ? जा कहो कि नहीं, तो अदृष्ट में दोष है। हां, मुसलमान ईसाई आदि मद्य-मांसाहारियों के हाथ के खाने में आर्यों को भी मद्यमांसादि खाना-पीना अपराध पीछे लग पड़ता है। परन्तु, आपस में आर्यों का एक भोजन होने में कोई भी दोष नहीं दीखता। [दूसरे, शुद्धता से और प्रेमभाव से बताया अन्न, किसी के भी हाथ का, खाने में कोई दोष नहीं लगता। परन्तु किसी भी रूप में अभक्ष्य मांसाहार कहना ठीक नहीं]।

जबतक एक मत, एक हानि-लाभ, एक सुख-दुःख परस्पर न मानें; तबतक उन्नति होना बहुत कठिन है। परन्तु केवल खाना-पीना ही एक होने से सुधार नहीं हो सकता, किन्तु जब तक बुरी बातें नहीं छोड़ते, और अच्छी बातें नहीं करते, तव तक बढ़ती के बदले हानि होती है।

विदेशियों के आर्यावर्त्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ाना, वा बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्याभाषणादि कुलक्षण, वेद-विद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं। जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पञ्च बन बैठता है।

क्या तुम लोग महाभारत की बातें, जो पांच सहस्र वर्ष के पहिले हुई थीं[1], उनको भी भूल गये? देखो. महाभारत युद्ध में सब लोग लड़ाई में सवारियों पर खाते पीते थे। आपस की फूट से कौरव पांडव और यादवों का सत्यानाश हो गया, सो तो हो गया, परन्तु **अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःखसागर में डूबा मारेगा ? उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्रहत्यारे**[2],

१. महाभारत युद्ध का समय लगभग इतना ही है। इसके प्रमाण के लिए चिन्तामणि वैद्य कृत **'महाभारत मीमांसा'** तथा पं० भगवद्दत्तकृत 'भारत वर्ष का बृहत् इतिहास' द्वि० संस्करण पृ० २१२—२१६ देखें। पाचात्य विद्वानों ने जो यह समय १४०० वर्ष ईसा पूर्व लिखा है, वह सर्वथा असत्य है।

२. अर्थात् कुलनाशक।

स्वदेशविनाशक नीच के दुष्टमार्ग में आर्य लोग अब तक भी चल कर दुःख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे कि यह राजयोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाय।

अब भक्ष्य और अभक्ष्य के विषय में लिखते हैं:—

भक्ष्याभक्ष्य दो प्रकार का होता है—एक धर्मशास्त्रोक्त, दूसरा वैद्यकशास्त्रोक्त। जैसे धर्मशास्त्र में—

अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च॥ मनु० ५।५॥

द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को मलीन विष्ठा मूत्रादि के संसर्ग से उत्पन्न हुए शाक फल-मूलादि न खाना [चाहिए]।

वर्जयेन्मधुमांसं च॥ मनु० २।१७७॥

जैसे अनेक प्रकार के मद्य, गांजा, भांग, अफीम आदि जो-जो—

बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते॥ शार्ङ्गधर ४।२१॥

बुद्धि का नाश करनेवाले पदार्थ हैं, उनका सेवन कभी न करें। और जितने अन्न सड़े-बिगड़े, दुर्गन्धादि से दूषित, अच्छे प्रकार न बने हुए, और मद्यमांसाहारी म्लेच्छ कि जिनका शरीर मद्यमांस के परमाणुओं ही से पूरित है, उनके हाथ का न खावें (४१५)।

मांस खाने से अनेक उपकारक प्राणियों की हिंसा होती है; इसीलिए मांस का भक्षण न करें। जैसे एक गाय के शरीर से दूध घी, बैल गाय उत्पन्न होने से एक पीढ़ी में असंख्यात मनुष्यों को सुख पहुंचता है। इसी प्रकार उपकारी पशुओं को न मारें और न मारने दें।

गवादि[1] पशु और कृष्यादि कर्मों की रक्षा और वृद्धि होकर सब प्रकार के उत्तम सुख मनुष्यादि प्राणियों को प्राप्त होते हैं और इसके विना निम्नलिखित सुख कभी नहीं प्राप्त हो सकते।

सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर ने इस सृष्टि में जो जो पदार्थ बनाए हैं, वे निष्प्रयोजन नहीं, किन्तु एक-एक वस्तु अनेक-अनेक प्रयोजन के लिये रची है। इसलिये उनसे वे ही प्रयोजन लेना न्याय है; अन्यथा अन्याय है। देखिये, जिस लिये यह नेत्र बनाया है, इससे वही कार्य लेना सबको उचित होता है, न कि उससे पूर्ण प्रयोजन न लेकर बीच ही में वह नष्ट कर दिया जावे। क्या जिन-जिन प्रयोजनों के लिये परमात्मा ने जो-जो पदार्थ बनाए हैं, उनसे वे-वें प्रयोजन न लेकर उनको प्रथम ही विनष्ट कर देना सत्पुरुषों

१. गोकरुणानिधि में यह विषय विस्तार से होने से, यहाँ गो. क. नि. से लिखा है।

के विचार में बुरा कर्म नहीं है? पक्षपात छोड़कर देखिए, गाय आदि पशु से और कृषि आदि कर्मों से सब संसार को असंख्य सुख होते हैं वा नहीं?

गोरक्षा का लाभ देखो कि जो एक गाय न्यून से न्यून दो सेर दूध देती हो, और दूसरी बीस सेर, तो इसके मध्यभाग प्रत्येक गाय के ग्यारह सेर दूध होने में कोई शंका नहीं। इस हिसाब से एक मास में सवा आठ मन दूध होता है। एक गाय कम से कम छै महीने, और दूसरी अधिक से अधिक अठारह महीने तक दूध देती है, तो दोनों का मध्य भाग प्रत्येक गाय के दूध देने में बारह महीने होते हैं। इस हिसाब से बारह महीनों का दूध निन्नानवे मन होता है। इतने दूध को औटा कर प्रति सेर में छटांक चावल और डेढ़ छटांक चीनी डालकर खीर बना खावें, तो प्रत्येक पुरुष के लिए दो सेर दूध की खीर पुष्कल होती है। क्योंकि यह भी एक मध्य भाग की गिनती है, अर्थात् कोई दो सेर की खीर से अधिक खा गया और कोई न्यून, इस हिसाब से एक प्रसूता गाय के दूध से एक हजार नव सौ अस्सी मनुष्य एक बार तृप्त होते हैं।

गाय न्यून से न्यून आठ और अधिक से अधिक अठारह बार ब्याती है। इसका मध्य भाग तेरह बार आया, तो पच्चीस हजार सात सौ चालीस मनुष्य एक गाय के जन्म भर के दूधमात्र से एक बार तृप्त हो सकते हैं।

इस गाय के एक पीढ़ी में छः बछियां और सात बछड़े हुए, इनमें से एक की मृत्यु रोगादि से होना सम्भव है, तो भी बारह रहे। उन छः बछियाओं के दूधमात्र से उक्त प्रकार से एक लाख चौवन हजार चारसौ चालीस मनुष्यों का पालन हो सकता है। अब रहे छः बैल, उनमें एक जोड़ी से दोनों साख में दो सौ मन अन्न उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार तीन जोड़ी छः सौ मन अन्न उत्पन्न कर सकती हैं, और उनके कार्य का मध्य भाग आठ वर्ष है। इस हिसाब से चार हजार आठ सौ मन अन्न न्यून से न्यून उत्पन्न करने की शक्ति एक जन्म में तीनों जोड़ी की। इतने अन्न से प्रत्येक मनुष्य का तीन पाव अन्न भोजन में गिने, तो दो लाख छप्पन हजार मनुष्यों का एक बार भोजन होता है।

दूध और अन्न को मिलाकर देखने से निश्चय है कि चार लाख दस हजार चार सौ चालीस मनुष्यों का पालन एक बार के भोजन से होता है। अब छः गाय की पीढ़ी परपीढ़ियों का हिसाब लगाकर देखा जावे, तो असंख्य मनुष्यों का पालन हो सकता है। इसके मांस से अनुमान है कि केवल अस्सी माँसाहारी मनुष्य एक बार तृप्त हो सकते हैं। देखो, तुच्छ

लाभ के लिए लाखों प्राणियों को मार असंख्य मनुष्यों की हानि करना महापाप क्यों नहीं ?

यद्यपि गाय के दूध से भैंस का दूध कुछ अधिक और वैलों से भैसा कुछ न्यून लाभ पहुंचाता है; तथापि जितना गाय के दूध और वैलों के उपयोग से मनुष्यों को सुखों का लाभ होता है, उतना भैंसियों के दूध और भैंसों के वाहन कर्म से नहीं होता। क्योंकि जितने आरोग्यकारक और बुद्धि-वर्द्धक आदि गुण गाय के दूध और वैलों में भार ढोने के गुण होते हैं, उतने भैंस के दूध में गुण और भैंसे आदि में ढ़ोने के गुण नहीं हो सकते। गाय के दूध से जितनी बुद्धि वृद्धि व वल वृद्धि के लाभ होते हैं, उतने भैंस व अन्य पशुओं के दूध से नहीं। इसलिए आर्यों ने गाय मुख्योपकारक और सर्वोत्तम मानी है। और जो कोई अन्य विद्वान् होगा, वह भी इसी प्रकार समझेगा (स० प्र० १० समु.)।

और ऊंटनी का दूध गाय और भैंस के दूध से भी यद्यपि अधिक होता है, तो भी इनका दूध गाय के सदृश नहीं। ऊंट और ऊंटनी के गुण भार उठाकर शीघ्र पहुंचाने के लिए प्रशंसनीय हैं।

अब एक बकरी कम से कम एक और अधिक से अधिक पांच सेर दूध देती है। इसका मध्य भाग प्रत्येक बकरी से तीन सेर दूध होता है। और न्यून से न्यून तीन महीने और अधिक से अधिक पांच महीने तक दूध देती है। तो प्रत्येक बकरी के दूध देने में मध्य भाग चार महीने हुए। वह एक मास में सवा दो मन और चार मास में नव मन होता है। पूर्वोक्त प्रकारानुसार इस दूध से एक सौ अस्सी मनुष्यों की तृप्ति होती है। और एक बकरी एक वर्ष में दो वार व्याती है। इस हिसाब से एक वर्ष में बकरी के दूध के एक वार भोजन से तीन सौ साठ मनुष्यों की तृप्ति होती है। कोई बकरी न्यून से न्यून चार वर्ष और कोई अधिक से अधिक आठ वर्ष तक व्याती है। इसका मध्य भाग छः वर्ष हुआ; तो जन्म भर के दूध से नो हजार एक सौ साठ मनुष्यों का एक वार के भोजन से पालन होता है।

अब उसके वच्चा वच्ची मध्य भाग से चौबीस हुए; क्योंकि कोई न्यून से न्यून एक और कोई अधिक से अधिक तीन वच्चों से व्याती है। उनमें से दो का अल्प मृत्यु समझो। रहे बाइस; उनमें से बारह बकरियों के दूध से पच्चीस हजार नव सौ बीस मनुष्यों का एक दिन पालन होता है। उसकी पीढ़ी परपीढ़ी के हिसाव लगाने से इनसे भी असंख्य मनुष्यों

का पालन हो सकता है। और बकरे भी बोझ उठानें आदि प्रयोजनों में आते हैं।

और इसी प्रकार भेड़-भेड़ी के ऊन के वस्त्रों से मनुष्यों को बड़े सुख लाभ होते हैं। यद्यपि भेड़ी का दूध बकरी के दूध से कुछ कम होता है, तथापि बकरी के दूध से उनके दूध में बल और घृत अधिक होता है। इसी प्रकार अन्य दूध देने वाले पशुओं के दूध से भी अनेक प्रकार के सुख लाभ होते हैं।

जैसे ऊंट ऊँटनी से लाभ होते हैं, वैसे ही हमें घोड़ा-घोड़ी और हाथी आदि से अधिक कार्य सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार गदहा, सुअर, कुत्ता, मुर्गा, मुर्गी और मोर अदि पक्षियों से भी अनेक उपकार होते हैं। जो पुरुष हरिण और सिंह आदि पशु और मोर आदि पक्षियों से भी उपकार लेना चाहें; तो ले सकते हैं, परन्तु सबका पालन उत्तरोत्तर समयानुकूल होवेगा। (द्र.,गो. क. नि.)। इन पशुओं को मारने वालों को सब मनुष्यों की हत्या करनेवाला जानियेगा (स. प्र.)।[1]

वर्तमान में परमोपकारक गो की रक्षा में मुख्य तात्पर्य है। दो ही प्रकार से मनुष्य आदि की प्राणरक्षा, जीवन, सुख, विद्या, बल और पुरुषार्थ आदि की वृद्धि होती है एक अन्न पान, दूसरा आच्छादन। इनमें से प्रथम के विना मनुष्यादि का सर्वथा प्रलय और दूसरे के विना अनेक प्रकार की पीड़ा होती है।

देखिये, जो पशु निःसार घास, तृण, पत्ते, फल, फूल अदि खावें और सार दूध आदि अमृतरूपी रत्न देवें; हल गाड़ी में चल के अनेकविध अन्न आदि उत्पन्न कर सबके बुद्धि बल पराक्रम को वढ़ा के नीरोगता करें; पुत्र पुत्री और मित्र आदि के समान पुरुषों के साथ विश्वास और प्रेम करे; जहां बांधे, वहां बंधे रहें; जिधर चलावें, उधर चलें; जहां से हटावें, वहां से हट जावें; देखने और बुलाने पर समीप चले आवें; जब कभी व्याघ्रादि पशु वा मारने वाले को देखें, अपनी रक्षा के लिये पालन करने वाले के समीप दौड़कर आवें कि यह हमारी रक्षा करेगा; जिनके मरे पर चमड़ा

१. मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः ।
आत्मनः पुत्रवत्पश्येत्तैरेषामन्तरं कियत् ।। भाग. ७।१४।६।।

"हरिण, ऊंट, गधा, बन्दर, चूहा, सांप आदि रेंगकर चलने वाले प्राणी, पक्षी और मक्खी आदि को पुत्र के समान ही समझें; उनमें और अपने सन्तान में अन्तर ही कितना है ?

भी कंटक आदि से रक्षा करे; जंगल में चर के अपने बच्चे और स्वामी के लिये, दूध देने को नियत स्थान पर नियत समय चले आवें; अपने स्वामी की रक्षा के लिये तन मन लगावें; जिनका सर्वस्व राजा और प्रजा आदि मनुष्यों के सुख के लिये है; इत्यादि शुभगुणयुक्त सुखकारक पशुओं के गले छुरों से काटकर जो अपना पेट भर सब संसार की हानि करते हैं; क्या संसार में उनसे भी अधिक कोई विश्वासघाती, अनुपकारी, दुःख देने वाले और पापीजन होंगे ?

इसीलिये यजुर्वेद के प्रथम ही मंत्र में परमात्मा की आज्ञा है कि— **'अघ्न्याः यजमानस्य पशून पाहि'** हे पुरुष ! तू इन पशुओं को कभी मत मार और यजमान अर्थात् सबके सुख देने वाले जनों के सम्बन्धी पशुओं की रक्षा कर, जिनसे तेरी भी पूरी रक्षा होवे। और इसीलिए ब्रह्मा से लेके आज पर्यन्त आर्य लोग पशुओं की हिंसा में पाप और अधर्म समझते थे और अब भी समझते हैं। और इनकी रक्षा में अन्न भी मँहगा नहीं होता; क्योंकि दूध आदि के अधिक होने से दरिद्री को भी खान पान मिलने पर न्यून ही अन्न खाया जाता है, और अन्न के कम खाने से मल भी कम होता है; मल के न्यून होने से दुर्गन्ध भी न्यून होता है; दुर्गन्ध के स्वल्प होने से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि भी विशेष होती है। उससे रोगों की न्यूनता होने से सबको सुख बढ़ता है।

इनसे यह ठीक है कि गौ आदि पशुओं के नाश होने से राजा और प्रजा दोनों का भी नाश हो जाता है। क्योंकि जब पशु न्यून होते हैं, तब दूध आदि पदार्थ और खेती आदि कार्यों की भी घटती होती है। देखो इसी से जितने मूल्य से जितना दूध और घी आदि पदार्थ तथा बैल आदि पशु सात सौ वर्ष के पूर्व मिलते थे, उतना दूध घी और बैल आदि पशु इस समय दस गुणे मूल्य से भी नहीं मिल सकते। क्योंकि सात सौ वर्ष के पीछे इस देश में गवादि पशुओं को मारने वाले मांसाहारी विदेशी मनुष्य बहुत आ बसे हैं। वे इन सर्वोपकारी पशुओं के हाड़ माँस तक भी नहीं छोड़ते।

देखो जब, आर्यों का राज्य सर्वत्र भूभण्डल पर था, तब ये महोपकारक गाय आदि पशु नहीं मारे जाते थे। तभी आर्य्यावर्त वा अन्य भूगोल के देशों में बड़े आनन्द में मनुष्यादि प्राणी वर्त्तते थे। क्योंकि दूध, घी, बैल आदि पशुओं की बहुताई होने से अन्न रस पुष्कल प्राप्त होते थे। जब से विदेशी माँसाहारी इस देश में आके गौ आदि उपकारक पशुओं के मारने वाले मद्यपायी राज्याधिकारी हुए हैं, तब से क्रमशः आर्यों के दुःख की

बढ़ती होती जाती है। क्योंकि **'नष्टे मूले नैव फलं न पुष्पम्'**। जब वृक्ष का मूल ही काट दिया जाय, तो फल-फूल कहाँ से हों? जब कारण का नाश कर दे, तो कार्य नष्ट क्यों न हो जावे?

हे मांसहारियो! तुम लोग जब कुछ काल के पश्चात् पशु न मिलेंगे, तब मनुष्यों का मांस भी छोड़ोगे वा नहीं? हे परमेश्वर! तू क्यों इन पशुओं पर, जो कि बिना अपराध मारे जाते हैं, दया नहीं करता? क्या उन पर तेरी प्रीति नहीं है? क्या इनके लिये तेरी न्याय सभा बन्द हो गई है? क्यों उनकी पीड़ा छुड़ाने पर ध्यान नहीं देता और उनकी पुकार नहीं सुनता? क्यों इन मांसाहारियों के आत्माओं में दया प्रकाश कर निष्ठुरता, कठोरता, स्वार्थपन और मूर्खता आदि दोषों को दूर नहीं करता? जिससे ये इन बुरे कामों से बचें।

हिंसक—ईश्वर ने, सब पशु आदि सृष्टि मनुष्य के लिए रची है, और मनुष्य अपनी भक्ति के लिए। इसलिये मांस खाने में दोष नहीं हो सकता।

रक्षक—भाई! सुनो, तुम्हारे शरीर को जिस ईश्वर ने बनाया है, क्या उसी ने पशु आदि के शरीर नहीं बनाए हैं? जो तुम कहो कि पशु आदि हमारे खाने को बनाये हैं, तो हम कह सकते हैं कि हिंसक पशुओं के लिए तुमको उसने रचा है। क्योंकि जैसे तुम्हारा चित्त उनके मांस पर चलता है; वैसे ही सिंह, गृध्र आदि का चित्त भी तुम्हारे मांस खाने पर चलता है। तो उनके लिए तुम क्यों नहीं।

हिंसक—देखो, ईश्वर ने पुरुषों के दांत कैसे पैने माँसाहारी पशुओं के समान बनाए हैं। इससे हम जानते हैं कि मनुष्यों को मांस खाना उचित है।

रक्षक—जिन व्याघ्रादि पशुओं के दांत के दृष्टांत से अपना पक्ष सिद्ध किया चाहते हो, क्या तुम भी उनके तुल्य ही हो? देखो! तुम्हारी मनुष्य जाति, उनकी पशु जाति; तुम्हारे दो पग और उनके चार; तुम विद्या पढ़कर-पढ़ाकर सत्यासत्य का विवेक कर सकते, वे नहीं। और यह तुम्हारा दृष्टांत भी युक्त नहीं; क्योंकि जो दांत का दृष्टांत लेते हो, तो बन्दर के दांतों का दृष्टान्त क्यों नहीं लेते? देखो बन्दरों के दांत सिंह और बिल्ली आदि के समान हैं और वे मांस नहीं खाते। मनुष्य और बन्दर की आकृति भी बहुत सी मिलती हैं; जैसे मनुष्यों के हाथ पग और नख आदि होते हैं, वैसे ही बन्दरों के भी हैं। इसलिये परमेश्वर ने मनुष्यों को दृष्टाँत

से उपदेश किया है कि जैसे वन्दर मांस कभी नहीं खाते और फलादि खाकर निर्वाह करते हैं, वैसे तुम भी किया करो। जैसे वन्दरों का दृष्टान्त सांगोपांग मनुष्यों के साथ घटता है, वैसा अन्य किसी का नहीं। इसलिये मनुष्यों को अति उचित है कि मांस खाना सर्वदा छोड़ देवें।

हिंसक—देखो, जो मांसाहारी पशु और मनुष्य हैं, वे वलवान और जो मांस नहीं खाते हैं, वे निर्वल होते हैं। इससे मांस खाना चाहिए।

रक्षक—क्यों अल्प समझ की वातें मानकर कुछ भी विचार नहीं करते। देखो, सिंह मांस खाता और सूअर वा अरणा भैंसा मांस कभी नहीं परन्तु जो सिंह वहुत मनुष्यों के समुदाय में गिरे, तो एक या दो को मारता और एक दो गोला या तलवार के प्रहार से मर भी जाता है और जव जंगली सुअर वा अरणा भैंसा जिस प्राणी समुदाय में गिरता हैं, तब उन अनेक सवारों और मनुष्यों को मारता और अनेक गोली वरछी तथा तलवार आदि के प्रहार से भी शीघ्र नहीं गिरता, और सिंह उससे डरके अलग सटक जाता है और वह सिंह से नहीं डरता।

और जो प्रत्यक्ष दृष्टान्त देखना चाहो, तो एक मांसाहारी का एक दूध घी और अन्नाहारी मथुरा के मल्ल चौवे से वाहु-युद्ध कराके देखलो। अनुमान है कि चौवा मांसाहारी को पटक उसकी छाती पर चढ़ ही बैठेगा। पुनः परीक्षा होगी, किस-किस के खाने से वल न्यून और अधिक होता है। भला, तनिक विचार करो कि छिलकों के खाने से अधिक बल होता है अथवा रस और जो सार है, उसके खाने से ? मांस छिलके के समान और दूध घी सार रस के तुल्य हैं। इसको जो युक्तिपूर्वक खावे, तो मांस से अधिक गुण और वलकारी होता है। फिर मांस का खाना व्यर्थ और हानिकारक, अन्याय, अधर्म और दुष्ट कर्म क्यों नहीं ?

हिंसक—जिस देश में सिवाय मांस के अन्य कुछ नहीं मिलता, वहां वा आपत्काल में अथवा रोगनिवृत्ति के लिए मांस खाने में दोष होता है वा नहीं ?

रक्षक—यह आपका कहना व्यर्थ है। क्योंकि, जहां मनुष्य रहते हैं, वहां पृथिवी अवश्य होती है। जहां पृथिवी है, वहां खेती वा फल फूल आदि होते हैं, और जहाँ कुछ भी नहीं होता, वहां मनुष्य भी नहीं रह सकते। और जहां ऊसर भूमि है, मिष्ट जल और फलाहारादि के न होने से मनुष्यों का रहना भी दुर्घट है। और आपत्काल में भी अन्य उपायों से निर्वाह कर सकते हैं। जैसे माँस के न खाने वाले करते हैं। और विना मांस के रोगों

का निवारण भी औषधियों से यथावत होता है; इसीलिये मांस खाना किसी भी दशा में अच्छा नहीं।

हिंसक—जो कोई भी मांस न खावे, और सभी अहिंसक हो जायें, तो व्याघ्रादि पशु इतने वढ़ जाय कि पृथिवी पर भी न समावें और सब गाय आदि पशुओं को ही मार खाँय और तुम्हारा पुरुषार्थ ही व्यर्थ हो जाय (स. प्र. १० समु.)। इसीलिए ईश्वर ने उनकी उत्पत्ति भी मनुष्यों के लिए की है और मनुष्यों से अधिक की है। तो मांस क्यों न खाना चाहिए?

रक्षक—वाह! वाह! यह बुद्धि का विपर्यास आपको माँसाहार ही से हुआ होगा। देखो, मनुष्यों का माँस तो कोई नहीं खाता; पुनः वे क्यों न वढ़ गए? और इन पशुओं की अधिक उत्पत्ति इसलिए है कि एक मनुष्य के पालन व्यवहार में अनेक पशुओं की अपेक्षा है। इसलिए ईश्वर ने उनको अधिक उत्पन्न किया है।

प्रश्न—हिंसक हानिकारक पशुओं का क्या करें?

उत्तर—यह राजपुरुषों का काम है कि जो हानिकारक पशु वा मनुष्य हों, उनको दण्ड देवें, और प्राण से भी वियुक्त करदें।

प्रश्न—फिर क्या उनका मांस फेंक दें?

उत्तर—चाहे फेंक दें; चाहे कुत्ते आदि मांसाहारियों को खिला देवें, वा जला देवें। अथवा कोई माँसाहारी मनुष्य खावे, तो भी संसार की कुछ हानि नहीं होती। किन्तु उस मनुष्य का स्वभाव मांसाहारी होकर हिंसक हो सकता है।

जितना हिंसा और चोरी विश्वासघात छल-कपट आदि से पदार्थों को प्राप्त होकर भोग करना है, वह **'अभक्ष्य'** और अहिंसा धर्मादि कर्मों से प्राप्त होकर भोजनादि करना है, वह **'भक्ष्य'** है।

हिंसक—ये जितने उत्तर दिए वे सब, व्यवहार सम्बन्धी हैं; परन्तु पशुओं को मार के मांस खाने में अधर्म तो नहीं होता, और जो होता भी है, तो तुमको होता होगा; क्योंकि तुम्हारे मत में मांस भक्षण का निषेध है। इसलिए तुम मत खाओ और हम खावेंगे; क्योंकि हमारे मत में मांस खाना अधर्म नहीं है।

रक्षक—हम तुमसे पूछते हैं कि धर्म और अधर्म व्यवहार ही में होते हैं वा अन्यत्र? तुम कभी सिद्ध न कर सकोगे कि व्यवहार से भिन्न धर्माधर्म होते हैं। जिस-जिस व्यवहार से दूसरों की हानि हो, वह **'अधर्म'** और जिस-जिस व्यवहार से उपकार हो, वह-वह **'धर्म'** कहलाता है। तो लाखों

मनुष्यों के सुख लाभकारक पशुओं का नाश करना अधर्म और उनकी रक्षा से लाखों को सुख पहुंचाना धर्म क्यों नहीं मानते ? देखो, चोरीजारी आदि कर्म इसलिए अधर्म हैं कि इनसे दूसरे की हानि होती है। नहीं तो, जो प्रयोजन धनादि से उनके स्वामी सिद्ध करते हैं, वे ही प्रयोजन उन चोरादि के भी सिद्ध होते हैं। इसलिए यह निश्चित है कि जो जगत् में हानिकारक कर्म हैं, वे वे 'अधर्म' और जो जो परोपकारक कर्म हैं, वे वे 'धर्म' कहाते हैं।

जब एक आदमी की हानि करने से चोरी आदि कर्म पाप में गिनते हो, तो गवादि पशुओं को मार के बहुतों की हानि करना महापाप क्यों नहीं ? देखो, मांसाहारी मनुष्यों में दया आदि उत्तम गुण होते ही नहीं, किन्तु वे स्वार्थवश होकर दूसरे की हानि करके अपना प्रयोजन सिद्ध करने ही में सदा रहते हैं। जब मांसाहारी किसी पुष्ट पशु को देखता है, तभी उसकी इच्छा होती है कि इसमें माँस अधिक है, मारकर खाऊं तो अच्छा हो। और जब मांस का न खाने वाला उसको देखता है, तो प्रसन्न होता है कि यह पशु आनन्द में है। जैसे सिंह आदि माँसाहारी पशु किसी का उपकार तो नहीं करते, किन्तु अपने स्वार्थ के लिए दूसरे का प्राण भी ले मांस खाकर अति प्रसन्न होते हैं, वैसे ही मांहासारी मनुष्य भी होते हैं। इसलिये मांस का खाना किसी मनुष्य को किसी भी दशा में उचित नहीं।

हिंसक—अच्छा, जो यही बात है, तो जब तक पशु काम में आवें, तब तक उनका मांस न खाना चाहिये। जब बूढ़े हो जावें वा मर जावें, तब तो खाने में कुछ भी दोष नहीं ?

रक्षक—जैसे दोष, उपकार करने वाले माता पिता आदि के वृद्धावस्था में मारने और उनके मांस खाने में हैं, वैसे ही उन पशुओं की सेवा न कर मार के मांस खाने में दोष है। और जो मरे पश्चात् उनका मांस खावें, तो उसका स्वभाव मांसाहारी होने से अवश्य हिंसक होके हिंसारूपी पाप से कभी न बच सकेगा। इसलिये किसी अवस्था में मांस न खाना चाहिये।

हिंसक—जिन पशुओं और पक्षियों अर्थात् जंगल में रहने वालों से उपकार किसी का नहीं होता और हानि होती है, उनका मांस खाना चाहिए वा नहीं ?

रक्षक—न खाना चाहिये। क्योंकि वे भी उपकार में आ सकते हैं। देखो, सौ भंगी जितनी शुद्धि करते हैं, उनसे अधिक एक सुअर वा मुर्गा

अथवा मोर आदि पक्षी, सर्प आदि हिंसक कृमि की निवृत्ति करने से पवित्रता और अनेक उपकार करते हैं। और जैसे मनुष्यों का खान-पान दूसरे के खाने पीने से उनका जितना अनुपकार होता है, वैसे जंगली मांसाहारी का अन्न जंगली पशु और पक्षी हैं। और जो विद्या वा विचार से सिंह आदि वनस्थ पशु और और पक्षियों से उपकार लेवें, तो अनेक प्रकार का लाभ उनसे भी हो सकता है। इस कारण मांसाहार का सर्वथा निषेध होना चाहिये।

भला, जिनके दूध आदि खाने पीने में आते हैं, वे माता पिता के समान माननीय क्यों न होने चाहिये? ईश्वर की सृष्टि से भी विदित होता है कि मनुष्यों से पशु और पक्षी आदि अधिक रहने से कल्याण है। क्योंकि ईश्वर ने मनुष्य के खाने-पीने के पदार्थों से भी पशु पक्षियों के खाने-पीने के पदार्थ घास वृक्ष फूल फलादि अधिक रचे हैं, और वे विना जोते बोये सींचे पृथिवी पर स्वयं उत्पन्न होते हैं, और ईश्वर वहां वृष्टि भी करता है, इसलिये समझ लीजिये कि ईश्वर का अभिप्राय उनके मारने में नहीं, किन्तु रक्षा करने में है।

हिंसक—जो मनुष्य पशु मार के मांस खावें, उनको पाप होता है। और जो बिकता मांस मूल्य से लें वा भैरव चामुण्डा, दुर्गा, जखैया, वाममार्ग अथवा यज्ञ आदि की रीति से चढ़ा समर्पण कर खावें, तो उनको पाप नहीं होना चाहिये, क्योंकि वे विधि करके खाते हैं।

रक्षक—सुनो भाई? जो कोई मांस न खावे, न मांस खानेका उपदेश और न अनुमति आदि देवे, तो पशु आदि कभी न मारे जावें। क्योंकि इस व्यवहार में वहकावट, लाभ और विक्री न हो, तो प्राणियों का मारना बन्द हो ही जावे। इसमें प्रमाण भी है:—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः॥

अर्थ—अनुमति=मारने की सलाह देने, विशसन=मांस के काटने, निहन्तृत्व=पशु आदि के मारने, क्रय=उसको मारने के लिये लेने और विक्रय=बेचने, संस्कार=मांस के पकाने, उपहरण=परसने और खादन=खाने वाले, ये सब आठ मनुष्य घातक हिंसक कहाते हैं अर्थात् ये सब पापकारी हैं।

और भैरव आदि के निमित्त से भी मांस खाना, मारना वा मरवाना महापाप कर्म है। इसलिये दयालु परमेश्वर ने वेदों में मांस खाने वा पशु

आदि के मारने की विधि नहीं लिखी, परन्तु 'पशुं मा हिंसीः' कहकर मारने का निषेध किया है।

मद्य भी मांसखाने का ही कारण है, इसलिये यहाँ संक्षेप से मद्यपान के दोष भी लिखते हैं—

प्रमत्त—कहो जी ! मांस तो छूटा सो छूटा, परन्तु मद्य पीने में तो कोई भी दोष नहीं ?

शान्त—मद्य पीने में भी वैसे ही दोष हैं, जैसे कि मांस खाने में। मनुष्य मद्य पीने से नशे के कारण नष्ट बुद्धि होकर अकर्त्तव्य कर लेता और कर्त्तव्य को छोड़ देता है, न्याय का अन्याय और अन्याय का न्याय आदि विपरीत कर्म करता है। और मद्य की उत्पत्ति विकृत पदार्थों से होती है, और वह मांसाहारी अवश्य हो जाता है। इसलिये इसके पीने से आत्मा में विकार उत्पन्न होते हैं और वह विद्यादि शुभ गुणों से रहित होकर उन दोषों में फँस कर अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, द्वारा प्राप्त होनेवाले उत्तम फलों को छोड़, पशुवत् आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि कर्मों में प्रवृत्त होकर अपने मनुष्य जन्म को व्यर्थ कर देता है। इसलिए नशा अर्थात् मदकारक द्रव्यों का सेवन भी किसी भी दशा में किसी को भी न करना चाहिये।

जैसा मद्य है, वैसे भांग आदि पदार्थ सिगरेट, चुट्टा, बीड़ी, चरस आदि भी मादक हैं, इसलिये इनका भी सेवन कभी न करें। क्योंकि ये भी बुद्धि का नाश करके प्रमाद, आलस्य और हिंसा आदि में मनुष्य को लगा देते हैं। इसलिये मद्यपान के समान इनका भी सर्वथा निषेध ही है।

इस कारण, हे धार्मिक सज्जन लोगो ! आप इन पशुओं की रक्षा तन, मन और धन से क्यों नहीं करते ? हाय ! ! बड़े शोक की बात है कि जब हिंसक लोग गाय बकरे आदि पशु और मोर आदि पक्षियों को मारने के लिये ले जाते हैं, तब वे अनाथ तुम-हमको देख के राजा और प्रजा पर बड़े शोक प्रकाशित करते हैं-कि देखो ? हमको विना अपराध बुरे हाल से मारते हैं, और हम रक्षा करने तथा मारने वालों को भी दूध आदि अमृत पदार्थ देने के लिए उपस्थित रहना चाहते हैं और मारे जाना नहीं चाहते। देखो, हम लोगों का सर्वस्व परोपकार के लिये है, और हम इसीलिये पुकारते हैं कि हम को आप लोग बचावें। हम तुम्हारी भाषा में अपना दुःख नहीं समझा सकते, और आप लोग हमारी भाषा नहीं जानते। नहीं तो

क्या हमसे भी किसी को यदि कोई मारता, तो हम भी आप लोगों के सदृश अपने मारने वालों को न्याय-व्यवस्था से फांसी पर न चढ़वा देते। हम इस समय अतीव कष्ट में हैं, क्योंकि कोई भी हमको बचाने में उद्यत नहीं होता। और जो कोई होता है, तो उससे मांसाहारी द्वेष करते हैं।

अस्तु स्वार्थके लिए द्वेष करो, तो करो। क्योंकि **'स्वार्थी दोषं न पश्यति'** जो स्वार्थ साधन में तत्पर है, वह अपने दोषों पर ध्यान नहीं देता, किन्तु दूसरों को हानि हो तो हो, पर मुझको सुख होना चाहिये, ऐसा विचारता है। परन्तु जो उपकारी धार्मिक सज्जन आप्त विद्वान् हैं, वे इनके बचाने में अत्यन्त पुरुषार्थ करें। जैसा की आर्य लोग सृष्टि के आरम्भ से आज तक वेदोक्त रीति से प्रशंसनीय कर्म करते आये हैं; वैसे ही सब भूगोलस्थ सज्जन मनुष्यों को करना उचित है।

धन्य है आर्यावर्त्त देशवासी आर्य लोगों को कि जिन्होंने ईश्वर के सृष्टिक्रम के अनुसार परोपकार ही में अपना तन, मन, धन लगाया और लगाते हैं। इसीलिये आर्य्यावर्त्तीय राजा, महाराजा, प्रधान और धनाढ्य लोग आधी पृथिवी में जंगल रखते थे कि जिससे पशु और पक्षियों की रक्षा होकर औषधियों के सार दूध आदि पवित्र पदार्थ उत्पन्न हों, जिनके खाने-पीने से आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम आदि सद्गुण बढ़ें। और वृक्षों के अधिक होने से वर्षा जल और वायु में आर्द्रता और शुद्धि अधिक होती है। पशु और पक्षी आदि के अधिक होने से खात=खाद भी अधिक होता है। परन्तु इस समय के मनुष्यों का इससे विपरीत व्यवहार है कि जंगलों को काट और कटवा डालना, पशुओं को मार और विष्टा आदि का खात खेतों में डाल अथवा डलवा कर रोगों की वृद्धि करके संसार का अहित करना, स्वप्रयोजन साधना और पर-प्रयोजन पर ध्यान न देना, इत्यादि काम उल्टे हैं।

'विषादप्यमृतम् ग्राह्यम्' सत्पुरुषों का यही सिद्धान्त है कि विष से भी अमृत लेना। इसी प्रकार गाय आदिका मांस विषवत् महारोगकारी को छोड़ कर, उनसे उत्पन्न हुए जो दूध आदि अमृत रोगनाशक हैं, उनको लेना। अतएव इनकी रक्षा करके विषत्यागी और अमृतभोजी सबको होना चाहिए। सुनो बन्धुवर्गो! तुम्हारा तन, मन, धन यदि गाय आदि की रक्षारूप परोपकार में न लगे, तो किस काम का है? देखो परमात्मा का स्वभाव कि जिसने सब विश्व और सब पदार्थ परोपकार ही के लिये रच रक्खे हैं, वैसे तुम भी अपना तन, मन, धन, परोपकार ही के अर्पण करो।

बड़े आश्चर्य की बात है कि पशुओं को पीड़ा न होने के लिये न्याय पुस्तक में व्यवस्था भी लिखी है कि जो पशु दुर्बल और रोगी हों, उनको कष्ट न दिया जाये और जितना बोझ सुखपूर्वक उठा सकें, उतना ही उन पर धरा जावे। अंग्रेजी शासन के समय श्रीमती विक्टोरिया महाराणी का विज्ञापन भी प्रसिद्ध है कि इन अव्यक्तवाणी पशुओं को जो दुःख दिया जाता है, वह न दिया जावे, तो क्या भला मार डालने से भी अधिक कोई दुःख होता है ? क्या वह फांसी से अधिक दुःख बन्दी गृह में होता है ? जिस किसी अपराधी से पूछा जाय कि तू फांसी चढ़ने में प्रसन्न है वा बन्दी-घर के रहने में ? तो वह स्पष्ट कहेगा कि फांसी में नहीं, किन्तु बन्दीघर के रहने में।

और जो कोई मनुष्य भोजन करने को उपस्थित हो, उसके आगे से भोजन के पदार्थ उठा लिये जावें और उसको वहां से दूर किया जावे, तो क्या वह सुख मानेगा ? ऐसे ही आजकल के समय में कोई गाय आदि पशु सरकारी जंगल में जाकर घास और पत्ता जो कि उन्हीं के भोजनार्थ है, विना महसूल दिये खावें वा खाने को जावें, तो वेचारे उन पशुओं और उनके स्वामियों की दुर्दशा होती है। जंगल में आग लग जावे, तो कुछ चिन्ता नहीं, किन्तु वे पशु न खाने पावें। हम कहते हैं कि किसी अति क्षुधातुर राजा वा राजपुरुष के सामने आये चावल आदि वा डबल रोटी आदि छीन कर न खानें देवें और उनकी दुर्दशा की जावे, तो इनको दुःख विदित न होगा ? क्या वैसा ही उन पशु पक्षियों और उनके स्वामियों को न होता होगा ?

ध्यान देकर सुनिए कि जैसा दुःख सुख अपने को होता है, वैसा ही औरों को समझा कीजिये। और यह भी ध्यान में रखिये वे पशु आदि और उनके स्वामी तथा खेती आदि कर्म करने वाले प्रजा के पशु आदि और मनुष्यों से अधिक पुरुषार्थ ही से किसी राष्ट्र का ऐश्वर्य अधिक बढ़ता और न्यून से नष्ट हो जाता है, इसीलिये राजा प्रजा से कर लेता है कि उनकी रक्षा यथावत् करे, न कि राजा प्रजा के जो सुख के कारण गाय आदि पशु हैं, उनका नाश किया जावे। इसीलिये आज तक जो हुआ सो हुआ; आंखें खोलकर सबके हानिकारक कर्मों को न कीजिये और न करने दीजिये। हां, हम लोगों का यही काम है कि आप लोगों को भलाई और बुराई के कामों को जता देवें, और आप लोगों का यही काम है कि पक्षपात छोड़ सबकी रक्षा और बढ़ती करने में तत्पर रहें। सर्वशक्तिमान

जगदीश्वर हम और आप पर पूर्ण कृपा करे कि जिससे हम और आप लोग विश्व के हानिकारक कर्मों को छोड़ सर्वोपकारक कर्मों को करके सब लोग आनन्द में रहें। इन सब बातों को केवल सुन मत डालना, किन्तु सुन कर हृदय में रखना और इन अनाथ पशुओं के प्राणों को शीघ्र बचाना।

हे महाराजाधिराज जगदीश्वर! जो इनको कोई न बचावे, तो आप इनकी रक्षा करने और हमसे कराने में शीघ्र उद्यत हूजिए।'[1]

प्रश्न[2]—आप तो मांसभक्षण का निषेध करते हैं, परन्तु वेदों और अन्य शास्त्रों में तो मांस खाने की बात लिखी है?

उत्तर—वेद में कहीं पर भी मांस खाने की बात नहीं लिखी है। देखो, यजुर्वेद के अध्याय १८ में नाना प्रकार के जीवनोपयोगी पदार्थों व खाद्य द्रव्यों का वर्णन है, परन्तु मांस और सुरा का वहाँ संकेत भी नहीं है। ऐसे ही वेदों में **'पयः पशूनाम्' 'रसमोषधीनाम्'** अर्थात् गवादि पशु का दूध और औषधियों के रस पीने की बात लिखी है। ऐसे ही वेद में ओदन, क्षीर, सर्पि, व्रीहि, यव, मधु आदि के उपयोग का विधान है। वेद में **'अन्न'** शब्द का प्रयोग है, जो स्पष्ट ही अनाज का वाचक है, और आज भी दक्षिण देश की भाषा में 'अन्न' का अर्थ 'भात' और 'नित्य भोजन' ही है। इससे स्पष्ट है कि वेद में मांस भोजन का कहीं विधान नहीं है।

अथर्ववेद में रोगनिवारण के लिये अपामार्ग आदि नाना ओषधियों का तो संकेत है, पर कहीं भी मांस का विधान नहीं।

इसी प्रकार वेदों में घृत, हवि, मधु, तिल आदि से यज्ञ करने का विधान है, पर माँस से नहीं। लवणक्षार का निषेध है, मिष्ट पदार्थ से आहुति देने का विधान है। मांस का वर्णन ही नहीं।

इसलिये मनुष्य को उदर-पूर्त्यर्थ, रोग निवारणार्थ या फिर यज्ञयागादि के निमित्त किसी भी प्रकार से मांस का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

इतिहास में स्पष्ट लिखा है कि—

लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन् नास्तिकैः सम्प्रवर्तितम्।
वेदवादानविज्ञाय सत्यभासमिवाऽमृतम्॥

महा. भा. शा. प. २६३।६॥

---

१. यहां तक गोकरुणानिधि से लिखा है।

२. यहां से आगे का मांस भक्षण निषेध का विषय ऋषि दयानन्द के मन्तव्यानुसार हमने वेदादि शास्त्रों से लिखा है।

हे ब्रह्मन् ! धन कमाने के प्रयत्न में लगे लुब्ध जनों और नास्तिक पुरुषों ने वेदवादों=वैदिक वचनों का तात्पर्य न समझकर सत्य से प्रतीत होने वाले '**मिथ्या यज्ञों**' का प्रचार कर दिया है।

सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्त्तैः प्रवर्त्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम् ॥

महा. शा. २६५।६।।

सुरा, मछली, मधु से बनी शराब, मांस आसव तथा तिल-चावल की खिचड़ी—इन सब वस्तुओं को धूर्त्तों ने यज्ञ में प्रचलित कर दिया है। वेदों में इनके यज्ञों में उपयोग का विधान नहीं हैं।

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानि च्छागं नो हन्तुमर्हथ ॥
नैष धर्मः सतां देवा यत्रबध्येत वै पशुः ॥

महा. शा. ३३६।४-५।

"यज्ञों में बीजों की आहुति देनी चाहिये, ऐसी वैदिक श्रुति है। बीजों का ही नाम 'अज' है, अतः अज नाम से बकरे का वध करना उचित नहीं। जहां भी यज्ञ में पशु का वध होता है, वह सत्पुरुषों का धर्म नहीं है।" यहां महाभारतकार ने स्पष्ट कर दिया है कि 'यज्ञों में किसी प्रकार की हिंसा का स्थान नहीं है।"

ऋग्वेद (१०।८७।१६) में स्पष्ट लिखा है कि—

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते, यो अश्व्येन पशुना यातुधानः।
यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥

"जो यातुधान अर्थात् हिंसक वृत्तिका पुरुष, पुरुष के मांस का सेवन करता है, जो घोड़े का या अन्य पशु का मांस प्रयोग करता है, और जो अघ्न्या अर्थात् गौ के दूध से, उसके वत्स को भूखा रख अपना पेट भरता है अथवा गौ की हत्या करके उसके दूध से अन्यों को वंचित करता है, हे अग्रनायक राजन् ! उसके और इस वृत्ति वाले जो हैं, उन पुरुषों के, उनके सिरों को कटवा दे।"

मनुस्मृति ११।९५ में साफ लिखा है कि—

यक्षरक्षः पिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्।
तद् ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवाना मश्नता हविः ॥

'मद्य, मांस, सुरा और आसव, ये सब, यक्ष, राक्षस तथा पिशाचों

के आहार हैं। इसलिये 'देवों की चढ़ाई, हवि खाने वाले' ब्राह्मण विद्वान् धार्मिक पुरुष को ये वस्तुयें कभी नहीं खानी चाहियें।"

प्रश्न—वेदादि शास्त्रों में अहिंसा का वर्णन है या नहीं।

उत्तर—वेदादि सत्य शास्त्रों में अहिंसा को परम धर्म कहा है।

यजु. ३६।१८ में लिखा है—

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।

"मित्र की दृष्टि से मुझे सब प्राणी देखें। मित्र की दृष्टि से ही मैं सब प्राणियों को देखूं। हम सब परस्पर मित्र दृष्टि से देखें।

अथर्व. १७, १, ४ में लिखा है—

प्रियः पशूनां भूयासम्। मैं सब पशुओं का प्रिय बनूं।

'शं द्विपदे शं चतुष्पदे' दुपाये चौपाये सबको शान्ति मिले। आगे कुछ और प्रमाण लिखते हैं—

यजमानस्य पशून् पाहि ॥ यजु. १।१॥

मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः ॥ यजु. १२।१२॥ तन्वा=अपने शरीर से।

अश्वं...मा हिंसीः ॥ यज. १२।४२॥

अविं...मा हिंसीः ॥ यजु. १२।४४॥

इमं मा हिंसीर्द्विपदं पशुम् ॥ यजु. १२।४७॥

इमं मा हिंसीः ......वाजिनम् ॥ यजु. १२।४८॥

इममूर्णायुं......मा हिंसीः ॥ यजु. १३।५०॥

मा हिंसीः पुरुषम् ॥ यजु. १६।३॥

मा......हिंसीष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः ॥ अथर्व. ११।२।१॥ गौ के लिए विशेष लिखा है कि—

गोस्तु मात्रा न विद्यते ॥ यजु. ३३।४८॥ सबकी सबके साथ तुलना हो सकती हैं, परन्तु **"गौ के साथ किसी की भी तुलना नहीं होती।"**

दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्ये सा वर्धतां महते सौभगाय। ऋग् १। १६४।२७। अर्थात् यह अवध्य गौ स्त्री पुरुष, गुरु शिष्य रूप अश्विनी देवों के लिए दूध देवे और यह हमारे महान् सौभाग्य के लिए बहुत बढ़े।

गां मा हिंसी रदितिं विराजम् ।। यजु १३।४२ ।।
घृतं दुहानामदितिं जनाय...... माहिंसीः । यजु. १३।४९ ।।

इसीलिए महाभारतकार को शा० प० । अ० २६३ में यह घोषणा करनी पड़ी कि—

अघ्न्या इति गवां नाम क एतां हन्तुमर्हति ।
महच्चकाराकुशलं वृषं गां वालभेत्तु यः ।।

"भाई ! गौ का तो नाम ही 'अघ्न्या'=न मारने योग्य है। फिर कौन इसको काट सकता है ? जो गौ या बैल को मारते हैं, वे महान् (अकुशलं) पाप करते हैं।"

प्रश्न—ऐसा सुनते हैं कि पुरा काल में अतिथि के लिए, और विवाह के समय गौओं को मार उनका भोजन परोसा जाता था।

उत्तर—यह सर्वथा असत्य है। ईसाई दिद्वानों द्वारा फैलाया मिथ्या भ्रान्त मत है। अतिथि को 'गोघ्न' इसलिए कहते हैं कि उस के सेवा सत्कार के निमित्त गौओं की रक्षा' की जाती थी। जैसे, 'हस्तघ्न' शब्द का अर्थ हाथों की रक्षा करने वाला 'दस्ताना' होता है, वैसे ही 'गोघ्न' शब्द का सत्य अर्थ 'जिसके लिए गौ पाल पोस कर रक्खी जाती है, ऐसा होता है। इसी प्रकार विवाह की बात है। ऋग् १०।८५ में लिखा है कि—

अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते ।।

(अघासु) मघा नक्षत्र के समय गौवें (हन्यन्ते) चलाई जाती है, हाँक कर ले जाई जाती हैं और (अर्जुन्याः) फाल्गुनी नक्षत्र के समय विवाह किया जाता है।

भाव यह है कि स्त्रीपुरुष के विवाह से पूर्व गौवों का प्रवन्ध कर लेना चाहिए। इसी लिए आर्यों के विवाह में **'गोदान'** की पवित्र प्रथा अभी तक भी प्रचलित है।

इसी प्रकार गृह्यसूत्रों तथा मनुस्मृति (अ. २।६५) में **केशान्त कर्म** अर्थात् प्रथमवार क्षौर मुण्डन कराये जाने पर किए जाने वाले संस्कार के समय **'गोदान'** का विधान है, ताकि ब्रह्मचारी 'गो दुग्धादि के प्रयोग से शरीर व मन से पुष्ट हो सके।' इस का नाम 'गोदान,-संस्कार भी है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वेदादि शास्त्रों में तथा आर्यों की जीवन-चर्या में कहीं भी 'गोवध' का संकेत नहीं है।

प्रश्न—यज्ञ यागादि में पशु मांस की आहुति का विधान है वा नहीं ?

उत्तर—सर्वथा नहीं। देखिए, **'यज्ञ'** शब्द का अर्थ 'पूजा' है। पूजा सेवा सत्कार का नाम है। इसमें हिंसा कहां से आ गई ? यज्ञ क्रिया में 'देवपूजा, संगति-करण, दान' होता है। इसका पर्याय शब्द **'अध्वर'** है, जिसका अर्थ ही 'हिंसा रहित कर्म' है।

'वाल्मीकी रामायण में प्रसंग है कि विश्वामित्र मुनि, राजादशरथ के दरबार में, यज्ञ रक्षा के लिए रामलक्षण को मांगने गए थे। किन से ? राक्षसों से। क्यों ? इसलिए कि 'राक्षस यज्ञ में मद्य और मांस डालते थे।' यदि आर्य लोग यज्ञ में मांस की आहुति देना पुण्य समझते थे, तो फिर विश्वामित्र यज्ञ रक्षार्थ दशरथ के पास क्यों गये थे ?

प्रश्न—क्या कहीं भी मांस भक्षण और यज्ञ में पशु हिंसा का विधान नहीं है ?

उत्तर—सत्य शास्त्रों में कहीं नहीं हैं। हां, अवैदिक वाममार्गियों के ग्रन्थों में हैं। ये सब अमान्य और त्याज्य ग्रन्थ हैं। कुछ और प्रमाण देते है—

इज्यायज्ञ श्रुति कृतैर्यो मार्गैरबुधोऽधमः।
हन्याज्जन्तून् मांस गृध्नुः स वै नरकभाङ् नरः।

महा. अनु. ११५।४३, ११६।४५।। (तु. श्रीमद्द् भाग. ११।२१।३०,११.५.१४) ।।

"यज्ञ यागादि वैदिक मार्गों के नाम पर, जो मांस लोभी मूर्ख एवं अधम पुरुष, जीव जन्तुओं की हत्या करता है, वह नरकगामी होता है।"

आगे मनुस्मृति अ. ५ के कुछ श्लोकों का भाव लिखते हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि किसी भी प्रकार से **मांस का प्रयोग सर्वथा वर्ज्य है।**

"जो व्यक्ति हिंसा न करने वाले जीवों की, हिंसा करता है, अपने सुख की इच्छा से, वह जीवित इसलोक में सुख नहीं पाता ।। ४५ ।।

"जीव की हिंसा किये विना कभी मांस उत्पन्न नहीं हो सकता। प्राणियों का वध स्वर्ग=सुख को प्राप्त करने का मार्ग नहीं है। इसलिए मांस का किसी भी रूप में प्रयोग वर्जित करें=छोड़ देना चाहिये ।।४८।।

"माँस की उत्पत्ति को तथा देहधारी जीवों के वध-बन्धन को

अच्छी तरह से विचार कर कि इससे उनको कितना कष्ट होता है, मनुष्य को चाहिए कि वह सब प्रकार के मांस भक्षण से निवृत्त रहे ॥ ४९ ॥"

"इस प्रकार से केवल माँस छोड़ देने से जो फल प्राप्त होता है, वह फल मूल के खाने और मुनियों के जैसे भोजन से प्राप्त नहीं होता ।५४।

सबको स्मरण रखना चाहिए कि "वह मुझे परलोक में खायेगा, मैं यहां जिसका माँस खाता हूं, यही मांस का माँसत्व है (मां+स=मुझे वह), ऐसा मनीषी जन कहते हैं ॥ ५५ ॥

देखो, मनुमहाराज अ. ११।५२ में कहते हैं—**हिंसया व्याधि भूयस्त्वम्** अर्थात् हिंसा अर्थात् मांस भक्षण से व्याधि=रोग उत्पन्न होता है।

प्रश्न— प्राचीन आर्य तो हिंसावादी थे। यह अहिंसा की बात तो जैन-बौद्धों ने चलाई है।

उत्तर—नहीं, तुम्हारी बात सर्वथा मिथ्या है। वेदादि से लेकर महाभारत पर्यन्त समस्त वाङ्मय में **'अहिंसा 'परमो धर्मः'** कहा है। बौद्ध जैन ग्रन्थों में आर्य शास्त्रों से ही यह बात गई है।

वेद में इसका नाम 'स्वस्ति, शान्ति, अभय' है और 'सब आत्माओं में अपने को देखने' की बात कही है। मनुस्मृति अ. ६ में—

अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्प्यते ॥ ६० ॥ अर्थात् भूतों की हिंसा न करने से, मनुष्य मोक्ष के योग्य होता है,

अहिंसया तत्पदम् ॥ ६३ ॥ अर्थात् अहिंसा अर्थात् सर्वभूतों से वैरत्याग से मनुष्य परम पद को प्राप्त होता है, ऐसा कहा है।

महाभारत में स्थान स्थान पर 'अहिंसा' का प्रतिपादन किया गया है—

अहिंसार्थसमायुक्तैः कारणैः स्वर्गमश्नुते ॥ वनपर्व १८।१।१० ॥
अहिंसा धर्म नित्यता ॥ व. अ. १८।१२२ ॥
अहिंसा चैव जन्तुषु ॥ व. थ. १८६।२२ ॥
अहिंसा परमो धर्मः ॥ व. प. २०७।७४ ॥
अहिंसैका सुखावहा ॥ उद्यो. प. ३३।५२ ॥

अहिंसा सर्वभूतेषु धर्मंज्यायस्तरं विदुः ॥ द्रो. प. १९२।३८ ॥ अर्थात् सबभूतों में वैरत्याग रखना ही 'सर्वश्रेष्ठ धर्म' है।

अहिंसा सर्व भूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ।। शा.प. २६५।६ ।।
अहिंसया च दीर्घायुरिति प्राहुर्मनीषिणः ।। अनुशा. प. १६३।१२ ।।
अहिंसा परमो धर्मः हिंसा चाधर्मलक्षणा ।। अश्व. प. ४३।२२ ।।

इन सब प्रमाणों से सिद्ध होता है कि आर्यों के शास्त्रों में मांस खाने या मांस की यज्ञों में आहुति देने का कहीं भी तो विधान नहीं है। मांस भक्षण सदा **'अभक्ष्य'** माना गया है। मांसाहारी को राक्षस पिशाच नाम दिया जाना भी यही प्रतिपादित करता है कि 'माँस खाने वाले' को समाज में हेय समझा जाता था।

प्रश्न—तो आर्यों के भूमण्डल पर सार्वभौम चक्रवर्ती शासन होने पर, कोई मांसाहार नहीं करता था?

उत्तर—यह बात नहीं। समाज में दस्यु या हिंसापर=हिंसक स्वभाव वाले मनुष्य थे। पर आर्यजाति मांस खाना अच्छा नहीं समझती थी। मांस का प्रयोग सदा निषिद्ध और अधर्म माना गया है। ईसाई मुसलमानों के भोजन का अंग होने की तरह, मांस खाना कभी भी 'आर्यों के भोजन का अंग' नहीं माना गया। जैसे सब कालों में पर स्त्रीहरण या चोरी का व्यवहार होने पर भी कभी ये 'धर्म' नहीं माने गये, प्रत्युत् 'पाप' समझे गये हैं; वैसे ही 'मांस और हिंसा' की बात है। ये सदा पाप और अधर्म माने गये हैं। [यहां तक का लेख पूर्णतः हमारा है।]

वैद्यकशास्त्रोक्त भक्ष्याभक्ष्य—जिन पदार्थों से स्वास्थ्य, रोगनाश, बुद्धि-बलपराक्रम-वृद्धि और आयुवृद्धि होवे, उन तण्डुलादि गोधूम फल मूल कन्द दूध-घी मिष्टादि पदार्थों का सेवन यथायोग्य पाक मेल करके यथोचित समय पर मिताहार भोजन करना सब **'भक्ष्य'** कहाता है। जितने पदार्थ अपनी प्रकृति से विरुद्ध, विकार करने वाले हैं, उन-उनका सर्वथा त्याग करना, और जो-जो जिस-जिस रोगी के लिए पथ्य विहित हैं, उन उन पदार्थों का ग्रहण करना यह भी **'भक्ष्य'** है (४१८)।

प्रश्न—आत्मीय बान्धवों के एक साथ खाने में कुछ दोष है, वा नहीं?

उत्तर—दोष है। क्योंकि एक के साथ दूसरे का स्वभाव और प्रकृति नहीं मिलती। जैसे कुष्ठी आदि के साथ खाने से अच्छे मनुष्य का भी रुधिर बिगड़ जाता है, वैसे दूसरे के साथ खाने में भी कुछ बिगाड़ ही होता है, सुधार नहीं। इसलिए—

नोच्छिष्टं कस्यचिद्द्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा।
न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत्॥ मनु० २।५६॥

न किसी को अपना (उच्छिष्ट) जूंठा पदार्थ दे; न किसी के भोजन के बीच आप खावे। न अधिक भोजन करे और न उच्छिष्ट अर्थात् भोजन किए पश्चात् हाथ मुख धोये विना कहीं इधर-उधर जाय।

प्रश्न—'गुरोरुच्छिष्टभोजनम्'[1] इस वाक्य का क्या अर्थ होगा?

उत्तर—इसका यह अर्थ है कि गुरु के भोजन किए पश्चात् जो पृथक् अन्न शुद्ध स्थित है, उसका भोजन करना। अर्थात् गुरु को प्रथम भोजन कराके पश्चात् शिष्य को भोजन करना चाहिए।

प्रश्न—जो उच्छिष्टमात्र का निषेध है, तो मक्खियों का उच्छिष्ट सहत=शहद, वछड़े का उच्छिष्ट दूध, और एक ग्रास खाने के पश्चात् अपना भी उच्छिष्ट होता है, पुनः उसको भी न खाना चाहिए?

उत्तर—सहत कथनमात्र ही उच्छिष्ट होता है। परन्तु वह वहुत-सी ओषधियों का सार होने से ग्राह्य है। वछडा अपनी मां के (४१९) वाहिर का दूध पीता है; भीतर के दूध को नहीं पी सकता। इसलिए उच्छिष्ट नहीं। परन्तु वछड़े के पिए पश्चात् जल से उसकी माँ, गाय के स्तन धोकर शुद्ध पात्र में दोहना चाहिए। और अपना उच्छिष्ट अपने को विकारकारक नहीं होता।

देखो, स्वभाव से यह वात सिद्ध है कि किसी का उच्छिष्ट कोई भी न खावे। जैसे, अपने मुख, नाक, कान, आँख, उपस्थ और गुह्येन्द्रियों के मलमूत्रादि के स्पर्श में घृणा नहीं होती है; वैसे किसी दूसरे के मलमूत्र के स्पर्श में होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह 'दूसरे का उच्छिष्ट खाना' व्यवहार सृष्टिकर्म से विपरीत ही है। इसलिए मनुष्यमात्र को उचित है कि किसी का उच्छिष्ट अर्थात् जूंठा न खाय।

प्रश्न—भला स्त्री-पुरुष भी परस्पर उच्छिष्ट न खावें?

उत्तर—नहीं। क्योंकि उनके भी शरीरों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है।

---

१. द्र०—'गुरोरुच्छिष्टमन्नं यो भक्षयेद्भक्तिभावतः'॥ प्राणतोषिणी पृ० १८९, जीवानन्द संस्करण।

प्रश्न—कहो जी ! मनुष्यमात्र के हाथ की की-हुई रसोई, उस अन्न के खाने में क्या दोष है ? क्योंकि ब्राह्मण से लेके चांडाल-पर्यन्त के शरीर हांड़-मांस चमड़े के हैं। और जैसा रुधिर ब्राह्मण के शरीर में है, वैसा ही चांडाल आदि के भी। पुनः मनुष्यमात्र के हाथ की पकी हुई रसोई के खाने में क्या दोष है ?

उत्तर—दोष है। क्योंकि जिन सत्त्वगुणयुक्त उत्तम पदार्थों के खाने पीने से (४२०) ब्राह्मण और ब्राह्मणी के शरीर में दुर्गन्धादि दोषरहित रज-वीर्य उत्पन्न होता है, वैसा चांडाल और चांडाली के शरीर में नहीं। क्योंकि चांडाल का शरीर दुर्गन्ध के परमाणुओं से भरा हुआ होता है, वैसा ब्राह्मणादि वर्णों का नहीं। इसलिए ब्राह्मणादि उत्तम वर्णों के हाथ का खाना, और चांडालादि नीच भङ्गी चमार आदि का न खाना चाहिए।

भला, जब कोई तुमसे पूछेगा कि जैसा चमड़े का शरीर माता सास, बहिन, कन्या, पुत्रवधू का है, वैसा ही अपनी स्त्री का भी है, तो क्या माता आदि स्त्रियों के साथ भी स्वस्त्री के समान वर्तोगे ? तब तुमको संकुचित होकर चुप ही रहना पड़ेगा। जैसे उत्तम अन्न हाथ और मुख से खाया जाता है, वैसे दुर्गन्ध भी खाया जा सकता है; तो क्या मलादि भी खाओगे ?

प्रश्न—जो गाय के गोबर से चौका लगाते हो, तो अपने गोबर से क्यों नही लगाते ? और गोबर के चौके में जाने से चौका अशुद्ध क्यों नहीं होता ?

उत्तर—गाय के गोबर से वैसा दुर्गन्ध नहीं होता, जैसा कि मनुष्य के मल से। गोबर चिक्कना होने से शीघ्र नहीं उखड़ता, न कपड़ा बिगड़ता, न मलीन होता है। जैसा मिट्टी से मैल चढ़ता है, वैसा सूखे गोबर से नहीं होता। मट्टी और गोबर से जिस स्थान का लेपन करते हैं, वह देखने में अति सुन्दर होता है।

और जहाँ रसोई बनती है, वहां भोजनादि करने से घी, मिष्ट और उच्छिष्ट भी गिरता है। उससे मक्खी कीड़ी आदि बहुत से जीव मलिन स्थान के रहने से आते हैं। जो उसमें झाड़ लेपनादि से शुद्धि प्रतिदिन न की जावे, तो जानो पाखाने के समान वह स्थान हो जाता है। इसलिए प्रतिदिन गोबर मिट्टी, झाड़ से रसोई का स्थान सर्वथा शुद्ध रखना।

और जो पक्का मकान हो, तो जल से धोकर शुद्ध रखना चाहिये। इससे पूर्वोक्त दोषों की निवृत्ति हो जाती है (४२१)। जैसे मियांजी के रसोई के स्थान में कहीं कोइला, कहीं राख, कहीं लकड़ी, कहीं फूटी हांड़ी, कहीं जूंठी रकेबी, कहीं हाड़गोड़ पड़े रहते हैं, और मक्खियों का तो क्या कहना? वह स्थान ऐसा बुरा लगता है कि जो कोई श्रेष्ठ मनुष्य जाकर बैठे, तो उसे वमन होने का भी सम्भव है। और उस दुर्गन्ध स्थान के समान ही वही स्थान दीखता है। भला जो कोई इससे पूछे कि यदि गोबर से चौका लगाने में तो तुम दोष गिनते हो; परन्तु चूल्हे में कण्डे जलाने, उसकी आग से तमाखू पीने, घर की भीति पर लेपन करने आदि से संकोच क्यों नहीं करते? इनसे भी मियांजी का चौका भ्रष्ट हो जाता होगा, इसमें क्या सन्देह?

प्रश्न—चौके में बैठके भोजन करना अच्छा, वा बाहर बैठके?

उत्तर—जहां पर अच्छा रमणीय सुन्दर स्थान दीखे, वहां भोजन करना चाहिए। परन्तु आवश्यक युद्धादिकों में तो घोड़े आदि यानों पर बैठके वा खड़े-खड़े भी खाना पीना अत्यन्त उचित है।

प्रश्न—क्या अपने ही हाथ का खाना, और दूसरे के हाथ का नहीं?

उत्तर—जो आर्यों में शुद्ध रीति से बनावे, तो बराबर सब आर्यों के हाथ का खाने में कुछ भी हानि नहीं। क्योंकि जो ब्राह्मणादि वर्णस्थ स्त्री-पुरुष रसोई बनाने चौका देने बर्त्तन-भांड़े मांजने आदि बखेड़ों में पड़े रहें, तो विद्यादि शुभ गुणों की वृद्धि कभी नहीं हो सके।

देखो, महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भूगोल के राजा ऋषि महर्षि आये थे। एक ही पाकशाला से भोजन किया करते थे। जब से संसार में ईसाई मुसलमान आदि के मतमतान्तर चले, आपस में बैर-विरोध हुआ, उन्होंने मद्यपान, गौमांसादि का खाना-पीना स्वीकार किया, उसी समय से भोजनादि में बखेड़ा हो गया (४२२)।

देखो, काबुल, कंधार, ईरान, अमेरिका, यूरोप आदि देशों के राजाओं की कन्या गान्धारी. माद्री, उलोपी आदि के साथ आर्य्यावर्त्तदेशीय राजा लोग विवाह आदि व्यवहार करते थे। [क्या आपस में खानपान का व्यवहार न करते होंगे?] शकुनि आदि कौरव पांडवों के साथ खाते-पीते थे, कुछ विरोध नहीं करते थे। क्योंकि उस समय सर्व भूगोल में वेदोक्त एक मत था। उसी में सबकी निष्ठा थी, और एक दूसरे का सुख-दुःख हानि-लाभ आपस में अपने समान समझते थे। तभी भूगोल में सुख था।

अब तो बहुत से मतवाले होने से बहुत सा दुःख और विरोध बढ़ गया है। इसका निवारण करना बुद्धिमानों का काम है। परमात्मा सबके मन में सत्य-मत का ऐसा अंकुर डाले कि जिससे मिथ्या मत शीघ्र ही प्रलय को प्राप्त हों। इसमें सब विद्वान् लोग विचार कर विरोधाभास छोड़के आनन्द को बढ़ावें।

यह थोड़ा सा आचार- अनाचार, भक्ष्याभक्ष्य विषय में लिखा है।

इस ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध इसी दशवें प्रवाह के साथ पूरा हो गया। इन प्रवाहों में विशेष खण्डन-मण्डन इसलिए नहीं लिखा कि जबतक मनुष्य सत्यासत्य के विचार में कुछ भी सामर्थ्य नहीं बढ़ाते, तबतक स्थूल और सूक्ष्म खण्डनों के अभिप्राय को नहीं समझ सकते। इसलिये प्रथम सबको सत्य शिक्षा का उपदेश करके, अब उत्तरार्द्ध अर्थात् जिसमें चार प्रवाह हैं, उसमें विशेष खण्डन-मण्डन लिखेंगे।

परन्तु सामान्य करके कहीं-कहीं दश प्रवाहों में भी कुछ थोड़ा सा खण्डन-मण्डन किया है। इन को पक्षपात छोड़, न्यायदृष्टि से जो देखेगा आत्मा में सत्य अर्थ का प्रकाश (४२३) होकर आनन्द होगा। और जो हठ-दुराग्रह और ईर्ष्या से देखे-सुनेगा, उसको इस ग्रंथ का अभिप्राय यथार्थ विदित होना बहुत कठिन है। इसलिये जो कोई इसको यथावत् न विचारेगा, वह इसका अभिप्राय न पाकर गोता खाया करेगा। और विद्वानों का यही काम है कि सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करके परम आनन्दित होते हैं। वे ही गुणग्राहक पुरुष विद्वान् होकर 'धर्म अर्थ काम और मोक्षरूप' फ़लों को प्राप्त होकर प्रसन्न रहते हैं (४२४)।

इति दशमः प्रवाहः

★ समाप्तोऽयं पूर्वाञ्चलः ★

उत्तराञ्चलस्य

प्रवेशिका

यह सिद्ध बात है कि पांच सहस्र वर्षों के पूर्व भूमण्डल में वेदमत से भिन्न दूसराकोई भी मत न था, महाभारत युद्ध के कारण वेदों में मनुष्यों की अप्रवृत्ति हो गई। उससे अविद्याऽन्धकार के भगोल में विस्तृत होने से मनुष्यों की बुद्धि भ्रमयुक्त होकर जिसके मन में जैसा आया वैसा अपना मत चलाया। उन सब मतों में चार मत, अर्थात् जो वेदविरुद्ध पुराणी, जैनी [तथा बौद्ध] किरानी और कुरानी भूगोल में प्रचलित सब मतों के मूल हैं। वे क्रम से एक के पीछे दूसरा तीसरा चौथा चला है। अब इन चारों की शाखा एक सहस्र से कम नहीं है। इन सब मतवादियों, इनके चेलों और अन्य सबको परस्पर सत्यासत्य के विचार करने में अधिक परिश्रम न हो, इसलिये यह ग्रन्थ सत्यार्थ सरस्वती बनाया गया है।

जो-जो इसमें सत्य मत का मण्डन और असत्य का खण्डन लिखा है, वह सबको जानना-जनाना ही इसकी रचना का प्रयोजन है। इसमें जैसी हमारी बुद्धि, जितनी विद्या, और जितना इन चारों के मूल ग्रन्थ देखने से और ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का स्वाध्याय करने से बोध हुआ है, उसको सब के आगे निवेदित कर दिया है। पक्षपात छोड़कर इसको देखनें से सत्यासत्य मत सबको विदित हो जायगा। पश्चात् सबको अपनी-अपनी समझ के अनुसार सत्य मत का ग्रहण करना और असत्य मत का छोड़ना सहज होगा।

जब आर्य्यावर्त्तस्थ मनुष्यों में सत्याऽसत्य का यथावत् निर्णय करानेवाली वेदविद्या छूटकर अविद्या फैलके मतमतान्तर खड़े हुए, तब यही जैन आदि के विद्याविरुद्ध मत-प्रचार का निमित्त हुआ।

क्योंकि वाल्मीकीय और महाभारतादि में जैनियों का नाम मात्र भी नहीं लिखा। और जैनियों के ग्रन्थों में वाल्मीकीय और भारत में कथित

'राम-कृष्णादि' की गाथा बड़े विस्तारपूर्वक लिखी हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यह मत इनके पीछे चला। क्योंकि जैसा मत को बहुत प्राचीन जैनी लोग लिखते है, वैसा होता तो वाल्मीकीय रामायण आदि ग्रन्थों में उनकी कथा अवश्य होती। इसलिये जैनमत इन ग्रन्थों के पीछे चला है।

कोई कहे कि जैनियों के ग्रन्थों में से कथाओं को लेकर वाल्मीकीय रामायण आदि ग्रन्थ बने होंगे, तो उनसे पूंछना चाहिये कि वाल्मीकीण रामायण आदि में तुम्हारे ग्रन्थों का नाम-लेख भी क्यों नही ? और तुम्हारे ग्रन्थों में क्यों है ? क्या पिता के जन्म का दर्शन पुत्र कर सकता है ? कभी नहीं। इससे यही सिद्ध होता है कि जैन-बौद्ध मत शैव-शाक्ति वैष्णवादि मतों के पीछे चला है।

इनमें से जो पुराणादि ग्रन्थों से शाखा-शाखान्तररूप मत आर्यावर्त्त देश में चले हैं, उनका संक्षेप से गुण-दोष इस ग्यारहवें प्रवाह में है। इस कर्म से यदि उपकार न मानें, तो विरोध भी न करें। क्योंकि इसकी रचना करने का तात्पर्य किसी की हानि वा विरोध करने में नहीं, किन्तु सत्यासत्य का निर्णय करने-कराने का ही है। इसी प्रकार सब मनुष्यों को न्यायदृष्टि से वर्त्तना अति उचित है। मनुष्य जन्म का होना सत्यासत्य का निर्णय करनें-कराने के लिये है, न कि वादविवाद विरोध करने-कराने के लिये। इसी मतमतान्तर के विवाद से जगत् में जो-जो अनिष्ट फल हुए, होते हैं और होंगे, उनको पक्षपातरहित विद्वज्जन जान सकते हैं।

जब तक इस मनुष्य जाति में परस्पर मिथ्या मतमतान्तर का विरुद्धवाद न छूटेगा, तब तक अन्योऽन्य को आनन्द न होगा। यदि हम मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्ष्या-द्वेष छोड़ सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना-कराना चाहैं, तो हमारे लिये यह बात असाध्य नहीं है। यह निश्चय है कि इन विद्वानों के विरोध होने सब मनुष्य को विरोध जाल में फंसा रक्खा है। यदि ये लोग अपने प्रयोजन में न फंसकर सबके प्रयोजन को सिद्ध करना चाहैं, तो अभी ऐक्यमत हो जायें। सर्वशक्तिमान् परमात्मा एक मत में प्रवृत होने का उत्साह सब मनुष्यों के आत्माओं में प्रकाशित करें।

अथ एकाक्षशप्रवाहः

अब आर्य लोगों के कि जो आर्य्यावर्त्त देश में बसनेवाले है, उनके मत का खण्डन तथा मण्डन का विधान करते हैं यह आर्यावर्त्त देश ऐसा है, जिसके सदृश भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं है। इललिये इस भूमि का नाम सुवर्णभूमि है। क्योंकि यही सुवर्णादि रत्नों को उत्पन्न करती है। इसलिये सृष्टि की आदि में त्रिविष्टप् अर्थात् तिब्बत से उतर कर आर्य लोग इसी देशमें आकर बसे।

जितने भूगोल में देश है, वें सब इसी देश की प्रशंसा करते, और आशा रखते हैं कि 'पारसमणि' पत्थर सुना जाता है, वह बात तो झूंठी है, परन्तु आर्यावर्त्त देश ही सच्चा पारसमणि है कि जिसको डच फ्रेन्च, पोर्तगीज और अंग्रेज़ लोहेरूप दरिद्र विदेशी छूते के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढय हो गये हैं।

सृष्टि से लेके पाञ्च सहस्र वर्षो से पूर्व समय पर्यन्त आर्यो का सार्वभौम चक्रवर्त्ती अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि एकमात्र राज्या था। अन्य देश में माण्डलिक अर्थात् छोटे-छोटे राजा रहते थे। क्योंकि कौरव पाण्डव पर्यन्त यहां के राज्य और राजशासन में सब भूगोल के राजा और प्रजा चले थे। क्योंकि यह मनुस्मृति जो सृष्टि की आदि में रचित हुई है, उसका प्रमाण है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ मनु०

इसी आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुए उच्चवर्ण ब्राह्मण अर्थात् विद्वानों के सम्बन्ध से भूगोल के सब मनुष्यों, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, दस्यु, म्लेच्छ आदि ने अपने-अपने योग्य विद्या चरित्रों की शिक्षा और विद्याभ्यास किया।

महाराज युधिष्ठिरजी के राजसूय यज्ञ और महाभारत युद्ध-पर्यन्त यहां के राज्याधीन ही अन्य सब राज्य थे। चीन का भगदत्त, अमेरिका का बभ्रुवाहन, यूरोप देश का विडालाक्ष अर्थात् मार्जार के सदृश आंखवाले, यवन=यूनानी और ईरान का शल्य आदि सब राजा राजसूय यज्ञ और महाभारत युद्ध में राजा युधिष्ठिर की आज्ञानुसार आये थे।

रामायण के समय जब रघुगण राजा थे, तब रावण भी जहां के आधीन दण्ड था। जब रामचन्द्र के समय में विरुद्ध हो गया, तो उसको रामचन्द्र ने देकर राज्य से च्युत कर उसके भाई बिभीषण को राज्य दिया था। ●

● इक्ष्वाकु वंश में रघू, अज, दशरथ और राम अनुक्रम से हुए। रावण बहुत दीर्घजीवी था। अतः वह रघु से लेकर राम के काल तक जीवित रहा।

भारत-इतिहास में वर्णित स्वायंभुव राजा से लेकर पाण्डव पर्यन्त आर्यों का चक्रवर्ती राज समस्त भूगोल पर रहा। तत्पश्चात् आपस के विरोध से लड़कर नष्ट हो गये।

क्योंकि इस परमात्माकी सृष्टिमें अभिमानी अन्यायकारी अविद्वान् लोगों का राज्य बहुत दिन नहीं चलता। और यह संसार की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जब अत्यन्त प्रयोजन से अधिक बहुत सा धन होता है, तब आलस्य पुरुषार्थरहितता ईर्ष्या-द्वेष विषयासक्ति और प्रमाद बढ़ता है। इससे देश में विद्या सुशिक्षा नष्ट होकर दुर्गुण और दुष्ट व्यसन बढ़ जाते हैं। जैसे कि मद्यमांस सेवन, बाल्यावस्था में विवाह, और स्वेच्छाचारादि दोष बढ़ जाते है।

और जब युद्ध-विभाग में युद्धविद्याकौशल और सेना इतनी बढ़ें कि जिसका सामना करनेवाला भूगोलमें दूसरा कोई न हो, तब उन लोगों में पक्षपात, अभिमान बढ़कर अन्याय बढ़ जाता है। जब ये दोष हो जाते हैं, तब आपस में विरोध होकर अथवा उनसे अधिक दूसरे अल्प सामर्थ्यवान् कुलों में से ऐसा कोई समर्थ पुरुष खड़ा होता है कि उनका पराजय करने में समर्थ होवे। जैसे मुसलमानों की बादशाही के सामने शिवाजी गोविन्दसिंहजी आदि ने खड़े होकर मुसलमानों के राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया।

आर्यों के इतिहास से सिद्ध होता है कि सृष्टि से लेकर महाभारत पर्यन्त चक्रवर्ती सार्वभौम राजा आर्य्यकुल में ही हुए थे। इनके सन्तानों का अभाग्योदय होने से राजभ्रष्ट होकर विदेशियों के पादाक्रान्त बहुत समय तक रहे।

स्वायम्भुवादि सार्वभौम चक्रवर्त्ती राजाओं के नाम स्पष्ट मनुस्मृति महाभारतादि ग्रन्थों में लिखे हैं। इसको मिथ्या कहना और कल्पित सिद्ध करने का यत्न करना अज्ञानी और पक्षपातियों का काम है।

प्रश्न—जो अग्नेयास्त्र आदि विद्या संस्कृत ग्रन्थों में लिखी हैं, वे सत्य हैं वा नहीं ? और तोप तथा बन्दूक तो उस समय में थी वा नहीं ?

उत्तर—सच्ची हैं; ये शस्त्र भी उस समय थे। क्योंकि। पदार्थविद्या से इन सब बातों का सम्भव है और आर्य लोग पदार्थ विद्या अर्थात् अग्निजलवायुकी विद्या भले प्रकार जानते थे।

प्रश्न—क्या ये अस्त्र-शस्त्र देवताओं के मन्त्रों से सिद्ध होते थे ?

उत्तर—नहीं। ये सब बातें जिससे अस्त्र-शस्त्रों को सिद्ध करते थे, वे 'मन्त्र' अर्थात् विचार से सिद्ध करते और चलाते थे। और जो मन्त्र अर्थात् शब्दमय होता है, उससे कोई द्रव्य उत्पन्न नहीं होता। और जो कोई कहे कि मन्त्र से अग्नि उत्पन्न होता है, तो वह मन्त्र के जप करनेवाले के हृदय और जिव्हा को भस्म कर देवे। मारने जाय शत्रु को और मर रहै आप। इसलिए 'मन्त्र' नाम है विचार का। जैसा 'राजमन्त्री' अर्थात् राजकर्मों का विचार करनेवाला कहाता है, वैसा मन्त्र अर्थात् विचार से सब सृष्टि के पदार्थों का प्रथम ज्ञान और पश्चात् तदनुसारिणी क्रिया करने से अनेक प्रकार के पदार्थ और क्रियाकौशल उत्पन्न होते हैं। जैसे कोई एक बाण वा गोला बनाकर उसमें ऐसे पदार्थ रक्खे कि जो अग्नि के लगाने से वायु में धुआं फैलने और सूर्य की किरण वा वायु के स्पर्श होने से अग्नि जल उठे, इसी का नाम 'आग्नेयास्त्र' है। जब दूसरा इसका निवारण करना चाहे, तो उसी पर 'वारुणास्त्र' छोड़ दे, अर्थात् जैसे शत्रु की सेना पर आग्नेयास्त्र छोड़ कर नष्ट करना चाहा, वसे ही अपनी सेना की रक्षार्थ सेनापति वारुणास्त्र से आग्नेयास्त्र का निवारण करे। वह ऐसे द्रव्यों के योग से होता है, जिसका धुंआं वायु के स्पर्श होते ही बद्दल होके झट वर्षने लग जावे, अग्नि को बुझा देवे।

ऐसे ही 'नागफास' अर्थात् जो शत्रु पर छोड़ने से उसके अङ्गों को जकड़के बांध लेता है, वैसे ही एक 'मोहनास्त्र' अर्थात् जिसमें नशे की कोई

चीज डालने से जिसके धुएं के लगने से सब शत्रु की सेना निद्रास्थ अर्थात् मूच्छित हो जाय। इसी प्रकार सब शस्त्रास्त्र होते थे। और एक तार से वा सीसे से अथवा किसी और पदार्थ स विद्युत् उत्पन्न करके शत्रुओं का नाश करते थे, उसको भी 'आग्नेयास्त्र' तथा पाशुपतास्त्र कहते हैं।

'तोप और बन्दूक' ये नाम अन्य देश भाषा के हैं, संस्कृत और आर्य्यावर्तीय भाषा के नहीं। किन्तु जिसको विदेशी जन तोप कहते हैं, संस्कृत और भाषा में उसका नाम 'शतघ्नी', और जिसको बन्दूक कहते हैं, उसको संस्कृत और आर्य्यभाषा में 'भुशुण्डी' कहते हैं। जो संस्कृत विद्या को नहीं पढ़े, वे भ्रम में पड़कर कुछ का कुछ लिखते और कुछ कुछ का कुछ बकते हैं। उसका बुद्धिमान् लोग प्रमाण नहीं कर सकते। और जितनी विद्या भूगोल में फैली है, वह सब आर्य्यावर्त्त देश से मिश्र वालों, उनसे यूनानी, उससे रूस और उससे यूरोपदेश में, उनसे अमेरिका आदि देशों में फैली है।

अब तक जितना प्रचार संस्कत विद्या का आर्य्यावर्त देश में है, उतना किसी अन्य देश में नहीं। जो लोग कहते हैं कि जर्मनी देश में संस्कृत विद्या का बहुत प्रचार है, और जितना संस्कृत मोक्षमूलर साहब पढ़े हैं, उतना कोई नहीं पढ़ा, यह बात कहने मात्र की है। क्योंकि 'यस्मिन देश द्रुमो नास्ति तत्रैरण्डोऽपि द्रुमायते' अर्थात् जिस देश में कोई वृक्ष नहीं होता, उस देश में एरण्ड ही को बड़ा वृक्ष मान लेते हैं। वैसे ही यूरोप देश में संस्कृत विद्या का प्रचार होने से जर्मन लोगों और मोक्ष-मूलर साहब ने थोड़ा सा पढ़ा, वही उस देश के लिए अधिक है। परन्तु आर्यावर्त्त देश की ओर देखें, तो उनकी बहुत न्यून गणना है। क्योंकि मैंने जर्मनी देश निवासी एक 'प्रिन्सिपल' के पत्र से जाना कि जर्मनी देश में संस्कृत चिट्ठी का अर्थ करनेवाले भी बहुत कम हैं।

और मोक्षमूलर साहब के संस्कृत साहित्य और थोड़ी सी वेद की व्याख्या देखकर मुझको विदित होता है कि मोक्षमूलर साहब नें इधर-उधर आर्यावर्तीय लोगों की की हुई टीका देखकर कुछ-कुछ तथा-यथा लिखा है। जैसा कि–

....

कोई मिठाई, कोई पैसा, कोई रुपया, कोई अशर्फी, कोई कपड़ा और सीधा-सामग्री भेंट करता है। फिर जबतक मानता बहुत-सी रही, तबतक यथेष्ट लूट करते हैं। और किन्हीं-किन्हीं दो एक 'आंख के अन्धे गांठ के पूरों' को पुत्र होने का अशीर्वाद वा राख उठाके दे देता है। और उससे सहस्र रुपये लेकर कह देता है कि—'जो तेरी सच्ची भक्ति होगी, तो पुत्र हो जायगा'।

इस प्रकार के बहुत से ठग होते हैं, जिसकी विद्वान् ही परीक्षा कर सकते हैं, और कोई नहीं। इसलिये वेदादिविद्या का पढ़ना, सत्संग करना है। जिससे कोई उसको ठगाई में न फंसा सके, औरों को भी बचा सके। क्योंकि मनुष्य का नेत्र विद्या ही है। विना विद्या-शिक्षा के ज्ञान नहीं होता।

जो बाल्यावस्था से उत्तम शिक्षा पाते हैं, वे ही मनुष्य और विद्वान् होते हैं। जिनको कुसंग है, वे दुष्ट पापी महामूर्ख होकर बड़े दुःख पाते हैं। इसलिये ज्ञान को विशेष कहा है—'कि जो जानता है, वही मानता है'।

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं, स तस्य निन्दां सततं करोति।
यथा किराती करिकुम्भजाता, मुक्ताः परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाः॥

जो जिसके गुण प्रकर्ष को नहीं जानता, वह उसकी निन्दा निरन्तर करता है। जैसे जंगली भील गजमुक्ताओं को छोड़ गुञ्जा का हार पहिन लेता है, वैसे ही जो पुरुष विद्वान् ज्ञानी धार्मिक सत्पुरुषों का संगी योगी पुरुषार्थी जितेन्द्रिय सुशील होता है, वही धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष को प्राप्त होकर इस जन्म और परजन्म में सदा आनन्द में रहता है [चाणक्य-नीति ११।१६]॥

यह आर्य्यवर्त्त-निवासी लोगों के मत-विषय में संक्षेप से लिखा है। इस के आगे चारवाक बौद्ध जैनमत विषय में लिखा जायेगा॥

इति एकादशः प्रवाहः

अथ द्वादशप्रवाहः

अब इस बारहवें प्रवाह में जो-जो जैनियों □ के मत-विषयक लिखा गया है, सो-सो उनके ग्रन्थों के पते पूर्वक लिखा है। इसमें जैनी लोगों को बुरा न मानना चाहिये। क्योंकि जो-जो हमने इनके मत-विषय में लिखा है, वह केवल सत्याऽसत्य के निर्णयार्थ है, न कि विरोध वा हानि करने के अर्थ।

इस लेख को जब जैनी बौद्ध वा अन्य लोग देखेंगे, तब सबको सत्याऽसत्य के निर्णय में विचार और लेख करने का समय मिलेगा, और बोध भी होगा। जबतक वादी-प्रतिवादी होकर प्रीति से वाद वा लेख न किया जाय, तबतक सत्याऽसत्य का निर्णय नहीं हो सकता। जब विद्वान् लोगों में सत्याऽसत्य का निश्चय नहीं होता, तभी अविद्वानों को महा अन्धकार में पड़कर बहुत दुःख उठाना पड़ता है। इसलिए सत्य के जय और असत्य के क्षय के अर्थ मित्रता से वाद वा लेख करना हमारी मनुष्यजाति का मुख्य काम है। यदि ऐसा न हो, तो मनुष्यों की उन्नति कभी न हो।

और यह बौद्ध-जैन मत का विषय जो आगे लिखा गया है, यह इनके अतिरिक्त, अन्य मत वालों को अपूर्व लाभ और बोध करनेवाला होगा। क्योंकि ये लोग पहले अपने पुस्तकों को किसी अन्य मत वाले को देखने-पढ़ने को भी नहीं देते।

भला यह किन विद्वानों की बात है कि अपने मत के पुस्तक आप ही देखना, और दूसरों को न दिखलाना? इसीसे विदित होता है कि इन ग्रन्थों के बनानेवालों को प्रथम ही शंका थी कि इन ग्रन्थों में असम्भव बातें हैं। जो दूसरे मत वाले देखेंगे, तो खण्डन करेंगे। और हमारे मत वाले दूसरों के ग्रन्थ देखेंगे, तो इस मत में श्रद्धा न रहेगी।

अस्तु, जो हो। परन्तु बहुत मनुष्य ऐसे हैं कि जिनको अपने दोष तो नहीं दीखते; किन्तु दूसरों के दोष देखने में अति उद्युक्त रहते हैं। यह न्याय की बात नहीं। क्योंकि प्रथम अपने दोष देख निकालके

□. इस प्रवाह में निर्दिष्ट 'चारवाक' और 'बौद्ध मत' का निर्देश श्री सायणाचार्य विरचित 'सर्वदर्शनसंग्रह' पर ही मुख्यतः वाश्रित है। क्योंकि ऋषि-दयानन्द के समय इन दोनों के मत के पुस्तक प्रायः उपलब्ध न थे। जैन मतके निर्देश में भी इस ग्रन्थ से कुछ सहायता ली गई है।

पश्चात् दूसरों के दोषों में दृष्टि देके निकालें, यही न्याय की बात है। अब इन बौद्ध-जैनियों के मत का विषय सब सज्जनों के सन्मुख धरते हैं। जैसा है, वैसा विचारें।

कोई एक बृहस्पति नामा पुरुष हुआ है, जो सृष्टिकर्त्ता ईश्वर उसके दिये ज्ञान वेद और वैदिक यज्ञादि उत्तम कर्मों को भी नहीं मानता था। देखिये उनका मत—

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचर :।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत :॥ □

"कोई भी मनुष्यादि प्राणी मृत्यु के अगोचर नहीं है, अर्थात् सबको सबको मरना है। इसलिये जबतक शरीर में जीव रहे, तब तक सुख से रहे,। मरे के पश्चात् मनुष्य का शरीर भस्म हो जाता है और जिसने खाया-पिया है, वह पुन: संसार में न आवेगा। इसलिये जैसे हो सके, वैसे आनन्द में रहो; लोक में नीति से चलो। ऐश्वर्य को बढ़ाओ, और उससे इच्छित भोग करो यही लोक सब कुछ है, ऐसा समझो; परलोक कुछ नहो'।

'देखो पृथिवी जल अग्नि वायु इन चार भूतों के परिणाम से यह शरीर बना है। इसमें इनके योग से ही चैतन्य उत्पन्न होता है।जैसे मादक द्रव्य खाने-पीने से मद (=नशा) उत्पन्न होता है, इसी प्रकार इनचार भूतों के मिलने से जीव शरीर के साथ उत्पन्न होकर, शरीर के नाश के साथ आप भी नष्ट हो जाता है। फिर किसको पाप-पुण्य का फल होगा'?

इस शरीर में चारों भूतो के संयोग से एक चेतनतत्व जीवात्मा उत्पन्न होकर उन्ही के वियोग के साथ नष्ट हो जाता है। क्योंकि मरे पीछे कोई भी जीव प्रत्यक्ष नहीं होता। हम एक प्रत्यक्ष ही को प्रमाण मानते हैं। क्योंकि प्रत्यक्ष कें विना अनुमानादि, होता ही नहीं। इसलिये मुख्य प्रत्यक्ष के सामने अनुमानादि गौण होने से उनका ग्रहण नहीं करते। सुन्दर स्त्री के आलिङ्गन से आनन्द का प्राप्त करना ही पुरुषार्थ का फल है

उत्तर– ये पृथिव्यादि भूत जड़ हैं, उनसे चेतना की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती। जैसे अब माता-पिता कें संयोग से देह की उत्पत्ति होती है, वैसे ही सृष्टि के आदि में मनुष्यादि शरीर कीं आकृति

□. 'सर्वदर्शन-संग्रह' (वासुदेव शास्त्री अभ्यंरकृत टीका सहित, सन् १९२४) चार्वाक-दर्शन पृ॰ २। आगेभी पृ. इसी संस्करके जानने चाहिय।

परमेश्वर कर्त्ता के बिना कभी नहीं हो सकती। मद के समान चेतना की की उत्पत्ति और विनाश नहीं होता। क्योंकि मद चेतन को होंता है, जड़ को नहीं।

कोई पदार्थ नष्ट नहीं होता, परन्तु अदृष्ट होता है; और सर्वथा अभाव किसी का नही होता। इसी प्रकार केवल अदृश्य होने से जीवन का भी अभाव न मानना चाहिये। जब जीवात्मा सदेह होता है, तभी उसकी प्रकटता होती है। जब वह शरीर को छोड देता है, तब यह शरीर जो मृत्यु को प्राप्त हुआ है, जैसा चेतनयुक्त पूर्व था, वैसा नहीं रहता और न रह सकता है।

यही बात बृहदारण्यक (४-५-१७) में कही है–

न वा रेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा ॥

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि–'हे मैत्रेयि ! मैं मोह से बात नहीं करता; किन्तु आत्मा अविनाशी है, जिसके योग से शरीर चेष्टा करता है। यह उत्पत्ति धर्म वाला नही है'।

जब जीव शरीर से पृथक् हो जाता है, तब शरीर में ज्ञान कुछ भी नहीं रहता। क्योंकि जिसके संयोग से चेतनता थी और वियोग से जड़ता होती है, यदि वह देह से पृथक् न हो तो पुरुष कभी न मरे। शरीर में ज्ञान भी सदा रहे। इसलिये जीव देह से पृथक् पदार्थ है।

जैसे आंख सब को देखती है, परन्तु अपने को नहीं; इसी प्रकार प्रत्यक्ष का करनेवाला आत्मा अपने को ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। जैसे वह अपनी आंख से सब घट-पटादि पदार्थ देखता है, वैसे आंख को अपने ज्ञान से देखता है। जो द्रष्टा है, वह द्रष्टा ही रहता है; दृश्य कभी नहीं होता। जैसे विना आधार के आधेय, कारण के विना कार्य, अवयवी के विना अवयव, और कर्त्ता के विना कर्म नहीं रह सकता, वैसे कर्त्ता के विना प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ?

जो सुन्दर स्त्री के साथ समागम करने से होनेवाले क्षनिक सुख ही को पुरुषार्थ का फल मानो, उससे दुःख भी होता है, तो उसे भी पुरुषार्थ ही का फल मानना होगा। जब ऐसा है, तो स्वर्ग की हानि होने से दुःख भोगना पडेगा। इसलिये वह ही पुरुषार्थ का चरम फल नहीं।

चारवाक–जो दुःख संयुक्त सुख का त्याग करते हैं, वे मूर्ख हैं। जैसे धान्यार्थी धान्य का ग्रहण और बुस का त्याग करता है, वैसे इस संसार में बुद्धिमान् सुख का ग्रहण और दुःख का त्याग करें। क्योंकि जो इस लोक के उपस्थित सुख को छोड़के अनुपस्थित स्वर्ग के सुख की कल्पना इच्छा कर, धूर्तकथित वेदोक्त अग्निहोत्रादि कर्म उपासना और ज्ञानकाण्ड

का अनुष्ठान परलोक के लिये करते हैं, वे अज्ञानी हैं। जब परलोक है ही नही, तो उसकी आशा करना मूर्खता का काम है। क्योंकि–

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ॥

'अग्निहोत्र, तीन वेद, तीन दण्ड और भस्म का लगाना बुद्धि और पुरुषार्थरहित पुरुषों ने जीकिका बना ली है।'' ऐसा हमारे मत के आचार्य बृहस्पति का कथन है।

किन्तु कांटे लगने आदि से उत्पन्न हुए दुःख का नाम नरक है। लोकसिद्ध राजा परमेश्वर है, कोई दूसरा ईश्वर नहीं है। और देह का नाश होना ही मोक्ष है, अन्य कुछ भी नही है ज्ञान से एतद्भिन्न कोई मुक्ति नहीं होती।

....

इतने ही लेख से बुद्धिमान् लोग बहुत सा जान लेंगे। थोडा सा यह दृष्टान्तमात्र लिखा है। जो इनकी असम्भव बातें सब लिखें, तो इतने पुस्तक हो जायें कि एक पुरुष आयुभर में पढ़ न सके।

इसलिये जैसे एक हण्डे में चुड़ते अर्थात् पकते चावलों में से एक चावल की परीक्षा करने से कच्चे वा पक्के हैं, सब चावल विदित हो जाते हैं, ऐसे ही इस थोड़े से लेख से सज्जन लोग बहुत-सी बातें समझ लेंगे। बुद्धिमानों के सामने बहुत लिखना आवश्यक नहीं। क्योंकि दिग्दर्शनवत् सम्पूर्ण आशय को बुद्धिमान् लोग जान ही लेते है।

इसके आगे ईसाइयों के मत के विषय में लिखा जायगा।

इति द्वादश : प्रवाहः

अथ त्रयोदशप्रवाहः

अब आगे ईसाइयोंके मत विषय में संक्षेप से लिखते हैं। जिससे सबको विदित हो जावे कि इनका मत कहाँ तक निर्दोष है ? और इनका पुस्तक ईश्वर कृत है या नही ?

जो यह बाइवल का मत है, वह केवल ईसाइयों का है सो नही; किन्तु इससे यहूदी आदि मत भी गृहीत हैं। ● जो यहां 'तेरहवें प्रवाह' में ईसाईमत के विषय में कुछ विशेष लिखा है, इसका यही अभिप्राय है कि आजकल बाइबल के मत में ईसाई मुख्य हो रहे हैं, यहूदी आदि गौण हैं। मुख्य के ग्रहण से गौण का ग्रहण हो जाता है। इससे यहूदियों का भी ग्रहण समझ लीजिये।

इनका जो विषय यहां लिखा है, सो केवल बाइबल में से, कि जिसको ईसाई और यहूदी आदि सब मानते हैं। और इसी पुस्तक को अपने मत का मूल कारण समझते हैं। इस पुस्तक के भाषान्तर बहुत से हुए हैं, जो कि इनके मत में बड़े-बड़े पादरी हैं, उन्हींने किये हैं। उनमें से देवनागरी वा संस्कृत❖ भाषान्तर देखकर सत्यधर्म प्रवक्ता ऋषिदयानन्द को बाईबल में बहुतसी शङ्का हुई। उनमें से कुछ थोड़ी सी सबके विचारार्थ उन्होने सत्यार्थ प्रकाश में लिखी हैं।

उसका अनुसरणकर करके यह लेख केवल सत्य की वृद्धि और असत्य के ह्रास होने के लिये लिखा है, न कि किसी को दुःख देने वा हानि करने, अथवा मिथ्या दोष लगाने के अर्थ। इसको पढ़कर सब कोई समझ लेंगे कि यह पुस्तक कैसा है, और इनका मत भी कैसा है ?

इस लेख से यही प्रयोजन है कि सब मनुष्यमात्र के लिये 'यहपुस्तक' व 'इनके मत' को देखना सुनना लिखना आदि करना सहज होगा। और पक्षी-प्रतिपक्षी होके विचार कर ईसाईमत का आन्दोलन अर्थात् विवेचन सब कोई कर सकेंगे।

● बाइवल के दो भाग हैं–पुराना नियम (पुराना शास्त्र=ओल्ड टेस्ट मेण्ट) और नया नियम (नया शास्त्र=न्यू टेस्ट मेण्ट)। यहूदी 'पुराने नियम' को ही प्रमाण मानते हैं।

❖ नीलकण्ठ शास्त्री ने ईसाई मत ग्रहण करके बाइबल का संस्कृत भाषान्तर किया था।

इससे एक यह प्रयोजन सिद्ध होगा कि मनुष्यों को सत्यधर्म तथा मतमतान्तर विषयक ज्ञान बढ़कर यथायोग्य सत्याऽसत्य मत और कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य कर्मसम्बन्धी विषय विदित होकर सत्य और कर्त्तव्यकर्म का स्वीकार, असत्य और अकर्त्तव्यकर्म का परित्याग करना, सहजता से हो सकेगा।

सब मनुष्यों को उचित है कि सबके मतविषयक पुस्तकों को देख समझकर कुछ सम्मति वा असम्मति देवें वा लिखें; नहीं तो सुना करें। क्योंकि जैसे पढ़ने से पण्डित होता है, वैसे सुनने से बहुश्रुत होता है। यदि श्रोता दूसरे को नहीं समझा सकता, तथापि आप स्वयं तो समझ ही जाता है, कोई पक्षपातरूप यानारूढ़ होके नीचा देखते हैं, उनको न अपने और न पराये गुण-दोष विदित हो सकते हैं।

मनुष्य का आत्मा यथायोग्य सत्यासत्य के निर्णय करने का सामर्थ्य रखता है। जितना अपना पठित वा श्रुत है, जितना निश्चय कर सकता है। यदि एक मत वाले दूसरे मत वाले के विषयों अर्थात् सिद्धान्त तथा आचार विचारों को जानें और अन्य मत वाले के विषय को न जानें, तो यथावत् संवाद नहीं हो सकता। किन्तु अज्ञानी होने से किसी भ्रमरूप बाड़े में घिर जाते हैं।

ऐसा न हो, इसलिये इस सत्यार्थसरस्वती ग्रन्थ में, प्रचरित सब मतों का विषय थोड़ा-थोड़ा लिखा है। इतने ही से शेष-विषयों में अनुमान कर सकता है, कि वे सच्चे हैं, वा झूठे और ग्राह्य है वा अग्राह्य ?

जो-जो सर्वमान्य विषय हैं, वे तो सब मतों में एक से हैं। झगड़ा झूठे विषयों में होता है। अथवा एक सच्चा और दूसरा झूठा हो, तो भी कुछ थोड़ा सा विवाद चलता है। यदि वादी-प्रतिवादी सत्यासत्य-निश्चय के लिये वाद-प्रतिवाद करें, तो अवश्य सत्यधर्म का निश्चय हो जाय और भूमण्डल वासी सब मनुष्य सुख को प्राप्त हों।

प्रथम बाईबल के तैरोत का विषय लिखा जाता है ?

१. बाइबल के उत्तरवर्ती हिन्दी अनुवादों में बहुत सुधार किया गया है। यथा 'बेडौल' के स्थान पर 'सुनसान' पाठ मिलता है, 'और पृथिवी सूनी और सुनसान पड़ी थी। द्र.–सन् १९१२ में मिशन प्रेस इलाहाबाद मे छपा संस्करण। ऐसे ही अन्यत्र भी बहुत पाठ बदला गया हैं।

समीक्षा–आरम्भ में ईश्वर ने आकाश और पृथिवी को सृजा ॥ और पृथिवी बेडौल और सूनी थी, और गहिराव पर अंधियारा था । और ईश्वर का आत्मा जल के ऊपर डोलता था ॥ ऐसा तौरेत उत्पत्ति पुस्तक पर्व १ । आयत १, २ में लिखा है ॥ १ ॥

आरम्भ किसको कहते हो ?

ईसाई–सृष्टि के प्रथमोत्पत्ति को ।

समीक्षक–क्या यही सृष्टि प्रथम हुई है ? क्या इसके पूर्व कभी नही हुई थी ?

ईसाई–हम नहीं जानते, हुई थी वा नहीं; ईश्वर जाने ।

समीक्षक–जब नहीं जानते, तो उस, जिससे सन्देह का निवारण नहीं हो सकता, पुस्तक पर विश्वास क्यों किया ? और इस सन्देह के भरे हुए मत का उपदेश क्यों करते हो ?

निःसन्देह सर्वशंकानिवारक सत्यधर्म प्रतिपादक वेदमत का स्वीकार क्यों नहीं करते ? जब तुम ईश्वर की सृष्टि का हाल नहीं जानते, तो उसके रचयिता ईश्वर को कैसे जान सकते हो ?

आकाश किसको मानते हो ?

ईसाई–पोल और ऊपर को ।

समीक्षक–पोल की उत्पत्ति किस प्रकार हुई ? क्योंकि यह विभु पदार्थ और अति सूक्ष्म है, ऊपर नीचे एक है । जब आकाश नहीं सृजा था, तब पोल और अवकाश था वा नहीं ? जो नहीं था, तो उस समय सृष्टिकर्त्ता ईश्वर, जगत् का कारण प्रकृति और जीव कहां रहते थे ? विना अवकाश के कोई पदार्थ स्थिर नही हो सकता । इसलिये बाइबल का कथन युक्त नही ।

ईश्वर का ज्ञान कर्म बेडौल होता है, वा सब डौलवाला ?

ईसाई–डौलवाला होता है ।

समीक्षक–तो यहां ईश्वर की बनाई पृथिवी बेडौल थी, ऐसा क्यों लिखा ?

ईसाई–बेडौल का अर्थ है कि ऊंची नीची थी, बराबर नहीं थी ।

समीक्षक–फिर बराबर किसने की ? और क्या अब ऊंची-नीची नहीं है ? इसलिये ईश्वर का काम बेडौल नही हो सकता, क्योंकि वह सर्वज्ञ

है। उसके काम में न भूल और न चूक कभी हो सकती है। और बाइबल में ईश्वर की सृष्टि बेडौल लिखी है, इसलिये यह पुस्तक ईश्वरकृत नहीं हो सकता।

(प्रश्न) ईश्वर का आत्मा क्या पदार्थ है 'जो जलके ऊपर डोलता था' ?

ईसाई–चेतन।

समीक्षक–वह साकार है वा निराकार ? तथा व्यापक है वा एकदेशी ?

ईसाई–यह ईश्वर का आत्मा निराकार चेतन और व्यापक है। परन्तु किसी एक 'सनाई' पर्वत चौथा 'आसमान' आदि स्थानों में विशेष करके रहता है।

समीक्षक-जो वह निराकार है, तो उसको किसने देखा ? क्योंकि आकार रहित का देखना बनता नहीं। और व्यापक है, तो उस का जल पर डोलना कभी नहीं हो सकता। भला जब ईश्वर का आत्मा जल पर डोलता था, तब ईश्वर कहां था ? इससे यही सिद्ध होता है कि ईश्वर का शरीर कहीं अन्यत्र स्थिर होगा। अथवा अपने कुछ आत्मा के एक टुकड़े को जल पर डुलाया होगा। जो ऐसा है, तो ईश्वर विभु और सर्वज्ञ कभी नहीं हो सकता।

जो विभु नहीं, तो वह जगत् की रचना धारण पालन और जीवों के कार्यों की व्यवस्था वा प्रलय कभी नहीं कर सकता। क्योंकि जिस पदार्थ का स्वरूप एकदेशी है, उसके गुण कर्म स्वभाव भी एकदेशी होते हैं। जो ऐसा है, तो वह ईश्वर नहीं हो सकता। क्योंकि, ईश्वर सर्व व्यापक, अनन्तगुण-कर्म-स्वभावयुक्त, सच्चिदानन्दस्वरूप, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव, अनादि-अनन्तादि लक्षणयुक्त वेदों में कहा गया है। उसीको मानने और उसीकी उपासना करने से सबका कल्याण होगा, अन्यथा नही।

समीक्षक–"ईश्वर ने कहा कि पानियोंके मध्यमें आकाश होवे। और पानियों को पानियों से विभाग करे॥ तब ईश्वर ने आकाश को बनाया। और आकाश के नीचे के पानियों को आकाश के ऊपर के पानियों से विभाग किया। और ऐसा हो गया॥ और ईश्वर ने आकाश को स्वर्ग कहा। और सांझ और बिहान दूसरा दिन हुआ ऐसा" तौरेत पर्व १। आ० ६–८। में लिखा है॥२॥

जो जल के बीच में आकाश न होता, तो जल रहता ही कहां ? जो आकाश को स्वर्ग कहा, तो क्योंकि वह आकाश सर्वव्यापक है; इसलिये

सर्वत्र स्वर्ग हुआ। फिर ऊपर को स्वर्ग है, यह कहना व्यर्थ है। जब सूर्य्य उत्पन्न ही नहीं हुआ था, तो पुनः दिन और रात कहाँ से हो गई ? ऐसी ही असम्भव बातें बाइबल में होने से यह ईश्वरोक्त पुस्तक नहीं हो सकता।

समीक्षा–"तब ईश्वर ने कहा कि–हम आदम को अपने स्वरूप में अपने समान बनावें॥ तब ईश्वर ने आदम को अपने स्वरूप में उत्पन्न किया। उसनें उसे ईश्वर के स्वरूप में उत्पन्न किया। उसने कहा "देख, मैं शीघ्र आता हूं, और मेरा प्रतिफल मेरे साथ है। जिससे हरएक को जैसा उसका कार्य ठहरेगा, वैसा फल देऊंगा" ऐसा यो० प्र० प० २२ आ० १२। में लिखा है॥६३॥

समीक्षक-जब यही बात है कि कर्मानुसार फल पाते हैं, तो पापोंकी क्षमा नहीं होती। और जो क्षमा होती है, तो इञ्जील की बातें झूठी हैं। यदि कोई कहे कि क्षमा करना भी इञ्जीलमें लिखा है, तो पूर्वापरविरुद्ध अर्थात् 'हल्फ़दरोगी' हुई, तो झूंठ है। इसका मानना बुद्धिमातों को योग्य नहीं।

....

अब कहां तक लिखें, बाइबल में बहुत सी बातें सृष्टि क्रमके विरुद्ध होने से खण्डनीय हैं। यहाँ तो थोडा-सा चिन्हमात्र ईसाइयो के मत और उन की बाइबल पुस्तक का दिखलाया हैं। इतने ही से बुद्धिमान लोग बहुत समझ लेगें। थोड़ी सी-अच्छी और सत्य बातें भी हैं; परन्तु

जैसे झूंठ के संग से सत्य भी शुद्ध नहीं रहता, वैसा ही बाइबल पुस्तक भी माननीय नहीं हो सकता। किन्तु वह सत्य तो वेदों के स्वीकार में गृहीत होता ही है

इति त्रयोदश : प्रवाह :

अथ चतुर्दशःप्रवाहः

इसके आगे मुसलमानों के मत विषय में लिखते हैं; जिससे सबको विदित हो जावे कि इनके मत कहां तक निर्दोष है ? और इनका पुस्तक ईश्वरकृत है या नहीं ?

जो यहां 'चौदहवें प्रवाह' में मुसलमानों के मतविषय में लिखा है, सो केवल 'कुरान' □ के अभिप्राय से है। उनके अन्य ग्रन्थ के मत से नहीं।※ क्योंकि मुसलमान 'कुरान' पर ही पूरा-पूरा विश्वास रखते हैं।

यद्यपि मुसलमानों में कई फिरके होने के कारण कुरान के किसी शब्द-अर्थ आदि विषय में विरुद्ध बात है; तथापि कुरान पर सब ऐकमत्य हैं। जो कुरान अर्बी भाषा में है, उस पर मौलवियों ने उर्दु में अर्थ लिखा है। उस अर्थ का देवनागरी अक्षर और आर्य्यभाषान्तर कराके, पश्चात् अर्बी के बड़े-बड़े विद्वानों से शुद्ध करवाके लिखा गया है। ❖ यदि कोई कहे कि यह अर्थ ठीक नहीं है, तो उसको उचित है कि मौलवी साहबों के तर्जुमाओं का पहिले खण्डन करे। पश्चात् इस विषय पर लिखें।

क्योंकि यह लेख केवल मनुष्यों की उन्नति और सत्यासत्य के निर्णय के लिये है. अर्थात् सब मतों के विषयों का थोड़ा ज्ञानहोवे, साथ ही इससे मनुष्यों को परस्पर विचार करने का अवसर मिले। और एक दूसरों के दोषों का खण्डन त्याग कर एक दूसरे गुणों का मण्डन वा ग्रहण करें।

□ "वास्तव में यह शब्द 'कुरआन' है, परन्तु भाषा में लोगों के बोलने में 'कुरान' आता है इसलिये ऐसा ही लिखा है।

※ अर्थात् हदीसों आदि के मत से नहीं। हदीसों को कुछ मुसलमान मानते है, कुछ नहीं मानते।

❖ जिस देवनागरी कुरान के आधार पर ऋषिदयानन्द ने समीक्षाएं लिखीहैं, वह परोपकारी सभा अजमेर (राजस्थान) के संग्रह में सुरक्षित है। इसके अन्तका पाठ इस प्रकार है-"सं० १९३५ कार्तिक शु० ९ रविवासरे कुराणाख्यश्चं ग्रन्थः सम्पूर्णः। इन्द्रप्रस्थनगरे ......।" इसका संशोधन 'गुड़ हट्टा, पटना के निवासी मुंशी मनोहर लाल ने किया था। द्र०-ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ १८१ (द्वि० सं) मुन्शी मनोहरलाल के नाम का पत्र इसी प्रसंग में रामलालपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन के पृष्ठ २२ (द्वि० सं०) की टि० १ भी द्रष्टव्य है।

न किसी अन्य मत पर, न इस मत पर झूंठ-मूंठ बुराई वा भलाई, लगाने का प्रयोजन है। किन्तु जो-जो भलाई है, वही भलाई और जो जो बुराई है, वही सबको विदित होवे। न कोई किसी पर झूंठ चला सके और न सत्य को रोक सके। और सत्यासत्य विषय प्रकाशित किये पर भी जिसकी इच्छा हो वह न माने वा माने। स्वीकारने के लिये किसी पर बलात्कार नहीं किया जाता, किसी को लोभलालच नहीं जाता; चमत्कार बतलाकर वहकाया नहीं जाता।

यही सज्जनों को रीति है कि अपने वा पराये दोषों को दोष और गुणों का गुण जानकर गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग करें। और हठियों का हठ-दुराग्रह न्यून करें-करावें। क्योंकि पक्षपात से क्या-क्या अनर्थ जगत् में न हुए और न होते है ?

सच तो यह है कि इस अनिश्चित क्षनभङ्ग जीवन में पराई हानि करके लाभ मे स्वयं रिक्त रहना और अन्य को रखना मनुष्य-पन से बहिः है। इसमें जो जो कुछ भूलचूक से विरुद्ध लिखा गया हो, उसको सज्जन लोग प्रीति से विदित करा देंगे, तो उस पर निःसंशय विचार किया जायगा। तत्पश्चात् जो उचित अर्थात् युक्ति युक्त होगा, तो अवश्य माना जायगा और सुधार कर लिया जायगा।

क्योंकि यह लेख हठदुराग्रह ईर्ष्या-द्वेष वाद-विवाद और विरोध घटाने के लिये किया गया है, न कि इनको बढ़ाने के अर्थ; इसलिये सब को प्रीति विश्वास से इस को देखना चाहिये। क्योंकि एक-दूसरे को हानि करने से पृथक रह, परस्पर सब मनुष्यों को लाभ पहुंचाना हमारा मुख्य कर्म है। विचार कर इष्ट ग्रहण और अनिष्ट का परि त्याग कीजिये।

१—आरम्भ साथ नाम अल्लाह के क्षमा करनेवाला दयालु ।।

मंजिल १। सिपारा १। सूरत १ ।।

मुसलमान लोग ऐसा कहते हैं कि यह कुरान खुदा का कहा है। परन्तु इस वचन से विदित होता है कि इसका बनानें वाला कोई दूसरा ही है। क्योंकि जो परमेश्वर का बनाया होता, तो आरम्भ साथ नाम अल्लाह के' ऐसा न कहता। किन्तु 'आरम्भ वास्ते उपदेश मनुयों के' ऐसा कहता।

यदि मनुष्यों को खुदा शिक्षा करता है कि तुम ऐसा कहो, तो भी ठीक नहीं। क्योंकि पापो की क्षमा करने वाला होने से पाप का आरम्भ भी खुदा के नाम से होकर उसका पवित्र नाम भी दूषित हो जायगा।

जो वह क्षमा और दया करनेहारा है, तो उसने अपनी सृष्टि में मनुष्यों के सुखार्थ अन्य प्राणियों को मार, दारुण पीड़ा दिलाकर मरवाके मांस खाने की आज्ञा क्यों दी ? वे प्राणी निष्पाप अनपराधी और परमेश्वर के बनाये हुए हैं ?

और यह भी कहना था कि—'परमेश्वर के नाम पर अच्छी बातों का आरम्भ करो, बुरी बातों का नहीं'; क्या चोरी जारी मिथ्या-भाषणादि अधर्म का भी आरम्भ परमेश्वर के नाम पर किया जाय ? इसी से कसाई आदि मुसलमान गाय आदि के गले काटने में भी 'बिस्मिल्लाह' इस वचन को पढ़ते हैं। □जो यही इसका पूर्वोक्त अर्थ है, तो बुराइयों का आरम्भ भी परमेश्वर के नाम पर हो गया। और 'खुदा' दयालु भी न रहेगा। क्योंकि उसकी दया उन पशुओं पर न रही।

२—सब स्तुति परमेश्वर के वास्ते हैं, जो परवरदिगार अर्थात् पालक करनेहारा है सब संसार का ।। क्षमा करनेवाला दयालु है ।।

मं० १ । सि० १ । सूरतुल्फातिहा । आ० १, २ ॥

यह बात तो ठीक है। परन्तु जो कुरान का खुदा संसार का पालन करनेहारा होता, और सब पर क्षमा और दया करता होता, तो अन्य मत वाले और पशु आदि को भी मुसलमानों के हाथ से मरवाने का हुक्म न देता।

जो क्षमा करनेहारा है, तो क्या पापियों पर भी क्षमा करेगा ? और जो वैसा है, तो आगे लिखेंगे कि 'काफ़िरों को क़त्ल करो' अर्थात् जो कुरान और पैग़म्बर को न मानें, वे काफ़िर हैं, एसा क्यों कहता ?

यह थोड़ा सा कुरान के विषय को लिखके बुद्धिमानों के सन्मुख स्थापित किया है। यह पुस्तक कैसा है ? सत्य जो कुछ इसमें थोड़ासा दीखता है, वह वेदादि विद्यापुस्तकों के अनुकूल होने से जैसे हम ग्राह्य है, वैसे अन्य भी मज़हब के हठ और पक्षपातरहित विद्वानों और बुद्धिमानों को ग्राह्य है।

□ ऐसे डाकू तस्कर आदि दुष्टजनों का देवी आदि की पूजा कर निर्विघ्न सफलता की प्रार्थना कराना बुरा है।

प्रश्न–आज तक किसी ने ऐसा नहीं कहा, अब तुम कहते हो। हम तुम्हारी बात कैसे मानें ?

उत्तर–तुम्हारे मानने वा न मानने से हमारी बात झूंठ नहीं हो सकती है। जिस प्रकार से हमने इसको अयुक्त ठहराया है, उसी प्रकार से जब तुम अथर्ववेद गोपथ वा इसकी शाखाओं से प्राचीन लिखित पुस्तकों में जैसा-का-तैसा लेख दिखलावोगे और अर्थसंगति से भी शुद्ध सिद्धकरदोगे, तब तो यह प्रमाण हो सकती है।

प्रश्न–देखो, हमारा मत कैसा अच्छा है, कि जिसमें सबको बराबर समझा जाता है सब प्रकार का सुख और अन्त में मुक्ति होती है।

उत्तर–ऐसे ही अपने-अपने मत वाले सब कहते हैं कि–'हमारा ही मत अच्छा है, बाकी सब बुरे। विना हमारे मत के दूसरे मत में मुक्ति नहीं हो सकती'। अब हम आपकी बात सच्ची मानें, वा उनकी ?

सत्यधर्म यह है कि सत्यभाषण, अहिंसा, दया आदि शुभ गुण सब मतों में अच्छे हैं। और बाकी वादविवाद, ईर्ष्या-द्वेष, मिथ्याभाषणादि कर्म सब मतों में बुरे हैं। यदि तुमको सत्यमत ग्रहण की इच्छा हो, तो वैदिक मत को ग्रहण करो जिसमें सब मनुष्यों में समानता की बात ही नहीं, प्राणिमात्र में समभाव रखने की बात है; इहलोक में सुख प्राप्ति का युक्तियुक्त उपाय सदाचार का मार्ग बताया है और मुक्ति का सच्चा मार्ग सबके लिये बताया है॥

इति चतुर्दशः प्रवाहः

आर्योद्देश्यमणिमाला

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिमतानुसारं

विद्यासागरविदुषा संग्रथिता

ईश्वरादितत्त्वलक्षणप्रकाशिका

'सर्वतन्त्र सिद्धान्त' अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म[1] उसको कहते हैं; जिसको सदा से सब मानते आये हैं, मानते हैं और मानेंगे भी। इसलिए उसको **'सनातन नित्यधर्म'** कहते हैं, कि जिसका विरोधी कोई भी, कहीं भी और कभी भी, न हो सके।

अविद्यायुक्त जन अथवा किसी मत वाले के भ्रमाये हुये मिथ्यावादी जन जिसको अन्यथा जानें वा मानें, उसका स्वीकार कोई भी बुद्धिमान नहीं करते। किन्तु जिसको सर्वदा भूतल के सब आप्त अर्थात् सत्यमानी सत्यवादी सत्यकारी परोपकारक पक्षपात रहित विद्वान् मानते हैं, वही सबको मन्तव्य होने से प्रमाण के योग्य और जिसको नहीं मानते, वह अमन्तव्य होने से प्रमाण के योग्य नहीं होता।

अब जो वेदादि सत्यशास्त्र और **ब्रह्मा** से लेकर **जैमिनिमुनि और दयानन्द स्वामी** पर्यन्तों के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ हैं, उनको सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करते हैं।

ऋषि दयानन्द का मन्तव्य यही है **कि जो तीन काल में सबको एक-सा मानने योग्य है। उनका कोई नवीन कल्पना वा मत-मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है।** किन्तु जो सत्य है, उसको मानना-मनवाना और जो असत्य है, उसको छोड़ना और छुड़वाना उनको अभीष्ट है।

यदि वे पक्षपात करते, तो आर्य्यावर्त्त में प्रचरित नाना मतों में से किसी एक मत के आग्रही होते। किन्तु जो-जो आर्यावर्त्त वा अन्य देशों में अधर्मयुक्त चालचलन है, उसका स्वीकार और जो धर्मयुक्त बातें हैं, उनका त्याग कभी नहीं करते, और न किसी से कराना चाहते। क्योंकि उनके मतानुसार ऐसा करना मनुष्यधर्म से बहिः है।

ऋषि दयानन्द कहते हैं, **'मनुष्य' उसी को कहना, कि जो मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्याय-कारी बलवान् से भी न डरे, और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे।**

इतना ही नहीं, किन्तु अपने सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं, कि चाहे वे महा अनाथ निर्बल और गुण रहित क्यों न हों, उनकी रक्षा उन्नति प्रियाचरण, और [अधर्मी] चाहे चक्रवर्ती सनाथ महाबलवान् और गुण-

१. इसको मनुस्मृति में 'सामासिक-धर्म' नाम दिया है।

वान् भी हो, तथापि उसका नाश अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे।

अर्थात् जहां तक हो सके, वहां तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु इस मनुष्यपनरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे (स्व० म० प्र० भूमिका)।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥१॥[1]
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्,
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये,
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥२॥[2]
एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥३॥ मनुः ८।१७॥
सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाऽऽक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥४॥[3]
नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
नहि सत्यात् परं ज्ञानं तस्मात् सत्यं समाचरेत् ॥५॥[4]

"सत्य सनातन धर्म, जो नित्यजीव का सदा साथ देने वाला सुहृत् है, उसको स्तुति हो या निन्दा, धन मिले या नहीं, धीर आप्त जन कभी काम भय या लोभ से, त्यागते नहीं हैं। सत्य ही परम धर्म है और अनृत महापाप है।" इन श्लोकों के अभिप्राय के अनुकूल सबको चलना योग्य है।

अब आगे, जो वेदादि सत्य शास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनिमुनि पर्यन्तों के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ हैं, जिनको साररूप से ऋषि दयानन्द ने अपने 'स्वामन्तव्यमन्तव्य प्रकाश' और 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' नामक ग्रन्थों में लिखा है, उनके आधार पर उनको संग्रह करके प्रकाशित करते हैं।

---

१. भर्तृहरि नीतिशतक ८४। विभिन्न संस्करणों में संख्या-भेद भी मिलता है।
२. महा० भा० उद्योगपर्व ४०। ११ उत्तरार्ध, १२ पूर्वार्ध॥
३. मुण्डकोप० ३।१।६॥ ४. अनुपलब्धमूल। कस्यचित्।

१. **ईश्वर**—जिसके गुण, कर्म, स्वभाव और स्वरूप सत्य तथा पवित्र ही हैं; जो केवल चेतनमात्र वस्तु है तथा जो अद्वितीय, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, निराकार, सर्वत्र-व्यापक, अनादि और अनन्त आदि सत्यगुणवाला है; जिसका स्वभाव अविनाशी, ज्ञानी, आनन्दी, शुद्ध, न्यायकारी, दयालु और अजन्मादि है; और जिसका कर्म्म जगत् की उत्पत्ति, पालन और विनाश करना तथा सब जीवों को सत्यन्याय से पाप पुण्य के फल ठीक-ठीक अर्थात् 'न न्यून न अधिक' पहुंचाना है, उसको ईश्वर कहते हैं।

'ओम्' इसका निज मुख्य नाम है और ब्रह्म विष्णु शिव परमात्मादि नाना नाम है। वही सबका परम गुरु, इष्टदेव है। इसी की उपासना सबको करनी योग्य है।

२. **धर्म्म** जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन, सत्यभाषणादि युक्त और पक्षपात रहित न्यायाचरण व सर्वहित करना है, जो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सुपरीक्षित और वेदोक्त तथा वेदों से अविरुद्ध होने से सब मनुष्यों के लिए यही एक मानना योग्य है, उसको धर्म्म कहते हैं।

अधर्म्म—जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा को छोड़कर और पक्षपात-सहित अन्यायी होके विना प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अपना ही हित करना है, जो अविद्या हठ अभिमान क्रूरतादि दोषयुक्त होने के कारण वेदविद्या से विरुद्ध है और सब मनुष्यों को छोड़ने के योग्य है, वह अधर्म्म कहाता है।

३. **पुण्य**—जिसका स्वरूप, विद्यादि शुभ गुणों का दान और सत्यभाषणादि सत्याचार का करना है, उसको पुण्य कहते हैं।

४. **पाप**—जो पुण्य से उल्टा और मिथ्याभाषणादि करना है, उसको पाप कहते हैं।

४. **अर्थ**—वह 'जीवन व्यवहार के योग्य साधन सामग्री है,' कि जो धर्म ही से प्राप्त किया जाय, और जो अधर्म से सिद्ध होता है, उसको **'अनर्थ'** कहते हैं।

५. **काम**—वह सुखभोग है कि जो धर्म और अर्थ से प्राप्त किया जाय।

६. **सत्यभाषण**—जैसा कुछ अपने आत्मा में और असम्भवादि दोषों से रहित करके सदा वैसा ही बोले, उसको सत्यभाषण कहते हैं।

मिथ्याभाषण—जो कि सत्यभाषण अर्थात् सत्य बोलने से विरुद्ध है, उसको मिथ्याभाषण कहते हैं।

७. **विश्वास**—जिसका मूल अर्थ और फल निश्चय करके सत्य ही हो, उसका नाम विश्वास है।
अविश्वास—जो विश्वास से उलटा है, जिसका तत्व अर्थ न हो, वह विश्वास कहाता है।

८. **परलोक**—जिसमें सत्य विद्या से परमेश्वर की प्राप्ति हो; उस प्राप्ति से इस जन्म वा पुनर्जन्म और मोक्ष में परमसुख प्राप्त होना है, उसको परलोक कहते हैं।
अपरलोक—जो परलोक से उलटा है; जिसमें दुःख विशेष भोगना होता है, वह पपरलोक है।

९. **जन्म**—जिसमें किसी शरीर के साथ संयुक्त होके जीव कर्म करने में समर्थ होता है, उसको जन्म अर्थात् 'जीव के शरीर धारण कर प्रगट होने को' जन्म कहते हैं। यह पूर्व, पर और मध्य भेद से तीन प्रकार का होता है।

१०. **मरण**—जिस शरीर को प्राप्त होकर जीव क्रिया करता है, उस शरीर और जीव का किसी काल में जो वियोग हो जाना है, उसको मरण कहते हैं।

११. **स्वर्ग**—जो विशेष सुख का भोग और उस सुख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है, वह स्वर्ग कहाता है।

१२. **नरक**—जो विशेष दुःख का भोग और उस दुःख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है, उसको नरक कहते हैं।

१३. **विद्या**—जिससे ईश्वर से लेके पृथ्वीपर्यन्त पदार्थों का सत्य विज्ञान होकर उनसे यथायोग्य उपकार लेना होता है, इसका नाम विद्या है।

१४. **अविद्या**—जो विद्या से विपरीत है; भ्रम अन्धकार और अज्ञानरूप है, उसको अविद्या कहते हैं।

१५. **सत्पुरुष**—जो सत्यप्रिय धर्मात्मा विद्वान् सबके हितकारी और महाशय होते हैं, वे सत्पुरुष कहाते हैं।

१६. **सत्सङ्ग-कुसङ्ग**—जिस करके झूठ से छूट के सत्य की ही प्राप्ति होती है, उसको सत्सङ्ग और जिस करके पापों में जीव फंसे, उसको कुसङ्ग कहते हैं।

१७. **तीर्थ**—जितने विद्याभ्यास और विद्यादानादि, सत्यभाषण,, सुविचार, यमनियमादि योगाभ्यास, ईश्वरोपासना, धर्मानुष्ठान, सत्य का सङ्ग, पुरुषार्थ, ब्रह्मचर्य, जितेन्द्रियतादि उत्तम शुभ कर्म हैं, वे सब तीर्थ कहाते हैं। क्योंकि इन करके जीव दुःख सागर से तर जा सकते हैं। इतर जल-

स्थलादि तीर्थ नहीं होते।

१८. **स्तुति**—जो ईश्वर वा किसी दूसरे पदार्थ के गुण, ज्ञान, कथन, श्रवण सत्यभाषण करना है, वह स्तुति कहाती है।

स्तुति का फल—जो गुणगान आदि के करने से गुणवाले पदार्थों में प्रीति होती है; यह स्तुति का फल कहाता है।

१९. **निन्दा**—जो मिथ्याज्ञान, मिथ्याभाषण, झूठ में आग्रहादि क्रिया है; जिससे कि गुण छोड़कर उनके स्थान में अवगुण लगाना होता है, वह निन्दा कहाती है।

२०. **प्रार्थना**—अपने पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त उत्तम कर्मों की सिद्धि के लिए परमेश्वर वा किसी सामार्थ्य वाले मनुष्य के सहाय लेने को प्रार्थना कहते हैं।

प्रार्थना का फल—अभिमान का नाश, आत्मा में आर्द्रता, गुण ग्रहण में पुरुषार्थ और अत्यन्त प्रीति का होना, प्रार्थना का फल है।

२१. **उपासना**—जैसे ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव पवित्र हैं, वैसे अपने करना। ईश्वर को सर्वव्यापक, अपने को व्याप्य जानके ईश्वर के समीप हम और हमारे समीप ईश्वर है, ऐसा निश्चय योगाभ्यास से साक्षात् करना 'उपासना' कहाती है। इससे ईश्वर ही के आनन्दस्वरूप में अपने आत्मा को मग्न करना होता है।

उपासना का फल—ज्ञानकी उन्नति और दिव्यसुख की प्राप्ति है।

२२. **सगुणनिर्गुण-स्तुतिप्रार्थना**—जो-जो गुण परमेश्वर में हैं, उनसे युक्त और जो-जो गुण नहीं हैं, उनसे पृथक्-पृथक् मानकर प्रशंसा करना, **'सगुणनिर्गुण-स्तुति'** कहाती है। और शुभ गुणों के ग्रहण की ईश्वर से इच्छा और दोष छुड़ाने के लिये परमात्मा का सहाय चाहना, **'सगुणनिर्गुण-प्रार्थना'** कहाती है।

२३. **निर्गुणोपासना**—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग, वियोग, हलका भारी, अविद्या, जन्म, मरण और दुःख आदि गुणों से रहित परमात्मा को जानकर जो उसकी उपासना करनी है, उसको 'निर्गुणोपासना' कहते हैं।

सगुणोपासना—जिसको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, शुद्ध, नित्यआनन्द, सर्वव्यापक, एक सनातन, सर्वान्तर्यामी, मंगलमय, सर्वानन्द, सर्वपिता सब जगत् का रचनेवाला, न्यायकारी, दयालु आदि सत्यगुणों से युक्त जानके जो ईश्वर की उपासना करनी है, सो 'सगुणोपासना' कहाती है।

इस प्रकार 'ज्ञान बल क्रिया' आदि अपने स्वाभाविक गुणों से सहित

और जो 'अज्ञान जड़त्वादि' दूसरों के दोषों से रहित परमेश्वर को मानकर अपने आत्मा को उसके, और उसकी आज्ञा के अर्पण करदेना है, वह 'सगुणनिर्गुणोपासना' कहाती है।

२४. **मुक्ति**—अर्थात् जिससे सब बुरे काम और जन्ममरणादि दुःखसागर से छूटकर बन्धरहित हो, सर्वव्यापक सुखरूप परमेश्वर को प्राप्त होके सुख ही में रहना और उसकी सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना होता है, वह मुक्ति कहाती है। और नियत समय पर्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोग पुनः संसार में आना होता है।

२५. **मुक्ति का साधन**—अर्थात् जो पूर्वोक्त ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना अर्थात् योगाभ्यास का करना, धर्म का आचरण और पुण्य करना, सत्संग, विश्वास तीर्थ सेवन, सत्पुरुषों अर्थात् आप्तविद्वानों का संग, सत्यविद्या, सुविचार और पुरुषार्थ, परोपकारादि सब अच्छे कामों का करना तथा सब दुष्ट कर्मों से अलग रहना है, ये सब मुक्ति के साधन कहाते हैं।

२६. **बन्ध**—सनिमित्तिक, अर्थात् अविद्या-निमित्त से है। जो-जो पापकर्म ईश्वर-भिन्नोपासना अज्ञानादि रूप हैं, वे सब दुःखफल करनेवाले हैं। इसीलिए यह बन्ध है, कि जिसकी इच्छा नहीं, और भोगना पड़ता है।

२७. **कर्त्ता**—जो स्वतन्त्रता से कर्मों को करने वाला है अर्थात् जिसके स्वाधीन सब साधन होते हैं, वह कर्त्ता कहाता है।

२८. **कारण**—जिनको ग्रहण करके करने वाला किसी कार्य वा चीज को वना सकता है अर्थात् जिसके विना कोई चीज वन नहीं सकती, वह कारण कहाता है, सो तीन प्रकार का है।

I. **उपादान कारण**—जिसको ग्रहण करके ही उत्पन्न होवे वा कुछ बनाया जाय; जैसे कि मिट्टी से घड़ा बनता है, उसको उपादान कारण कहते हैं।

II. **निमित्त कारण**—जो वनाने वाला है; जैसे कुम्हार घड़े को बनाता है, इस प्रकार के पदार्थों को निमित्त कारण कहते हैं।

III. **साधारण कारण**—जैसे कि दण्ड आदि और दिशा आकाश तथा प्रकाश हैं; इनको साधारण कारण कहते हैं।

२९. **कार्य्य**—जो किसी पदार्थ के संयोग विशेष से स्थूल होके काम में आता है अर्थात् जो करने के योग्य है, वह उस कारण का कार्य्य कहाता है।

३०. **कर्म**—जो मन इन्द्रिय और शरीर में जीव चेष्टा विशेष करता है, वह कर्म कहाता है। शुभ अशुभ और मिश्रभेद से तीनप्रकार का है।

क्रियमाण—जो वर्तमान में किया जाता है, सो क्रियमाण कर्म कहाता है।

सञ्चित—जो क्रियमाण का संस्कार ज्ञान में जमा होता है, उसको सञ्चित कहते हैं।

प्रारब्ध—जो पूर्व किए हुए कर्मों के सुख-दुःख रूप फल का भोग किया जाता है, उसको प्रारब्ध कहते हैं।

३१. **पुरुषार्थ**—अर्थात् सर्वथा आलस्य छोड़ के उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिए मन, शरीर, वाणी और धन से जो अत्यन्त उद्योग करना है, उसको पुरुषार्थ कहते हैं।

पुरुषार्थ के भेद—जो अप्राप्त वस्तु की इच्छा करना, प्राप्त का अच्छे प्रकार रक्षण करना, रक्षित को बढ़ाना और बढ़े हुए पदार्थों का सत्यविद्या की उन्नति में तथा सबके हित करने में खर्च करना है; इन चार प्रकार के कर्मों को पुरुषार्थ कहते हैं।

यह, धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष चार प्रकार से सिद्ध होता है।

३२. **'पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा'**—इसलिए है कि जिससे संचित प्रारब्ध बनते, जिसके सुधरने से सब सुधरते, और जिसके बिगड़ने से सब बिगड़ते हैं। इसी से प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है।

३३. **जीव का स्वरूप**—जो चेतन अल्पज्ञ, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख ज्ञान गुण वाला तथा नित्य है, वह जीव कहाता है।

३४. **जीव और ईश्वर**—स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न और व्याप्य-व्यापक और साधर्म्य से अभिन्न है। अर्थात् जैसे आकाश से मूर्तिमान द्रव्य कभी भिन्न न था, न है न, होगा और न कभी एक था, न है न, होगा, इसी प्रकार परमेश्वर और जीव को व्याप्य-व्यापक, उपास्य-उपासक, और पिता-पुत्र आदि सम्बन्धयुक्त मानना योग्य है।

३५. **'स्वतन्त्र', 'परतन्त्र'**—जीव अपने कामों में स्वतन्त्र, और कर्मफल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र। वैसे ही ईश्वर अपने सत्याचार आदि काम करने में स्वतन्त्र हैं।

३६. **अनादि पदार्थ**—एक ईश्वर, द्वितीय जीव, तीसरा प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण। ये स्वरूप से अनादि हैं। इन्हीं को नित्य भी कहते हैं। जो नित्य पदार्थ हैं, उनके गुण, कर्म, स्वभाव भी नित्य होते हैं।

३७. **प्रवाह से अनादि**—जो संयोग से द्रव्य गुण कर्म उत्पन्न होते हैं, वे वियोग के पश्चात् नहीं रहते। परन्तु जिससे प्रथम संयोग होता है, वह सामर्थ्य उनमें अनादि है। और उससे पुनरपि संयोग होगा तथा

वियोग भी। ये तीनों 'प्रवाह से अनादि' हैं। अर्थात् जो कार्यजगत्, जीव के कर्म और इनका परस्पर संयोग वियोग है, ये भी तीन परम्परा से अनादि हैं।

३८. **अनादि का स्वरूप**—जो न कभी उत्पन्न हुआ हो, जिसका कारण कोई भी न होवे अर्थात् जो सदा से स्वयं सिद्ध हो, वह अनादि कहाता है।

३९. **स्वभाव**—जिस वस्तु का जो स्वाभाविक गुण है; जैसे कि अग्नि में रूप और दाह अर्थात् जबतक वह वस्तु रहे, तबतक उसका वह गुण भी नहीं छूटता; इसलिए इसको स्वभाव कहते हैं।

४०. **सृष्टि**—उसको कहते हैं-जो पृथक् द्रव्यों का 'ज्ञान-युक्तिपूर्वक मेल' होकर नाना रूप बनना। अर्थात् जो कर्त्ता की रचना से कारण द्रव्य किसी संयोग विशेष से अनेक प्रकार कार्यरूप होकर वर्त्तमान में व्यवहार करने योग्य होती है, वह सृष्टि कहाती है।

४५. **प्रलय**—जो कार्यजगत् का कारणरूप होना अर्थात् जगत् का करने वाला ईश्वर जिन-जिन कारणों से सृष्टि बनाता है कि अनेक कार्यों से रचके यथावत् पालन करके पुनः कारणरूप करके रखता है, उसका नाम प्रलय है।

४६. **सृष्टि का प्रयोजन**—यही है कि जिसमें ईश्वर के सृष्टि-निमित्त गुण कर्म स्वभाव का साफल्य होना। जैसे किसी ने किसी से पूछा कि—नेत्र किसलिए हैं? उसने कहा—देखने के लिए। वैसे ही सृष्टि करने के ईश्वर के सामार्थ्य की सफलता सृष्टि करने में है। और जीवों के कर्मों का यथावत् भोग कराना आदि भी।

४७. **सृष्टि सकर्तृक**—है, इसका कर्त्ता पूर्वोक्त ईश्वर है। क्योंकि सृष्टि की रचना देखने, और जड़ पदार्थ में अपने आप यथायोग्य बीजादि स्वरूप बनने का सामर्थ्य न होने से **'सृष्टि का कर्त्ता'** अवश्य है।

४८. **जाति**—जो जन्म से लेकर मरणपर्यन्त बनी रहे, जो अनेक व्यक्तियों में एकरूप से प्राप्त हो; जो ईश्वरकृत अर्थात् मनुष्य, गाय, अश्व और वृक्षादि समूह हैं, वे जाति शब्दार्थ से लिये जाते हैं।

४९. **मनुष्य**—अर्थात् जो विचार के बिना किसी काम को न करे, उसका नाम मनुष्य है। **मनुष्य** को सबसे यथायोग्य स्वात्मवत् सुख-दुःख हानि-लाभ में वर्त्तना श्रेष्ठ, अन्यथा वर्त्तना बुरा होता है।

५०. **आर्य्य**—जो श्रेष्ठ स्वभाव, धर्मात्मा, परोपकारी, सत्यविद्यादि गुण-युक्त और आर्य्यावर्त्त देश में सब दिन से रहने वाले हैं, उनको आर्य्य कहते हैं।

५१. **आर्य्यावर्त्त**—देश इस भूमि का नाम इसलिए है कि इसमें आदि सृष्टि से आर्य लोग निवास करते [आये] हैं। परन्तु इसकी अवधि उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पश्चिम में अटक सिन्धु नदी और पूर्व में ब्रह्मपुत्रा नदी है। इन चारों के बीच और जहां तक उनका विस्तार है, उसके मध्य में जितना प्रदेश है, उसको 'आर्य्यावर्त्त' कहते हैं और जो जन इसमें सदा रहते हैं, उनको भी 'आर्य' कहते हैं।

५२. **दस्यु**—अनार्य अर्थात् जो अनाड़ी आर्यों के स्वभाव और निवास से पृथक् डाकू, चोर, हिंसक जो कि दुष्ट मनुष्य है, वह दस्यु कहाता है।

५३. **वर्ण**—जो गुण और कर्मों के योग से ग्रहण किया जाता है, वह शब्दार्थ से लिया जाता है।

५४. **वर्ण के भेद**—जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादि हैं, वे वर्ण कहाते हैं।

५५. **आश्रम**—जिनमें अत्यन्त परिश्रम करके उत्तम गुणों का ग्रहण और श्रेष्ठ काम किये जायें, उनको आश्रम कहते हैं।

५६. **आश्रम के भेद**—जो सद्विद्यादि शुभ गुणों का ग्रहण तथा जितेन्द्रियता से आत्मा और शरीर के बल को बढ़ाने के लिए ब्रह्मचर्य, जो सन्तानोत्पत्ति और विद्यादि सब व्यवहारों को सिद्ध करने के लिये गृहाश्रम, जो विचार के लिए वानप्रस्थ और जो सर्वोपकार करने के लिये संन्यासाश्रम होता है, वे चार आश्रम कहाते हैं। वर्णाश्रम गुण-कर्मों की योग्यता से होते हैं।

५७. **संस्कार**—उसको कहते हैं कि जिससे शरीर मन और आत्मा उत्तम होवे। वह निषेकादि श्मशानान्त अर्थात् गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक सोलह प्रकार का है। और दाह के पश्चात् मृतक के लिये कुछ भी न करना चाहिये।

५८. **यज्ञ**—उसको कहते हैं कि जिसमें विद्वानों का सत्कार, यथायोग्य शिल्प व्यवहार अर्थात् रसायन जो कि पदार्थविद्या उससे उपयोग, और विद्यादि शुभ गुणों का दान, अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त जिनसे वायु वृष्टि जल ओषधि की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुंचाना होता है, उसको यज्ञ कहते हैं।

भाव यह कि "अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त यज्ञयाज्ञादि, विद्वानों का संग व सत्कार वा जो शिल्प व्यवहार और पदार्थविज्ञान की वृद्धि जगत् के उपकार के लिये की जाती है, उसे यज्ञ कहते हैं।"

ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और बलिवैश्वदेव यज्ञ ये पांच **महायज्ञ** कहाते हैं।

५९. **विवाह**—जो नियमपूर्वक प्रसिद्धि से अपनी इच्छा करके पाणिग्रहण करना, वह 'विवाह' कहाता है।

६०. **नियोग**—विवाह के पश्चात् पति [वा पत्नी] के मर जाने आदि वियोग में, अथवा नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों में, स्त्री वा पुरुष [का] आपत्काल में स्ववर्ण वा अपने से उत्तम वर्णस्थ स्त्री वा पुरुष के साथ सन्तानोत्पत्ति करना, 'नियोग, कहाता है।

६१. **परोपकार**—अर्थात् अपने सब सामर्थ्य से दूसरे प्राणियों के सुख होने के लिये जो तन, मन, धन से प्रयत्न करना है, वह परोपकार कहाता है। अथवा जिससे सब मनुष्यों के दुराचार दुःख छूटें, श्रेष्ठाचार और सुख बढ़ें, उसके करने को 'परोपकार' कहते हैं।

६२. **शिष्टाचार**—जो धर्माचरणपूर्वक ब्रह्मचर्य से विद्याग्रहण कर, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग करना है, यही 'शिष्टाचार' और जो इसको करता है, वह 'शिष्ट' कहाता है।

६३. **सदाचार**—जो सृष्टि से लेकर आज पर्य्यन्त सत्पुरुषों का वेदोक्त आचार चला आया है कि जिसमें सत्य का ही आचरण और असत्य का परित्याग किया है, उसको सदाचार कहते हैं।

६४. **विद्यापुस्तक**—जो ईश्वरोक्त सनातन सत्य विद्यामय चार वेद हैं और जिनसे सब मनुष्यों को सत्यासत्य का ज्ञान होता है, उनको विद्या-पुस्तक कहते हैं। इनके नाम ऋग्, यजुः, साम और अथर्व हैं।

चारों वेद—विद्या-धर्मयुक्त ईश्वर-प्रणीत संहिता मन्त्रभाग निर्भ्रान्त स्वतःप्रमाण हैं, वे स्वयं प्रमाणसूप हैं, कि जिनका प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं। जैसे सूर्य वा प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतःप्रकाशक, पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं, वैसे 'ऋग् यजुः, साम, अथर्व' नाम 'चारों वेद' हैं।

और चारों वेदों के ब्राह्मण, छः अङ्ग, छःउपाङ्ग, चार उपवेद, और ११२७ (ग्यारह सौ सत्ताईस) वेदों की शाखा, जो कि वेदों के व्याख्यानरूप ब्रह्मादि महर्षियों के बनाये ग्रन्थ हैं, उनको परतःप्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण, और जो इनमें वेदविरुद्ध वचन हैं, वे अप्रमाण हैं।

६५. **आचार्य**—उसको कहते हैं कि जो साङ्गोपाङ्ग वेदों के शब्द अर्थ



सम्बन्ध और क्रिया का जानने हारा, अतिप्रेम से सबको विद्या का दाता, सत्योपदेष्टा अर्थात् श्रेष्ठाचार और सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे, छल-कपट रहित, परोपकारी, तन मन धन से सबको सुख बढ़ाने में तत्पर, महाशय, पक्षपात किसी का न करे, सबका हितैषी, धर्मात्मा और जितेन्द्रिय होवे।

६६. **गुरु**—जो वीर्यदान से लेके भोजनादि कराके पालन करता है, इससे पिता [और जो गर्भ धारण से लेके दूध पिला चरित्र निर्माण करती है इससे माता] को गुरु कहते हैं और अपने सत्योपदेश से हृदय का अज्ञानरूपी अन्धकार मिटा, सत्य का का ग्रहण करावे और असत्य को छुड़ावे, उसको भी गुरु अर्थात् आचार्य्य कहते हैं।

६७. **शिष्य**—उसको कहते हैं कि जो सत्यशिक्षा और विद्या को ग्रहण करने योग्य धर्मात्मा, विद्याग्रहण की इच्छा और आचार्य का प्रिय करनेवाला है।

६८. **पुरोहित**—जो यजमान का हितकारी सत्योपदेष्टा होवे; शास्त्रोक्त विधिको पूर्णरीति से जाननेहारा, धर्माप्मा, कुलीन, निर्व्यसनी, सुशील वेदप्रिय पूजनीय सर्वोपकारी विद्वान् गृहस्थ को पुरोहित कहते हैं।

६९. **राजा**—उसी को कहते हैं, जो शुभ गुण कर्म स्वभाव से प्रकाशमान, पक्षपातरहित न्यायधर्म का सेवी, प्रजाओं में पितृवत् वर्त्ते, और उनको पुत्रवत् मानके उनकी उन्नति और सुख बढ़ाने में सदा यत्न किया करे।

७०. **प्रजा**—उसको कहते हैं कि जो पवित्र गुण कर्म स्वभाव को धारण करके, पक्षपात रहित न्यायधर्म के सेवन से राजा और प्रजा की उन्नति चाहती हुई राजविद्रोहरहित राजा के साथ पुत्रवत् वर्त्ते।

७१. **न्यायाधीश**—जो सदा विचारकर असत्य को छोड़ सत्य को ग्रहण करे, अन्यायकारियों का हटावे, और न्यायकारियों को बढ़ावे, अपने आत्मा के समान सबका सुख चाहे, सो **'न्यायकारी'**=न्यायाधीश कहाता है।

७३. **देव**—विद्वानों को, और अविद्वानों को **'असुर'**, पापियों को **'राक्षस'** और अनाचारियों को **'पिशाच'** कहते हैं।

७४. **देवों**—अर्थात् विद्वानों, माता-पिता, आचार्य, अतिथि, न्यायकारी, राजा और धर्मात्मा जन, पतिव्रता स्त्री और स्त्री व्रत पति का सत्कार करना **'देवपूजा'** कहाती है। इससे विपरीत **'अदेव-पूजा'** होती है। इनको मूर्तियों को पूज्य, और इतर पाषाणादि जड़मूर्तियों को सर्वथा अपूज्य समझना चाहिये।

७५. **अतिथि**—जिसकी आने और जाने में कोई भी निश्चित तिथि न हो तथा जो विद्वान् होकर सर्वत्र भ्रमण करके प्रश्नोत्तर के उपदेश से सब जीवों का उपकार करता है, उसको अतिथि कहते हैं।

७६. **पञ्चायतनपूजा**—जीते माता, पिता, आचार्य, अतिथि और परमेश्वर को जो यथायोग्य सत्कार करके प्रसन्न करना है, उसको पञ्चायतनपूजा कहते हैं।

७७. **पूजा**—जो ज्ञानादि गुणवाले का यथायोग्य सत्कार करना है, उसको पूजा कहते हैं।

अपूजा—जो ज्ञानादि रहित जड़ पदार्थ और जो सत्कार के योग्य नहीं हैं, उसका जो सत्कार करना है; वह अपूजा कहाती है।

७८. **जड़**—जो वस्तु ज्ञानादि से रहित है, उसको जड़ कहते हैं।

७९. **चेतन**—जो पदार्थ ज्ञानादि गुणों से युक्त है, उसको चेतन कहते हैं।

८०. **भावना**—जो जैसी चीज हो उसमें विचार से वैसा ही निश्चय करना कि जिसका विषय भ्रमरहित हो अर्थात् जैसे को वैसा ही समझ लेना, उसको भावना कहते हैं।

अभावना—जो भावना से उलटा हो अर्थात् जो मिथ्या ज्ञान से अन्य निश्चय मान लेना है; जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़ का निश्चय कर लेना है, उसको अभावना कहते हैं।

८१. **पण्डित**—जो सत् असत् को विवेक से जानने वाला धर्मात्मा, सत्यवादी सत्यप्रिय, विद्वान् और सबका हितकारी है, उसको पण्डित कहते हैं।

८२, **मूर्ख**—जो मनुष्य अज्ञान, दुराग्रहादि दोष सहित है, उसको मूर्ख कहते हैं।

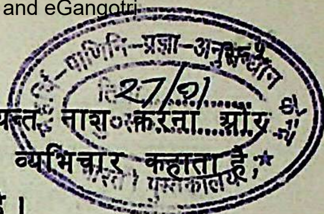
८३. **मायावी**—जो छल, कपट, स्वार्थ में ही प्रसन्नता, दम्भ, अहंकार, शठतादि दोष हैं और जो मनुष्य इनसे युक्त हो, वह मायावी कहाता है।

८४. **ज्येष्ठ-कनिष्ठव्यवहार**—जो बड़े और छोटों से यथायोग्य परस्पर मान्य करना है, उसको ज्येष्ठ कनिष्ठ व्यवहार कहते हैं।

८५. **सर्वहित**—जो तन, मन और धन से सबके सुख बढ़ाने में उद्योग करना है, उसको सर्वहित कहते हैं।

८६. **चोरीत्याग**—जो स्वामी की आज्ञा के बिना किसी के पदार्थ का ग्रहण करना है, वह चोरी और उसका छोड़ना चोरीत्याग कहाता है।

८७. **व्यभिचारत्याग**—जो अपनी स्त्री के बिना दूसरी स्त्री के साथ गमन करना और अपनी स्त्री को भी ऋतुकाल के बिना वीर्यदान देना



तथा अपनी स्त्री के साथ भी वीर्य का अत्यन्त नाश करना और युवावस्था के बिना विवाह करना है, यह व्यभिचार कहाता है; उसको छोड़ देने का नाम व्यभिचार-त्याग है।

८८. **आप्त**—जो छलादि दोषरहित, धर्मात्मा, विद्वान् यथार्थवक्ता, सत्योपदेष्टा, सब पर कृपादृष्टि से वर्त्तमान होकर अविद्यान्धकार का नाश करके अज्ञानी लोगों के आत्माओं में विद्यारूप सूर्य्य का प्रकाश सदा करे, उसको आप्त कहते हैं।

८९. **परीक्षा**—पांच प्रकार की है। इसमें से **प्रथम**—जो ईश्वर, उसके गुण, कर्म, स्वभाव, और वेदविद्या। **दूसरी** प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण। **तीसरी**—सृष्टिक्रम। **चौथी**—आप्तों का व्यवहार। और **पांचवीं**—अपने आत्मा की पवित्रता, विद्या। इन पांच परीक्षाओं से सत्याऽसत्य का ठीक-ठीक निर्णय करके सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग करना चाहिए।

९०. **आठ प्रमाण**—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव ये आठ प्रमाण हैं; इन्हीं से सब सत्यासत्य का यथावत् निश्चय मनुष्य कर सकता है।

९१. **लक्षण**—जिससे जाना जाय, जो कि उसका स्वाभाविक गुण है; जैसे कि रूप से अग्नि जाना जाता है, इसको लक्षण कहते हैं।

९२. **प्रमेय**—जो प्रमाण से जाना जाता है जैसे कि आंख का प्रमेय रूप अर्थ है जो कि इन्द्रियों से प्रतीत होता है, उसको प्रमेय कहते हैं।

९३. **प्रत्यक्ष**—जो प्रसिद्ध शब्दादि पदार्थों के साथ श्रोत्रादि इन्द्रिय और मन के निकट सम्बन्ध से ज्ञान होता है उसको प्रत्यक्ष कहते हैं।

९४. **अनुमान**—किसी पूर्व दृष्ट पदार्थ के एक अङ्ग को प्रत्यक्ष देख के पश्चात् उसके अदृष्ट अङ्गों का जिससे यथावत् ज्ञान होता है, उसको अनुमान कहते हैं।

९५. **उपमान**—जैसे किसी ने किसी से कहा कि गाय के तुल्य नील गाय होती है; ऐसे जो उपमा से सादृश्य ज्ञान होता है, उसे उपमान कहते हैं।

९६. **शब्द**—जो पूर्ण आप्त परमेश्वर और आप्त मनुष्य का उपदेश है, इसी को शब्दप्रमाण कहते हैं।

९७. **ऐतिह्य**—जो शब्द प्रमाण के अनुकूल हो; जो कि असम्भव और झूठ लेख न हो, उसी को ऐतिह्य (इतिहास) कहते हैं।

९८. **अर्थापत्ति**—जो एक बात के कहने से दूसरी विना कहे समझी जाय; उसको अर्थापत्ति कहते हैं।

९९. **सम्भव**—जो बात प्रमाण, युक्ति और सृष्टिक्रम से युक्त हो; वह

सम्भव कहाता है।

१००. **अभाव**—जैसे किसीने किसीसे कहा तू जल ले आ। उसने वहां देखा कि यहां जल नहीं है। परन्तु जहां जल है, वहां से ले आना चाहिये इस अभाव निमित्त से जो ज्ञान होता है, उसे अभाव प्रमाण कहते हैं।

१०१. **शास्त्र**—जो सत्य विद्याओं के प्रतिपादन से युक्त हो और जिसे करके मनुष्य को सत्य-सत्य शिक्षा हो, उसको शास्त्र कहते हैं।

१०२. **शिक्षा**—जिससे विद्या सभ्यता धर्मात्मता जितेन्द्रियतादि की बढ़ती होवे, और अविद्यादि दोष छूटें, उसको 'शिक्षा' कहते हैं।

१०३. **पुराण**—जो प्राचीन ऐतरेय शतपथ ब्राह्मणादि ब्रह्मादि ऋषि, मुनिकृत सत्यार्थ पुस्तक हैं, उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी कहते हैं। अन्य भागवतादि को नहीं।

१०४. **उपवेद**—जो आयुर्वेद, वैद्यकशास्त्र, जो धनुर्वेद शस्त्रास्त्रविद्या, राजधर्म जो गान्धर्ववेद गानशास्त्र, और अर्थवेद जो शिल्पशास्त्र हैं, इन चारों को उपवेद कहते हैं।

१०५. **वेदाङ्ग**—जो शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष आर्य सनातन शास्त्र हैं, इनको वेदाङ्ग कहते हैं।

१०६. **उपाङ्ग**—जो ऋषि मुनिकृत मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त छः शास्त्र हैं, इनको उपाङ्ग कहते हैं।

१०७. **आर्यसमाज**—[सं० ५० में निर्दिष्ट गुणकर्म स्वभाव से युक्त] आर्यों के संगठन को आर्यसमाज कहते हैं। संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् सबकी शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

१०८. **नमस्ते**—मैं तुम्हारा मान्य करता हूं। यह परस्पर अभिवादन का सर्वोत्तम प्रकार है।

ये संक्षेप से आर्यों के सिद्धान्त और उद्देश्य अर्थात् मन्तव्य व अमन्तव्य दिखला दिये हैं।…हमतो यही मानते हैं कि, जो-जो बात सबके माननीय है कि सत्यभाषण, अहिंसा दया आदि शुभगुण, ये सब मतों में अच्छे हैं। इनको प्रसन्न हो मानना चाहिये। और बाकी जो सबके सामने अमाननीय, व्यर्थ का वितण्डा वादविवाद, ईर्ष्या द्वेष मिथ्याभाषणादि कर्म है, वे सब मतों में बुरे हैं। इनको न मानना चाहिये।

और जो मतमतान्तर के परस्पर विरुद्ध झगड़े हैं, उनको भी कभी प्रसन्न=पसन्द नहीं करना। क्योंकि इन्हीं मत वालों ने अपने मतों का

प्रचार कर मनुष्यों को फंसाके परस्पर शत्रु वना दिये हैं।

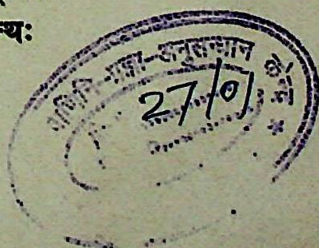
इस बात को काट, सर्वसत्य का प्रचार कर, सबको ऐक्यमत में करा, द्वेष छूड़ा, परस्पर में दृढ़ प्रीतियुक्त कराके, सबसे सबको सुखलाभ पहुंचाने के लिए ही ऋषि दयानन्द का प्रयत्न और अभिप्राय है।

परमात्मा सब मनुष्यों पर कृपा करे कि सबसे सब प्रीति, परस्पर मेल, और एक-दूसरे के सुख की उन्नति करने में प्रवृत्त हों। जैसे ऋषि दयानन्द ने अपना वा दूसरे मतमतान्तरों का दोष पक्षपातरहित होकर प्रकाशित किया है; इसी प्रकार यदि अन्य मतवाले सब विद्वान् लोग भी करें, तो क्या कठिनता है कि परस्पर का विरोध छूट, मेल होकर आनन्द में एकमत होके सत्य की प्राप्ति सिद्ध हो।

सर्वशक्तिमान् परमात्मा की कृपा सहाय, और आप्तजनों की सहानुभूति से 'ये सिद्धान्त सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त हो जावें।' जिससे सब लोग सहज से धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की सिद्धि करके सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें। **यही इस ग्रन्थ रचना का मुख्य प्रयोजन है।**

ओम् शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्य्यमा।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः॥
नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम् ऋतमवादिषं सत्यमवादिषम्।
तन्मामावीत् तद्वक्तारमावीद् आवीन्माम् अवीद्वक्तारम्॥
ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां परमविदुषां श्रीविरजा-नन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वती-स्वामिना विरचितेभ्यः सत्यार्थ प्रकाशादि नाना ग्रन्थेभ्यः संग्रह्य विद्यासागर विदुषा संकल्पितः सत्यार्थं सनातनधर्मं सिद्धान्तसमन्वितः सुप्रमाणयुक्तः सुभाषाविभूषितः सत्यार्थ-सरस्वतीनामाख्यं ग्रन्थः सम्पूर्तिमगमत्॥






27/91